केरली
साहित्य
दर्शन

कैरली साहित्य दर्शन

—मलयालम् साहित्य का परिचय—

आमुख

काकासाहेब कालेलकर

प्रशस्ति

का० माधव पणिक्कर

लेखिका

रत्नमयीदेवी दीक्षित एम० ए०

१९५६

सत्साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,

नई दिल्ली

मुद्रक

श्री गोपीनाथ सेठ

नवीन प्रेस, दिल्ली

केरल-साहित्य का परिचय लिखवाने के लिए जब कालीकटवासी श्री नागजी पुरुषोत्तम ने मुझे सहायता दी तब उन्होंने चाहा था कि यह ग्रंथ उनके स्वर्गीय बड़े भाई की स्मृति को अर्पित किया जाय।

लेकिन जब आज स्वयं श्री नागजी पुरुषोत्तम ही इस लोक में नहीं हैं तब मैं मानता हूँ कि इस ग्रंथ को उन्हीं की स्मृति को अर्पित करने में औचित्य है। इसलिए लेखक और प्रकाशक दोनों की अनुमति से यह ग्रंथ

स्वर्गस्थ श्री नागजी पुरुषोत्तम

की

स्मृति को समर्पित करता हूँ

—*काका कालेलकर*

प्रकाशकीय

भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर आज भी हमारा बहुत-सा साहित्य अज्ञात और उपेक्षित पड़ा हुआ है। वह साहित्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके प्रकाशन से न केवल भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि होगी, अपितु हमारे महान् राष्ट्र का गौरव भी बढ़ेगा।

दक्षिण की भाषाओं में कितना समृद्ध साहित्य है, इसकी पूरी जानकारी पाठकों को नहीं है। तमिल का कुछ साहित्य प्रकाश में आया है; लेकिन वहाँ की अन्य भाषाओं का पर्याप्त साहित्य अब भी अन्धकार में पड़ा हुआ है।

हमें हर्ष है कि इस पुस्तक द्वारा मलयालम् भाषा के साहित्य का परिचय पाठकों को मिल रहा है। इसकी लेखिका की मातृभाषा मलयालम् है और उन्होंने उसके साहित्य का विशद अध्ययन किया है। उनके पति हिन्दी के लेखक हैं। दोनों के प्रयास से यह पुस्तक प्रामाणिक बनने के साथ-साथ सुपाठ्य भी बन गई है।

पुस्तक कितने परिश्रम से लिखी गई है और उसकी सामग्री कितनी उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक है, इसका अनुमान पुस्तक पढ़कर पाठक स्वयं करेंगे। हम तो केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इस पुस्तक द्वारा लेखिका ने हिन्दी-साहित्य को एक मूल्यवान देन दी है और इस प्रकार वे हिन्दी-जगत के आदर की भाजन बन गई हैं।

जैसा कि पूज्य काकासाहेब ने अपने 'आमुख' में संकेत किया है, भारतीय भाषाओं के उस चुने हुए साहित्य का परिचय प्रकाशित करने का प्रयत्न होना चाहिए, जिससे अधिकांश पाठक आज भी अनभिज्ञ हैं। इस दिशा में हमसे जो कुछ हो सकेगा, अवश्य करने का प्रयत्न करेंगे।

हमें विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक को पाठक चाव से पढ़ेंगे और उसे अधिक-से-अधिक हाथों में पहुँचाने में योग देंगे। —मन्त्री

केरल का मंगल-घट

भारतभूमि की आकृति का ध्यान करते एक ख़याल मन में आया कि यह प्रकृति का बनाया हुआ एक तांत्रिक त्रिकोण है। धूप, दीप और नैवेद्य से नहीं, लेकिन भक्तिमय सेवा से अगर हम त्रिकोण की पूजा करें तो आद्याशक्ति-रूपिणी भारतमाता हम पर प्रसन्न होगी और भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक—सब तरह का वरदान हमें प्रदान करेगी। इस चिन्तन के फलस्वरूप, सेवा के अनेक क्षेत्रों का विचार करते, भारतीय साहित्य अथवा सारस्वत की सेवा प्रथम ध्यान में आई और विचार हुआ कि जो देवी वाणीरूप से भारत में प्रकट हुई है उसकी सब विभूतियाँ हमारी भक्ति के विषय हो सकती हैं। इसलिए भारत की सब भाषाओं का—केवल प्रधान ही नहीं, किन्तु छोटी-बड़ी सब भाषाओं का—अध्ययन और संवर्धन करना हमारा पवित्र कर्तव्य है। इनमें भी जो प्रधान भाषाएँ हैं, जिनका साहित्य-सौरभ दिग्-दिगंत तक पहुँच गया है, उनकी सेवा अगर देरी से हुई तो कोई हर्ज नहीं; लेकिन जो भाषाएँ छोटी हैं, उपेक्षित हैं या दूरस्थित हैं, उनका परिचय हमें प्रथम करना चाहिए। प्रेम-भक्ति का लक्षण ही यह होना चाहिए कि जो दूर हैं उनको हम निकट खींच लें, जो विस्तृत हैं उनका विशेष स्मरण करें और जो उपेक्षित हैं उन्हें अधिक पोषण दें। गांधीजी ने जिस सर्वोदय का आदर्श देश के सामने रखा उसका उन्हीं के एक अच्छे साथी ने अर्थ किया है—"अन्त्योदय"। सभी का उदय हो, यह तो सही है, लेकिन प्रत्यक्ष सेवा में तारतम्य सोचना पड़ता है। तब जो अन्त्य हैं, उपेक्षित हैं, विस्मृत हैं, उनके उदय से सर्वोदय का प्रारम्भ होना चाहिए। सर्वोदय को मानने वालों का यह कुल-व्रत होना चाहिए कि जो दूर हैं उनको हम अपने हृदय में निकट के बनावें।

इसी ख़याल से मैंने राष्ट्रभाषा का प्रचार करते हुए सबसे पहले

असम प्रदेश की ओर ध्यान दिया। उसका प्राचीन नाम था कामरूप या प्राग्-ज्योतिष। वहाँ मैंने देखा कि लोग सज्जन हैं, बुद्धिमान हैं, कला-रसिक भी हैं; लेकिन दूर, एक कोने में होने के कारण भारतीयों का ध्यान उनकी ओर कम गया है। मैंने यह भी देखा कि असमिया भाषा की साहित्य-शक्ति बंगला भाषा से तनिक भी कम नहीं है। भाषा अच्छी, संस्कारी सम्पन्न, लचीली और विपुलार्थवाही है। लेकिन जो अवसर बंगला भाषा को मिला वह असमिया को नहीं मिला। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगला भाषा को तो प्रोत्साहन दिया, किन्तु असमिया की अवहेलना की। वह उसका अस्तित्व ही मंजूर करने को तैयार नहीं थी।

मैंने सोचा कि अगर हिन्दी में असमिया का प्राथमिक इतिहास दिया जाय तो लोग कम-से-कम शंकरदेव और माधवदेव के साहित्य का नाम तो सुनेंगे और उसके बाद वहां के 'बरगीत' और 'बनगीत' का परिचय भी पायेंगे। इतिहास-संशोधक अहोम राजाओं की 'बुरंजी' पढ़ेंगे और इस तरह असमिया साहित्य का सारे भारत को परिचय होगा। फलत: असमिया साहित्य का परिचय कराने वाला एक छोटा-सा ग्रंथ हमने प्रकाशित करवाया। तब से हिन्दी जाननेवाले लोगों का ध्यान उस सुन्दर भाषा की ओर गया और अब असमिया लघुकथाओं के नमूने हिन्दी में आने लगे हैं।

जब मैडम सोफिया वाडिया ने भारतीय भाषाओं के छोटे-छोटे इतिहास प्रकाशित करने का अपना संकल्प मेरे सामने प्रकट किया तब मैंने उनसे कहा कि आरंभ तो असम से ही कीजिए—इसलिए नहीं कि वर्णानुक्रम में उसका स्थान पहला है, वरन् इसलिए कि दूर होने के कारण हमने उसकी आजतक उपेक्षा की है। उन्होंने मेरी बात मान ली। मैंने वह काम डाक्टर वाणीकान्त काकती को दिया। उन्होंने बिरिंचिकुमार बरुआ को सौंप दिया और वह इतिहास पी० ई० एन०-सीरीज में प्रकाशित हुआ। दूसरे एक असमिया विद्वान् डिबेश्वर नियोग ने भी ऐसी ही एक पुस्तक तैयार की, जो मेरे बम्बई के मित्र श्री नानू-

भाई वोरा ने प्रकाशित की।

कामरूप के बाद केरल की ओर ध्यान गया, क्योंकि वह भारतीय त्रिकोण का दूसरा सिरा है। केरल के कई हिन्दी-प्रचारकों से मैंने केरलीय साहित्य का इतिहास माँगा, लेकिन वह काम किसी से नहीं हुआ। बाद में जब केरल से श्रीमती रत्नमयीदेवी वर्धा आईं और उन्होंने हिन्दी भाषा पर धीरे-धीरे प्रभुत्त्व पा लिया तब मैंने उनसे प्रार्थना की कि इस तरह का केरलीय साहित्य का परिचय देने वाला एक ग्रन्थ हिन्दी में मुझे दीजिए। उनके स्वभाव में सेवाभाव का अतिरेक होने के कारण अपनी शक्ति से अधिक बोझा वे अपने सिर पर ले लेती हैं। मैं इस बात की शिकायत भी करता रहा और केरल साहित्य का इतिहास भी माँगता रहा।

जब मैं एक-दो बार दक्षिण में कालीकट गया, उस समय वहाँ के उद्योगपति और दानवीर श्री नागजी पुरुषोत्तम से मेरा परिचय हुआ था। मैंने उनसे कहा कि "आप हैं तो गुजरात के, लेकिन बसे हैं केरल में। आपकी आमदनी केरल की भूमि और केरल के पुत्रों के सहयोग से आपको होती है। इसलिए आपको यहाँ के लोगों की सेवा अधिक करनी चाहिए।" उन्होंने मेरी बात मानकर केरलीय साहित्य का इतिहास लिखवाने में मुझे मदद देने का वचन दिया। कालीकट में किये हुए संकल्प का उदयकाल इतने बरसों के बाद आया है और केरलीय साहित्य का अच्छी तरह से लिखा हुआ एक रोचक इतिहास हिन्दी-जगत् के सामने अब रख रहा हूँ। इस सन्तोष में खामी इतनी ही है कि श्री नागजी पुरुषोत्तम इसे देखने के लिए आज जीवित नहीं हैं।

भारतीय त्रिकोण का तीसरा सिरा है काश्मीर। उसकी भाषा का साहित्य भी हिन्दी में तैयार करवाना है। जिस काश्मीर ने क्षेमेन्द्र जैसे संस्कृत महाकवि दिये, 'राजतरंगिणी' जैसा एकमात्र भारतीय इतिहास-ग्रन्थ दिया और जवाहरलालजी जैसे भारत-रत्न और विश्व-सेवक दिये, उस काश्मीर की लोकभाषा का इतिहास सारे भारत को

मिलना ही चाहिए। अब देखना है, इस संकल्प की पूर्ति कब होती है।

संस्कृत कवियों ने कब का कह रखा है कि "मनोरथानाम् अगतिर् न विद्यते"—कामरूप, केरल और काश्मीर इन तीन सिरों के साहित्य का परिचय पाकर मनोरथ अटकने वाले थोड़े ही हैं ! अटक के इर्द-गिर्द जो पुश्तू भाषा बोली जाती है उसका भी इतिहास हमें चाहिए। पंजाबी तो हिन्दी की एक शाखा ही है। उसके इतिहास-ग्रन्थ गुरुमुखी और अंग्रेजी में पाये जाते हैं। हिन्दी में भी अवश्य ही कोई-न-कोई दे ही देगा। लेकिन हिन्दी का सबसे बड़ा क्षेत्र है राजस्थान। कवियों ने ब्रजभाषा का महत्व सदैव ही मान्य किया है—ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा सदा के लिए कायम रहे ! सूरदास आदि महाकवियों की अमर कृतियाँ हिन्दी का गौरव हैं ही। उधर, अवधी को भी गोस्वामी तुलसीदास ने जो महत्व दे रखा है उसे कौन छीन सकता है ? परन्तु राजस्थानी का साहित्य गुण और संख्या में तनिक भी कम नहीं है। राजस्थान में अंग्रेजों का राज्य नहीं पहुँचा, इसलिए वहाँ आधुनिक जागृति भी नहीं पहुँची। ऐसा छापाखाना भी नहीं पहुँचा, जो राजस्थानी साहित्य को सुलभ करता। और उसके पुरुषार्थी लोग धन कमाने के लिए दूर-दूर पहुँच गये। इसलिए राजस्थानी साहित्य की बहुत उपेक्षा हुई है। उस साहित्य का मुद्रण और अध्ययन अब होना चाहिए।

इसी तरह भारत की उपेक्षित भाषाओं की सुन्दरता, समृद्धि और लोक-हृदय को आर्द्र करने की उनकी शक्ति देश के सामने प्रथम प्रकट होनी चाहिए।

एक शुभ संकल्प का इस तरह से उद्देश्य-संकीर्तन रूपी मंगलाचरण करने के बाद केरल के लोगों और उनके साहित्य का कुछ चिन्तन करें।

केरल देश की राजनीतिक व्याप्ति हमेशा बदलती आई है। भौगोलिक व्याप्ति में भी परिवर्तन हुए हैं। सीमाएँ कभी बढ़ीं तो कभी घटीं भी। अगर सागर ने पीछे हट कर हमें कोंकण का प्रदेश दिया, दक्षिण बंगाल का समतल प्रदेश दिया, तो केरल का कुछ हिस्सा ले भी लिया।

सागर की इस लीला के बारे में हम क्या कह सकते हैं ? "भगवान् ने दिया, भगवान् ने ले लिया। उसी की जय हो (The Lord gave, the Lord took it away. Blessed be the name of the Lord)!" केरल की संस्कृति की अनेक खूबियाँ हैं। वहां के लोग प्राणवान हैं। स्त्री-प्राधान्य होने पर भी वहां की प्रजा पुरुषार्थी है। आज भारत का राज्य चलाने में केरलीयों का हिस्सा लोक-संख्या के अनुपात से कहीं अधिक है, और यह स्थान उन्होंने केवल अपनी बुद्धि-शक्ति, उद्यमशीलता और असाधारण निष्ठा से ही प्राप्त किया है।

आर्य-संस्कृति अपनी संस्कृत भाषा लेकर पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ी। बढ़ते-बढ़ते कुछ थक-सी गई और उसके साथ-साथ मंगोलियन तथा द्राविड़ी संस्कृति का मिलान भी हुआ। लेकिन जब संस्कृत भाषा केरल में पहुँची तो उसे बहुत ही अनुकूल क्षेत्र मिला। केरल की जनता ने संस्कृत को ऐसे उत्साह से अपनाया और उसकी ऐसी अच्छी सेवा की कि आखिरकार श्री शंकराचार्य के द्वारा उसने आर्य-संस्कृति का गुरुपद ही अपने हाथ में ले लिया और अपनी शुद्ध द्राविड़ भाषा के साथ संस्कृत का ऐसा मिलान किया कि आज केरलीय भाषा में संस्कृत का जितना प्रमाण पाया जाता है उतना उत्तर की आर्य-कुल की भाषाओं में भी नहीं पाया जाता !

दक्षिण में ये समुद्र-तटवासी लोग समुद्र के उदर से मोती भी निकालते हैं और प्रवाल भी निकालते हैं। सफेद चमकीले मोती (और गोलकुण्डा के हीरे) और सागर के वन-वृक्षों से पाये हुए आरक्त प्रवाल एकत्र करके जब ये लोग उनके हार बनाते हैं तब उनकी शोभा के लिए एक नया ही 'मणि-प्रवाल' नाम देना पड़ा। केरलीय साहित्य का प्रधान लक्षण इस 'मणि-प्रवाल' शैली से ही व्यक्त हो सकता है।

प्रजा का पुरुषार्थ, उसकी समाज-रचना, भाषा और लिपि के स्वरूप, हर दृष्टि से देखा जाय तो आर्य-संस्कृति तथा दक्षिण की द्राविड़ी संस्कृति में उत्तर-दक्षिण के जितना ही भेद है। ऐसे भेद में समन्वय के

द्वारा अभेद की स्थापना करने की शक्ति जिन लोगों ने दिखाई, उनके विकास और भाग्योदय के लिए कोई भी मर्यादा हो नहीं सकती। शुद्ध अद्वैत और निष्काम भक्ति का समन्वय जिन्होंने किया, संस्कृत और द्राविड़ी भाषा का मिश्र साहित्य-हार जो बना सके, उन्हींके द्वारा समन्वय के युगधर्म का प्रचार बन सकता है।

केरल की भूमि में पृथ्वी और समुद्र की क्रीड़ा अखंड देखने को मिलती है। उस भूमि ने समुद्र का एक बड़ा खण्ड बन्दी कर रखा है। अथवा समुद्र कह सकता है कि उसने एक अच्छा सुदीर्घ भूमि-खण्ड अपने कब्जे में ले लिया है। और खारी हवा में ही पनपने वाले और सुफलित होनेवाले नारियल तथा सुपारी के वृक्ष तो केरल का बड़ा धन हैं। शायद इस खारी हवा के ही कारण वहाँ के लोग सादगी में विश्वास करते हैं और स्नानानन्द में रममाण होते हैं।

इस साहित्य-दर्शन में रत्नमयीदेवी कहती हैं कि केरल के साहित्यिक प्राय: परिश्रम-विमुख और आरामतलब होते हैं। यदि यह बात सही है तो मैं इतना ही कहूँगा कि प्रकृति और संस्कृति दोनों ने जिनका जीवन-संग्राम आसान कर दिया और भगवान ने जिन्हें बुद्धि का खजाना दे दिया, वे अधिक परिश्रम क्यों करें? ओढ़ने के लिए गर्म कपड़े नहीं चाहिए, मिट्टी की जमीन पर सोने में तकलीफ़ नहीं होती, चावल, नारियल, केले और मछली से जिनका आहार सम्पन्न होता है, ठंड के साथ लड़ने के लिए जिनको घी, मक्खन और मांस अधिक मात्रा में नहीं खाना पड़ता, ऐसे लोगों का जीवन-कलह बिलकुल आसान हो जाता है। और फिर दिमाग काव्य-शास्त्र विनोद में आनन्द लेता है। इस रसिकता का प्रभाव अगर केरल साहित्य पर पड़ा हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

तिसपर संस्कृत जैसे समृद्ध साहित्य को उन्होंने अपनाया। 'रामायण', 'महाभारत' और 'भागवत' जैसे समृद्ध साहित्य का खजाना मिलने पर केरलीय साहित्यिक अभिरुचि क्योंकर कंजूस हो? उसमें भी द्वैत,

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की जीवनव्यापी चर्चा करने की आदत, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय की समृद्धि और श्री शंकराचार्य की चलाई हुई सर्वसमन्वयकारी पंचायतन-पूजा ! फिर तो पूछना ही क्या है ?

जो लोग समन्वय-वृत्ति से विविधता की उपासना करते हैं उन्हें कदम-कदम पर संघर्ष को समझकर उसे दूर करने की तरकीबें ढूंढ़नी पड़ती हैं। उनमें नर्मरसिकता और विनोद-वृत्ति आ ही जाती है। उच्च भूमिका पर आरूढ़ हुए बिना संघर्ष दूर नहीं हो सकता। साथ-साथ 'ततः किं ततः किं' वाली निःसारवादी विषाद की भूमिका धारण किये बिना चलता ही नहीं। मेरी कल्पना है कि ये सारे तत्त्व केरल-साहित्य में आ ही गये होंगे।

हमारी संस्कृति की एक विचित्र खूबी है। पश्चिम के लोग हर बात में अपनी मौलिकता आगे करने के प्रयास में कभी थकते नहीं हैं। यहाँ, हम लोग पुराने कवियों के काव्यों का अनुवाद करते, पुराने आख्यान नये ढंग से कहते और बिलकुल अद्यतन नये-नये अनुभवों को भी व्यक्त करते, पुरानी चीज़ों का आलम्बन करना ही पसन्द करते हैं। भारत की अनेक भाषाओं का साहित्य देखते हुए मैंने इतना तो पाया कि रामायण-महाभारत का एक भी अनुवाद केवल तर्जुमा नहीं है। इन महाकाव्यों का उपजीवन करते हुए हर एक कवि अपनी सारी-की-सारी जीवनानुभूति और अपना सांस्कृतिक संस्करण व्यक्त कर देता है। शेक्सपियर और टेनिसन ने पुरानी बातों को नवीनता दी। इसपर पश्चिम के लोग नाज़ करते हैं। हमारे यहाँ करीब-करीब हरएक कवि ने अपने अनुवाद के द्वारा अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ही व्यक्त की हो, इतना ही नहीं, सांस्कृतिक आदर्शों में भी नये-नये और अभूत-पूर्व शिखर खड़े किये हैं।

भारत की अनेक भाषाओं के साहित्य का आस्वादन करते और साहित्य का इतिहास पढ़ते एक विशेषता पाई जाती है कि इन सब प्रान्तों की भाषाओं का और उनके साहित्य का विकास एक ही ढंग से

और एक ही कारणों से होता आया है। जब द्राविड़ों ने भक्तिपंथ की महिमा गाई तब उस भक्तिप्रधान संस्कृति की बाढ़ सारे भारत में हिमालय तक पहुँच गई। और भारत के सब साहित्यों का भक्तिकाल एक ही समय का है। कर्मकांडी संस्कृति, तर्कपटु दर्शनों की संस्कृति, अतीन्द्रिय अनुभूति की बुनियाद पर खड़ी हुई वेदान्त-संस्कृति, तान्त्रिकों की शक्त्युपासना, वैष्णवों का भागवत धर्म, शैवों की शाक्त-धर्म-मिश्रित शिवोपासना, साधु-सन्तों का सदाचार-प्रचार और उनकी समाधान-परायण संस्कृति, अंग्रेजी युग का पुरुषार्थ और इहलोक-परायणता—सब-के-सब प्रभाव सब भाषाओं पर एक से पाये जाते हैं और निश्चय होता है कि वंश-विभिन्नता, जाति-भेद, धर्म-वैचित्र्य, भाषाभेद, आदि अनेक भेदों की विपुलता होते हुए भी भारतीय संस्कृति तो एक ही है। भारतीय जनता का हृदय-विकास तो एक-सा हुआ है। गुण-दोषों का आविष्कार भी एक-सा हुआ है। विषय-सेवन तथा वैराग्य-सेवन—दोनों में सभों ने एक-सा पुरुषार्थ करके देखा है।

तो भी केरल की एक विशेषता ध्यान में आये बिना नहीं रहती। वह है स्त्री-स्वातन्त्र्य। उषा-अनिरुद्ध की प्रणय-भूमि में स्त्री-स्वातन्त्र्य का विकास हुआ तो सही, चित्रांगदा उस स्वातन्त्र्य की प्रतीक है। उसी तरह केरल में भी स्त्री-स्वातन्त्र्य के कारण ही पैतृक सम्पत्ति पुत्र को न मिलकर भगिनी की संतति को मिलने की प्रथा पाई जाती है। ऐसे देश में जाकर ब्राह्मणों ने आर्य-संस्कृति का प्रचार किया और केरलीय समाज-व्यवस्था के साथ समझौता करके एक नई ही संस्कृति भारत की विभिन्नता में दाखिल की। इसका प्रभाव आगे चलकर बहुत-कुछ होनेवाला है, जिसकी आज हमारे लिए कल्पना तक करना कठिन है।

दक्षिण की चार भाषाओं की एक अपनी निजी शैली होती है। पर-सवर्ण संधि के कारण उनमें एक प्रकार का खास माधुर्य आया है। समासों का अतिरेक करके संस्कृत ने जो स्वाभाविकता खोई उससे चेतकर उत्तर की भाषाओं ने बड़े-बड़े समासों का त्याग ही कर दिया।

दक्षिण की भाषाओं ने समास-प्रचुर शैली का हिम्मतपूर्वक प्रयोग करके आजमा लिया है कि समास कहाँ तक ला सकते हैं और कहाँ उनकी शक्ति कुंठित होती है। दक्षिण की कविताओं में समासों का प्रयोग योग्य प्रमाण में होने से और उनके अन्त में देशी शब्द आने से शैली का ओजोगुण अपनी पूरी शक्ति प्रकट कर सका है। आधुनिक युग में गद्य की प्रधानता होने पर समास कम हो गये और भाषा में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य भी घट गया। लेकिन तद्भव शब्द तो बिलकुल देशज जैसे बन जाते हैं और संस्कार तथा स्वाभाविकता दोनों की शक्ति से लाभ उठाते हैं।

केरल-साहित्य के इस परिचय-ग्रंथ में हरएक युग की विशेषता और विचार का विकास तो बताया ही गया है, लेकिन विशेष लाभ यह है कि पृष्ठों की मर्यादा के अन्दर रहकर उस-उस युग के साहित्य के प्रातिनिधिक नमूने, उच्च अभिरुचि और विवेक के साथ दिये गए हैं। फलतः हम उस साहित्य के बारे में ही नहीं जानते, बल्कि उस साहित्य का थोड़ा-बहुत आस्वाद पाकर सन्तोष भी पाते हैं। भारत की भाषाएँ संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं, इस कारण, और वे सब एक ही देश तथा एक ही संस्कृति का आविष्कार होने के कारण भी, किसी भी भारतीय भाषा का आस्वाद हिन्दी के द्वारा लेना कठिन नहीं है। शर्त यही है कि अनुवादक का दोनों भाषाओं के स्वभाव और शैली के साथ अच्छा परिचय होना चाहिए। मुझे कहते संतोष और हर्ष है कि केरल-साहित्य के जो नमूने यहाँ हिन्दी में पेश किये गए हैं उनमें केरलीय शैली की खुशबू कायम रखी गई है और हिन्दी शैली की स्वाभाविकता पर तनिक भी आक्रमण नहीं हुआ है। इस करामात में श्री सीताचरण दीक्षितजी का कितना हाथ है, यह देखना हमारा काम नहीं। भारतीय लग्न का आदर्श ही अभेद को दृढ़ करना है। रत्नमयीदेवी की जन्म-भाषा केरलीय होने के उपरान्त उन्होंने उस भाषा की और संस्कृत की भी सर्वोच्च उपाधि पाई है और सीताचरणजी तो हिन्दी के

सिद्धहस्त लेखक हैं ही। हम तो दोनों का एकसाथ अभिनन्दन करके ही सन्तोष मानेंगे।

इस तरह केरलीय साहित्य का सुभग दर्शन कराकर ये दीक्षित-दम्पती सन्तोष नहीं मान सकते, न उनके पाठकों और हिन्दी जगत् को ही इतने से सन्तोष मानना चाहिए। जिस साहित्य का इतना सन्तोषप्रद परिचय उन्होंने कराया, उसके समर्थ लेखकों की उत्कृष्ट कृतियों का परिचय कराने का कर्तव्य भी उन्होंने अपने शिर ले लिया है। 'गुणानां एव दौरात्म्यात् धुरि धुर्यो नियुज्यते।' कम-से-कम एडुत्तच्छन्, कुंचन् नम्पियार, कुमारन् आशान्, सी० वी० रामन्पिल्लै आदि का परिचय तो हिन्दी के द्वारा केवल हिन्दी-जगत् को ही नहीं, सारे भारत को करा देना चाहिए। हिन्दी का प्रचार करते सारे भारत को मैं आश्वासन देता आया कि हिन्दी सीखने से आपको भारत की सब भाषाओं के साहित्य का परिचय यथासमय हो जायगा। सागर में जिस तरह सर्व तीर्थ पाये जाते हैं, उसी तरह हिन्दी में भारत की सब भाषाएँ अपने-अपने साहित्य का कर-भार ला देंगी और इस तरह भारत की सब भाषाओं के तेज से हिन्दी कल्पनातीत समृद्ध होगी। जिस तरह सब देवों ने अपनी-अपनी शक्ति प्रदान करके महा-माया को सर्वशक्ति स्वरूपिणी बना दिया, और कार्तिक स्वामी को देवों का सेनानी बना दिया, उसी तरह हमें अब हिन्दी को भारतीय संस्कृति की समर्थ प्रतिनिधि बनाना है। 'केरली साहित्य-दर्शन' इस कर-भार का एक मंगल प्रारम्भ है। इसी रूप में हिन्दी जगत् इसका प्रसन्न स्वागत करे!

सचमुच श्रीमती रत्नमयीदेवी ने भारतलक्ष्मी के पुण्य अभिषेक के लिए केरलीय जीवन का यह एक मंगल-घट प्रस्तुत किया है।

नई दिल्ली
विजयादशमी, २०१३ वि०
१४ अक्तूबर, १९५६

—काका कालेलकर

प्रशस्ति

हिन्दी पाठकों को 'कैरली साहित्य-दर्शन' का परिचय कराते हुए मुझे हर्ष होता है। इसकी लेखिका श्रीमती रत्नमयीदेवी दीक्षित मलयालम् और हिन्दी दोनों भाषाओं के साहित्य की विदुषी हैं और वे अपनी स्वेच्छा-स्वीकृत भाषा के पाठकों को अपनी मातृभाषा के साहित्य का परिचय देने के लिए सर्वथा योग्य हैं।

मलयालम्, यद्यपि उसके बोलने वालों की संख्या केवल एक करोड़ चालीस लाख ही है, भारत की एक सर्वाधिक समृद्ध और विकसित भाषा है। उसकी परंपरा लगभग एक हजार वर्ष से अखंड है और इसके बहुत पहले, ईसा की चौथी शताब्दी में ही, उसने दक्षिण की भाषाओं में अपना स्थान महत्वपूर्ण बना लिया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में रचित संस्कृत ग्रन्थ 'लीलातिलकम्' को देखने से मलयालम् साहित्य और भाषा की प्राचीनता का स्पष्ट बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में मलयालम् की 'मणि-प्रवाल' शैली का विवेचन किया गया है। इसके पहले की भी कुछ कृतियाँ पुराने ग्रन्थालयों से खोजकर प्रकाशित की गई हैं। वे तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों की हैं। उनसे मालूम होता है कि मलयालम् कम-से-कम दसवीं शताब्दी में तो संस्कृत के प्रचुर सम्मिश्रण से एक श्रीसम्पन्न और समर्थ भाषा बन ही चुकी थी।

मलयालम् का मध्यकालीन साहित्य मुख्यत: संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद और अनुकरणों के रूप में विकसित हुआ। यह एक महत्व की बात है कि 'भगवद्गीता' के जो अनुवाद अन्य भाषाओं में हुए उनमें मलयालम् अनुवाद शायद पहला था। यह अनुवाद पन्द्रहवीं शताब्दी में निरणं माधव पणिक्कर ने किया था। परन्तु इस काल में रामायण, महाभारत और पुराणों के जो सुन्दर अनुवाद हुए, उनके अतिरिक्त संस्कृत के अनुक-

रण के रूप में प्रचुर मात्रा में चम्पू-काव्यों की भी रचना की गई। केरल की विशेष कला 'कथकलि' के साहित्य का विकास भी इसी काल में हुआ। अठारहवीं शताब्दी में एक प्रकार की लौकिक और लोकप्रिय काव्य-शैली की उत्पत्ति हुई, जिसका सम्बन्ध अधिकांशतः 'ओट्टम् तुल्लल' के साथ था। गद्य-साहित्य मुख्यतः वैज्ञानिक विषयों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार की एक उल्लेखनीय कृति कौटिल्य के अर्थशास्त्र की मीमांसा है। यह पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी गई थी।

जब इतनी समृद्ध परम्परा मौजूद थी तो क्या आश्चर्य कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से जो साहित्यिक पुनर्जागृति हुई उसका मलयालम् ने पूर्ण लाभ उठाया? विगत सौ वर्षों में मलयालम् साहित्य के प्रायः प्रत्येक विभाग में जो प्रगति हुई है, वह बहुत व्यापक है।

दक्षिण भारत के साहित्य और संस्कृति का परिचय उत्तर भारत के लोगों को लगभग नहीं-सा है। यह खेदजनक सत्य एक अखंड राष्ट्र की दृष्टि से हमारे लिए श्रेयास्पद नहीं है। हमारे देश की सर्वमान्य संस्कृति अनेकानेक सुविकसित भाषाओं से समृद्ध और विविधतामय बनी है। अतएव हमारी राष्ट्रीय एकता की वृद्धि तभी होगी जब हम एक-दूसरे के अंशदान को समझेंगे। विशेष रूप से इस समय, जबकि हिन्दी को राज्यभाषा के पद पर आसीन कर दिया गया है, हिन्दीभाषी जनता के लिए और भी आवश्यक है कि वह अन्य प्रदेशों के सांस्कृतिक कार्यों को समझने और उनकी सराहना करने को आगे बढ़े।

मैंने श्रीमती रत्नमयीदेवी की यह पुस्तक पढ़ी है। यह न केवल विद्वत्तापूर्ण है, वरन् साहित्यिक गुणों के सच्चे ज्ञान के साथ लिखी गई है। जो पाठक केरलीय जनता की साहित्यिक प्रवृत्तियों और सफलताओं की सामान्य रूपरेखा का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, उनसे यह पुस्तक पढ़ने की सिफारिश मैं निःसंकोच करता हूँ।

—का० माधव पणिक्कर

लेखिका का निवेदन

भारत को स्वतन्त्र हुए अभी इनेगिने नौ वर्ष ही हुए हैं, परन्तु इतन थोड़े समय में ही उसने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली है। जनता के अन्तर में जीव-चैतन्य प्रस्फुरित होने लगा है, और वह पुलकोद्गमकारी है। इस जीव-चैतन्य के साथ प्रत्येक भाषाभिमानी के हृदय में अपनी-अपनी भाषा के प्रति प्रेम और उसे भी प्रस्फुरित-प्राण से भर देने की आकांक्षा का उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही है। भारत जैसे देश में, जहाँ जितने प्रान्त हैं, उतनी ही या उससे दुगुनी भाषाएँ हैं, भाषा का विकास जनता के विकास के समान, पारस्परिक ज्ञान, मैत्री और प्रेम से ही हो सकता है। अपनी उन्नति की चिन्ता तथा आशा में समीपस्थों को भूल जाने से काम नहीं चल सकता। भगवान् ने गीता में देवों और मनुष्यों के लिए जो यह उपदेश किया है कि 'परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्यताम्' (आपस में भावना करके—आदर प्रेम तथा प्रीणन करके—परम श्रेय को प्राप्त करो), वह भारत की विभिन्न भाषा-भाषी जनता के लिए भी उतना ही समीचीन है। लेन-देन, पठन-पाठन आदि से भाषा का भंडार संवर्धित होता है। इस प्रकार की परस्पर-भावना के लिए विभिन्न भाषाओं के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना, उनकी उत्तम कृतियों को भाषान्तरित करना और उनका मूल रूप में ही अध्ययन करना उत्तम मार्ग है।

उत्तर भारत की मुख्य भाषाओं में यह लेन-देन प्रचलित है, परन्तु दाक्षिणात्य भाषाओं के प्रति अबतक उत्तर में एक प्रकार की उदासीनता रही है। दूसरी ओर उत्तर भारत की भाषाओं को दक्षिण भारत की भाषाओं ने दूर नहीं रखा। जहांतक मलयालम् का सम्बन्ध है, उसमें बंगला, हिन्दी, मराठी तथा गुजराती भाषाओं के अनेकानेक उपन्यासों, कथाओं और काव्यों का अनुवाद

किया गया है। दक्षिण की जनता उत्तर के विविध प्रान्तों, भाषाओं और आचारों का कामचलाऊ ज्ञान तो रखती ही है। परन्तु उत्तर की जनता इतने से ही सन्तोष मानती रही कि दक्षिण भारत का नाम मद्रास है, वहां के लोग मद्रासी हैं और वहाँ की भाषा को मद्रासी कहा जाता है। फलतः आज इतना भी जानने वाले लोग बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं कि दक्षिण में भी उच्च कोटि के साहित्य से अनुगृहीत कम-से-कम चार भाषाएँ विद्यमान हैं। हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता के बाद से यह उदासीनता शीघ्रतापूर्वक मिट रही है। हमारी पारस्परिक जिज्ञासा बढ़ने लगी है और हम आपस में मिलने-जुलने तथा एक-दूसरे के बारे में साधारण जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक हैं।

दूरवर्ती भाषाओं का परस्पर परिचय कराने का काम उन भाषाओं के श्रेष्ठ पण्डितों का है। किन्तु यदि भाषा-पण्डितों को इसके लिए अवकाश या सुविधा न हो तो मेरी जैसी एक विद्यार्थिनी का ही अपने अध्ययन का परिणाम समर्पित करने का साहस अनाशास्य नहीं होगा। यही आश्वासन लेकर मैंने हिन्दी-भाषी जनता को केरलीय साहित्य का यत्किंचित् परिचय देने का प्रयत्न किया है।

मलयालम् भारत के दक्षिण-पश्चिमी कोने के केरल-प्रदेश की भाषा है। केरल की सन्तान ही उपजीविका के लिए बाहर निकल जाने के बाद बहुधा अपनी भाषा को भूल जाती है। फिर भी इतना तो सत्य है कि प्राचीन काल से ही उसका साहित्य अभिमान के योग्य रहा है। पड़ोसियों और मित्रों से उचित सहायता लेने में कभी संकोच न करने के कारण मलयालम् भाषा का विकास और उसकी अभिवृद्धि समय के अनुसार होती ही रही। अन्तःछिद्र और युद्धादि से केरलीय जनता को सदा सावधान रहना पड़ा, परन्तु जीवन को एक लम्बी विनोद-यात्रा मानने का स्वभाव भी उसे सहजसिद्ध था। 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्' का आदर्श उसे अधिक प्रिय था। शायद इसीलिए भयानक युद्ध के बीच में भी, मरण तथा अपमान से बचने के लिए भागते रहने पर भी, केरल

वर्मा पड़श्शिराजा जैसे वीरोत्तंस हृदयाकर्षक, सुन्दर काव्य-तल्लजों तथा अन्य साहित्य का निर्माण कर सके। वैज्ञानिक शाखा को उदासीन दृष्टि से देखने और काव्य तथा कलामय शाखाओं का परिपोषण करने का रहस्य भी शायद यही होगा।

इस पुस्तक में मलयालम् भाषा तथा साहित्य का संक्षेप में परिचय दिया गया है, विस्तृत अथवा व्यापक परिचय देना इसका उद्देश्य नहीं है। एक सुन्दर एवं विशाल प्रासाद को बाहर खड़े होकर गवाक्षों से देखने पर जो दृश्य दिखाई दे सकता है, वैसा ही दृश्य इस छोटी-सी पुस्तक में केरलीय साहित्य का उपलब्ध है। कहने योग्य सब नहीं कहा गया, उसका एक अंश भी शायद न कहा जा सका हो। समूह से एक को देखकर और परखकर शेष सबका अनुमान कर लेने की रीति से यहाँ सन्तोष कर लिया गया है। जो कुछ इन पृष्ठों में अंकित है उससे यदि किसी भी साहित्य-भक्त को आनन्द प्राप्त हो और यदि चोटी के साहित्य-सेवियों का ध्यान केरल-साहित्य की ओर आकृष्ट हो जाय, तो इस पुस्तक का उद्देश्य सफल हो जायगा।

पहले इस पुस्तक में बीच-बीच में मूल मलयालम् अंशों के उद्धरण देकर उनका अनुवाद हिन्दी में कर दिया गया था, परन्तु बाद में मलयालम् भाषा को नागरी लिपि में छापने की कठिनाई महसूस हुई। मलयालम् में नागरी से कई अक्षर अधिक हैं। उदाहरणार्थ, स्वरों में मलयालम् लिपि में 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व रूप भी हैं। व्यंजनों में भी तीन अक्षर अधिक हैं। उनका उच्चारण क्रमशः 'ड़', 'र' और 'ष' से थोड़ा-बहुत मिलता-जुलता होने पर भी भिन्न है। पहला 'ड़' से मृदु है, दूसरा 'र' से कठोर और तीसरा 'ष' का मृदु उच्चारण (कुछ-कुछ 'ड़' जैसा) करने से सम्भव हो सकता है। 'ट' और 'न' का उच्चारण दो-दो प्रकार से किया जाता है। एक उच्चारण तो नागरी अक्षरों का जैसा ही है; दूसरा, 'ट' का अंग्रेज़ी 'रैट' में 'ट' के समान, और 'न' का दन्त्य है, जो जीभ को सामने के दाँतों के बीच रखकर बोलने से हो सकता है।

छपाई में इन अक्षरों अथवा इनके संकेतों के लिए विशेष टाइप बनाने की कठिनाई थी। अतएव मलयालम् उद्धरणों को इस संस्करण से निकाल देना ही एकमात्र उपाय रह गया। फिर भी यही एक कारण नहीं था। पुस्तक का कलेवर भी मर्यादा से अधिक बढ़ गया था और उसे मर्यादा में रखना ज़रूरी था।

पुस्तक लिखने में मैंने श्री आर० नारायण पणिक्कर के 'केरल भाषा साहित्य चरित्रं' नामक बृहद् ग्रंथ से भरपूर सहायता ली है। जहाँ कहीं भी आवश्यकता हुई, मैंने उनके निर्णयों को निस्संकोच भाव से स्वीकार कर लिया है। अतएव श्री पणिक्कर के और उनके बृहत् ग्रंथ के प्रति मैं अत्यन्त ऋणी हूँ।

यदि पूज्य काकासाहेब कालेलकर ने बार-बार मुझे प्रेरणा न दी होती तो गृहस्थी और उपजीवन के कार्य के दुहरे भार से दबी मैं इस पुस्तक को लिखने का उत्साह अक्षुण्ण न रख पाती। अतएव इसके तैयार होने का पूर्ण श्रेय काकासाहेब को ही है। इसमें यदि कोई गुण हों तो वे तो उन्हें समर्पित हैं ही, परन्तु दोष भी उन्हें ही समर्पित न करूँ तो किसे करूँ? यदि गुण सौंपकर दोष अपने ऊपर ले लेने से उनके पितृतुल्य स्नेह को धक्का लगने की आशंका न होती तो मुझे इससे अधिक सन्तोष और किसी बात से न होता। 'आमुख' लिखने के पूर्व उन्होंने सारी पुस्तक दो बैठकों में सुन ली। इसे उनके धैर्य की परीक्षा कहा जाय या केरलीय साहित्य-संस्कृति के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा?

सरदार का० माधव पणिक्कर ने भी इसे पढ़ने की कृपा की और इसकी 'प्रशस्ति' लिखकर इसका मान बढ़ाया है'। किन्तु उन्हें धन्यवाद देने की रस्म निभाना आवश्यक नहीं, मालूम होता।

जिन लेखक-लेखिकाओं की रचनाओं के उद्धरण पुस्तक में दिये गए हैं उनकी मैं आभारी हूँ। मुझे आशा है कि उनमें से जो आज भी कैरली का भण्डार संवर्धित करने का प्रयत्न कर रहे हैं वे मुझे, कभी भविष्य में, अपनी नई-नई रचनाओं की चर्चा करने का अवसर प्रदान

करेंगे। जो विरक्त हो गये हैं उन्हें उलहना देने के सिवा चारा ही क्या है ? किन्तु जो अपनी लोकलीला समाप्त करके चले गये हैं उनकी पुण्य स्मृति में मेरी यह छोटी-सी पुस्तिका श्रद्धामय पुष्पांजलि की प्रतीक हो !

इसकी पांडुलिपि तैयार करने में मुझे अपने बच्चों—चि० सतीश और चि० महेश से बहुत सहायता मिली है। उन्हें मेरा वात्सल्य प्राप्त है ही। किन्तु मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं, मलयालम् है और मैंने मुख्यतः पारिवारिक सम्पर्क से ही हिन्दी का अध्ययन किया है। अतएव यह आवश्यक था कि मेरी पांडुलिपि हिन्दी का कोई पंडित देख जाता। जिन्होंने मेरी मातृभाषा के प्रति प्रेम और सहानुभूति के साथ यह कार्य किया उनका अनुग्रह मानना धृष्टता होगी। परन्तु पांडुलिपि देख जाने के बाद सुदूर विदेश से उन्होंने मुझे जो-कुछ लिख भेजा था उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत कर देने में आत्मगौरव मालूम होता है। उन्होंने लिखा था—"जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, शब्द-प्रयोग, वाक्य-विन्यास, शैली—सब-कुछ मुझे बहुत अच्छा लगा। भाषा में मैंने अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। जहाँ-कहीं कोई ऐसा प्रयोग दिखलाई पड़ा, जो हिन्दी में खप ही नहीं सकता था, उसे मैंने बदल दिया है। कुछ लम्बे वाक्य और लम्बे सामासिक शब्द तोड़ दिये हैं। सारांश यह कि मैंने उतना ही किया है, जितना अनिवार्य था और मैं जानता नहीं कि समग्रतः मैं इसे सुधारने में सफल हुआ हूँ या बिगाड़ने में। परन्तु इतना मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि यदि तुम अधिक लिखो तो मेरी मातृभाषा—राष्ट्रभाषा—के पाठक तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देंगे और तुम्हारा उचित सम्मान करने में चूकेंगे नहीं !…" इन शब्दों से मुझे प्रोत्साहन मिला है।

नई दिल्ली। —रत्नमयीदेवी दीक्षित

विजयादशमी, २०१३ वि०

विषय-सूची

: १ :

केरल तथा कैरली

साहित्य के इतिहास में केवल भाषा अथवा साहित्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने से काम नहीं चलता। कोई भी पुस्तक पढ़ने पर उसके लेखक के विषय में विचार उठता है और उसके जीवन, काल, उसके समय की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति आदि विविध विषयों की जिज्ञासा जाग्रत होती है। इसलिए साहित्याध्ययन को एक प्रकार का लोक-भ्रमण ही मानना चाहिए।

साहित्य एक ललित कला है और उसका मुख्य प्रयोजन सरस रीति से उत्तम जीवन का मार्ग प्रदर्शित करना है। वह इतिहास का पूरक भी है। इतिहास से सम्बद्ध समुदाय के बाह्य व्यापारों का एकदेश ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु उसके आन्तरिक व्यापारों—आचार-विचार, आदर्श, गुण-दोषादि का परिचय प्राप्त करने के लिए साहित्य की ही आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, केरल-राज्य के इतिहास से उसकी आपसी लड़ाइयों और कभी एक राजा के, कभी दूसरे के, कभी ब्राह्मणों के, कभी नागों (केरल के आदि-वासियों) के प्रताप-प्रभुत्व का विवरण मिलता है; परन्तु केरलीय जनता के स्वभाव, जीवन-रीति, और आचार-विचार आदि का परिचय प्राप्त करना हो तो उस काल के लोकगीतों तथा उसी प्रकार की अन्य कृतियों का आश्रय ग्रहण करना होगा। इस दृष्टि से देखने पर साहित्य को इतिहास का पूरक अथवा उसकी व्याख्या मानना होगा।

साहित्य पर देश की भौगोलिक स्थिति और इतिहास का प्रभाव

पड़े बिना नहीं रह सकता, इसलिए किसी भू-भाग के साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उस भूभाग के इतिहास का ज्ञान परम आवश्यक है। अतएव केरलीय साहित्य की पृष्ठ-भूमि के रूप में केरलीय इतिहास का सिंहावलोकन कर लेना असंगत न होगा।

सह्याद्रि और अरब की खाड़ी के बीच में कन्याकुमारी से गोकर्ण तक फैले हुए देशखण्ड को केरल कहा जाता है। साधारण मान्यता के अनुसार किसी समय कन्याकुमारी से चालीस मील दक्षिण तक भूमि थी, जो कालान्तर में समुद्रमग्न हो गई। उत्तर में भी गोकर्ण से लेकर आगे का कुछ भाग कर्णाटक में सम्मिलित हो गया। अतएव आधुनिक केरल की सीमा कन्याकुमारी से काञ्ञिरोड़ तक ही है। उसमें कोच्चि (कोचीन), तिरुवितांकूर, (ट्रावनकोर), उत्तरी मलाबार और दक्षिणी कर्णाटक का कुछ भाग सम्मिलित है।

इस प्रदेश को मलइनाडु, चेरनाडु तथा भार्गवक्षेत्र आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसका एक नाम चेरतल भी है, जिसका अर्थ होता है चेर वंश के राजाओं का स्थान। कालान्तर में चेरतल का अपभ्रंश होकर चेरल और बाद में "च" का "क" हो जाने से "केरल" बन गया। संस्कृत साहित्य में "केरल" नाम ही प्रचलित है।

शुद्ध कैरली भाषा में इसे 'मलइन्नाडु', अर्थात् "पर्वतों का देश," (मलइ : पर्वत, नाडु : देश) कहा जाता है। पर्वत और समुद्र के बीच के देश का वाचक "मलइ + आली" अर्थात् "मलयाली" शब्द भी प्रचलित है। इस देश की भाषा "मलयालम्" अथवा "कैरली" कहलाती है।

"भार्गवक्षेत्र" नाम के सम्बन्ध में एक ऐतिह्य प्रसिद्ध है। जब श्री परशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश करके कैकेय राजा कार्तवीर्य से अपने पिता की हत्या का बदला ले लिया तब वे पश्चात्ताप से अभिभूत हो गये, और तपश्चर्या के लिए आर्यावर्त छोड़कर दक्षिण की ओर चले गये। उन दिनों भारतवर्ष की दक्षिणी सीमा गोकर्ण तक ही थी। वहाँ उन्होंने अपनी तपस्या से वरुणदेव को प्रसन्न किया और

उनसे रहने के लिए जगह माँगी। वरुणदेव ने उत्तर दिया कि अपना कुठार फेंककर जितना स्थान चाहिए, समुद्र से निकाल लो। निर्देश के अनुसार भार्गव राम ने अपना परशु फेंका, जो कन्याकुमारी के आस-पास जाकर गिरा। उतने स्थान से समुद्र हट गया और वहाँ केरल का निर्माण हुआ।

जब जल से स्थल मिला तो वहाँ जननिवास कराना आवश्यक हुआ; भार्गव राम ने आर्यावर्त से ब्राह्मणों को लाकर वहाँ बसाया। उनके लिए भिन्न आचार-नियम आदि बनाकर वे कुछ दिन बाद फिर से तपस्या के लिए चले गये।

इस ऐतिह्य की प्रामाणिकता मानें या ना मानें, इतना अनुमान करना अनुचित दिखलाई नहीं पड़ता कि विंध्यपर्वत के उत्तर से भृगु-वंशीय परशुराम ने ही सर्वप्रथम केरल में पदार्पण किया। भारत-भर में परशुराम का जो एकमात्र मन्दिर है वह केरल के दक्षिणी भाग में स्थित है। इस सत्य से इतना तो स्थापित हो ही जाता है कि परशुराम का केरल के साथ कुछ विशेष सम्बन्ध था।

इतिहास-रचना के सहस्रों वर्ष पूर्व भारत-भूमि आर्य और द्राविड़ जनता की निवास-स्थली थी। इतिहास बताता है कि आर्य लोग उत्तर से दक्षिण में जाकर धीरे-धीरे द्राविड़ जनता में मिलते रहे थे। केरल के पूर्व-निवासी भी द्राविड़ थे। किन्तु उनके आचार-विचारों में अन्य द्राविड़ों के आचार-विचारों से बहुत अन्तर था, अतएव उनका समाज भिन्न मालूम होता था और वह भिन्नता अब तक वर्तमान है। केरलीय जनता के आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा और दायक्रम आदि सभी भिन्न हैं। सारे संसार में पुत्र को पिता की संपत्ति का अधिकारी माना जाता है, किन्तु केरल में भानजा मामा की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। स्त्री को पुरुष के बराबर अधिकार देकर केरलीय संस्कृति ने गार्हस्थ्य जीवन के रथ के दोनों चक्रों को एक साथ आगे बढ़ने का अवसर प्राचीन काल से ही दे रखा है। वहाँ उपजीविका का मुख्य

साधन कृषि और शिकार था और लिखित इतिहास के आरम्भ से ही वहाँ के नायर युद्ध-वीर के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं।

जहाँ तक ज्ञात है, केरल भी शेष भारत के समान ही छोटे-छोटे राज्यखंडो में विभक्त था। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आये जब कोई-कोई राजा अपने समकालीनों से अधिक पराक्रमी सिद्ध हुए और उन्होंने अनेक खण्डों पर अधिकार किया।

जिन दिनों द्राविड़ देश आंध्र, कर्णाटिक, चोल, पाण्ड्य, और चेर नामक पाँच प्राँतों में विभाजित हुआ, केरल चेर राजा के अधीन था। माना जाता है कि चेरवंश के आदिपुरुष पुण्यश्लोक प्रह्लाद के पुत्र महाबलि थे। उनकी राजधानी वर्तमान एरणाकुलं से लगभग सौ मील दूर "तृक्काक्करकरा" नाम के स्थान में थी। बाद में चेरन नाम के एक प्रतापी सम्राट के काल में वह "तिरुवंचिकुलं" में स्थापित हो गई। इतिहास के अनुसार, इन दिनों विदेशों के साथ बहुत व्यापार होता था। कोड़ंगल्लूर एक अच्छा बन्दरस्थान था, जहाँ से दूरस्थ देशों के साथ व्यापार चलता था। इसी राजा के काल में मलइनाडु ने सर्वतोमुखी अभिवृद्धि प्राप्त की और इसी के नाम से विदेशों में उसे "चेरनाडु" कहा जाने लगा।

इस प्रतापी नरेश के काल में केरल के छोटे-छोटे राज्य एक छत्र के अधीन संघटित हुए। उस समय उसमें कन्याकुमारी से लेकर गोकर्ण तक का प्रदेश और कुड़क, नीलगिरि, वर्तमान मैसूर राज्य का दक्षिणी भाग, कोयम्बतूर जिला और सेलम जिले का पश्चिमार्ध सम्मिलित हुआ। परन्तु कुछ दिनों के बाद इतने बड़े साम्राज्य की रक्षा एक कोने से करते रहना सभव नहीं मालूम हुआ। विशेषतः कोड़ंगल्लूर-नौकाशय की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव एक चेर राजकुमार वहाँ जाकर रहने लगा। धीरे-धीरे वहीं उसने अपनी वंश-स्थापना की और चेर राजवंश की अधीनता से स्वतन्त्रता भी पा ली। तत्पश्चात् कन्याकुमारी से गोकर्ण

तक के प्रदेश और कुड़क को केरल के नाम से पुकारा जाने लगा।

ऐतिह्य के अनुसार, कन्याकुमारी के दक्षिण में चालीस मील तक जो भूभाग था, वह भी इन्हीं चेर राजाओं के काल में किसी प्रकृति-विपर्यय के कारण समुद्र में विलीन हुआ था। उस भूभाग में कुमारीकोड़ नाम का पर्वत और कुमारी तथा पहुली नाम की दो नदियाँ भी थीं। भूमि के साथ उनका भी समुद्र में विलय हो गया। माना जाता है कि यह घटना ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व घटी थी।

ज्ञात इतिहास के अनुसार आर्यावर्त से केरल में ब्राह्मणों का आगमन भी इन्हीं दिनों हुआ। ऐतिह्य से ऐतिहासिक तत्व की ओर जाने पर यह अनुमान होता है कि उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले आर्य धीरे-धीरे केरल में भी पहुँच गये और वहाँ की फलभूयिष्ठता देखकर वहीं बस गए। केरल के आचार-विचार और रीति-व्यवहार आदि सब निराले थे, अतएव उत्तर से आये हुए ब्राह्मणों ने अपनी जीवन-पद्धति को भी उसी प्रकार ढालने का प्रयत्न किया। केरल के ब्राह्मणों में वर्तमान काल में जो व्यत्यस्त आचार-व्यवहार दीख पड़ता है उसका मूल यही मिलकर रहने की मनोवृत्ति हो सकती है।

आर्य ब्राह्मणों के आने के पहले ही केरल की जनता संस्कार और नागरिकता में बहुत आगे बढ़ी हुई थी। लिखित इतिहास उपलब्ध न होने पर भी उन दिनों के साहित्य से समाज की अवस्था का बहुत-कुछ परिचय मिल जाता है। वर्णभेद और जातिभेद उन लोगों के लिए अज्ञात था। रक्षकों के स्थान पर नागवर्ग के लोग और उनकी अधीनता में उनके नाई, धोबी, शिल्पी आदि योगक्षेम से रहा करते थे। युद्ध-प्रशिक्षण वर्गभेद के बिना सबके लिए अनिवार्य था। उन दिनों उनमें अस्पृश्यता के विचार और तत्सम्बन्धी विकृतियाँ नहीं थीं।

प्राचीन काल में केरल एक गणतन्त्रीय राज्य था। जनता अपने प्रतिनिधि चुनकर एक समिति बना लेती थी और वही समिति न्यायानुसार राज्यशासन चलाती थी।

आर्य ब्राह्मणों का आगमन इस स्वतन्त्र और स्निग्ध जीवन के लिए एक पूर्णविराम बन गया। वैदिक ज्ञान के आधार पर उन्होंने केरल की जनता में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। परन्तु केरलीय जनता ने उन्हें बहुत दिनों तक शासन-कार्य से पृथक् रखा। नय-निपुण ब्राह्मण भी चुप रहने वाले नहीं थे। उन्होंने समझ लिया कि वीर और प्रमुख केरलीयों के साथ सम्बन्ध बढ़ाये बिना काम नहीं चलेगा। उन्होंने केरल की स्त्रियों को अपना वामार्ध बनाने का उपक्रम किया। तब तक ब्राह्मणों की जाति-श्रेष्ठता सबने स्वीकार कर ही ली थी, अब उन्होंने अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सन्ततियों को कुल-श्रेष्ठता, जाति-श्रेष्ठता आदि प्रदान करके आचार-भेद तथा आभिजात्य-विचार द्वारा उन सीधे-सादे लोगों के बीच पारस्परिक स्पर्धा का बीजावाप कर दिया। वर्गभेद, कुलीनता आदि की स्पर्धा से उनका ऐक-मत्य नष्ट होने लगा। स्वभावतः ही इससे उनकी शक्ति भी क्षीण होने लगी। दूसरी ओर, विद्योपजीवी ब्राह्मण आयुध-विद्या का भी अभ्यास करके अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। इस प्रकार आदिम निवासियों से अपने को हर तरह श्रेष्ठ और शक्तिशाली बनाकर उन्होंने सलाहकारों के रूप में सर्वत्र प्रवेश पा लिया और धीरे-धीरे सारा नियन्त्रण-तन्त्र अपने अधीन कर लिया।

देश-विभाग के अनुसार ब्राह्मणों ने अपने-आपको बारह संघों में विभाजित कर लिया और संघशक्ति पूर्ण हो जाने पर वे नाग लोगों, (केरलीय आदिम निवासियों) से लड़ने लगे। अन्त में नागवर्ग को पराजित होकर ब्राह्मणों का प्राबल्य स्वीकार करना पड़ा। ब्राह्मणों ने मनचाही शर्तों पर सन्धि कर ली। उसके अनुसार केरल को चार विभागों में विभाजित किया गया और प्रत्येक विभाग के लिए प्रमुख युद्ध-वीरों और शक्तिशाली ब्राह्मणों में से एक-एक 'रक्षापुरुष' को चुन लिया गया। ये रक्षापुरुष तीन-तीन वर्ष के लिए अपने-अपने विभाग के शासक नियुक्त हुए। निर्दिष्ट काल के अन्त में स्थानत्याग कर देने की

प्रतिज्ञा के बाद ही इन रक्षापुरुषों के 'अवरोध' (सत्तारोहण) की क्रिया हो सकती थी। इन चार विभागों को 'कड़कं' नाम दिया गया। ये 'कड़कं' थे—पेरिंचेल्लूर, पय्यन्नूर, पेरंपूर और चेङ्ङन्नियूर। 'कड़कं' की तुलना आधुनिक 'डिवीजन' से की जाय तो अनुचित न होगा। इस प्रकार के प्रत्येक कड़कं को अनेक 'ग्रामों' (जिलों) में और प्रत्येक 'ग्राम' को अनेक 'देशों' (गाँवों) में विभाजित करके 'देश-संघ' बना दिये गए, जिनसे कोई 'देश' पृथक् नहीं रहा। सम्पूर्ण केरल में कुल चौंसठ 'ग्राम' थे और प्रत्येक 'देश' के लिए एक मन्दिर तथा मन्दिर के सामने सभा-स्थान की व्यवस्था की गई थी।

चारों कड़कं पर अधिकारी के रूप में बारह वर्ष के लिए एक नाग-प्रधान को चुन लेने का नियम भी बना लिया गया था, परन्तु सचमुच उसके हाथ में कोई सत्ता नहीं सौंपी गई। इसी प्रकार चारों कड़कं के लिए देश-प्रमुखों की चार सभाएँ भी स्थापित की गई थीं—(१) मता-चार सभा अथवा धर्म-सभा, (२) भरण सभा अथवा शासन सभा, (३) व्यापार सभा और (४) कृषि तथा उद्योग सभा। व्यवस्था अच्छी थी और लोग कर्मठ थे। कुछ समय तक केरल सम्पत्समृद्धि का विलास-केन्द्र बना रहा। परन्तु कालचक्र तो परिवर्तनशील है, अन्ततोगत्वा मनुष्य स्वार्थ का पुतला तो होता ही है, अतः इतिहास का पुनरावर्तन हुआ और केवल तीन वर्ष के लिए अधिकार में आये हुए 'रक्षापुरुष' देश की अभिवृद्धि के लिए नहीं, अपने ऐश्वर्य के लिए प्रयत्नशील बन गये। उन्होंने समय समाप्त होने पर स्थान त्याग करने से इंकार भी किया। फलतः जन-प्रमुखों के साथ उनका युद्ध छिड़ गया। दोनों पक्ष शक्ति-सम्पन्न थे; इसलिए जय-पराजय का निर्णय दुष्कर हो गया। अन्त में जब पर्याप्त शक्ति-परीक्षण हो चुका तो दोनों पक्षों ने कोङ्ङनाड्डु के राजा उदयबाण वर्मन् को मध्यस्थ बनाना स्वीकार किया।

अन्ततः दोनों पक्ष इस निर्णय पर पहुँचे कि राज्य के हित के लिए एक राजा का सर्वाधिकारपूर्ण शासन ही आवश्यक है। इस निर्णय के

अनुसार उदयबाण वर्मन् को ही प्रथम सम्राट् बनाया गया। यह प्रसंग ईसा के ११३ वर्ष पूर्व घटित हुआ। उदयबाण वर्मन् अपना राज्य अपने छोटे भाई को सौंपकर केरल के राजा बने थे और उन्हें "पेरुमाल" अर्थात् "बड़े शासक" की पदवी दी गई थी। भविष्य के सभी "पेरुमाल" इन्हीं के वंशज थे।

पूर्णाधिकार प्राप्त होने पर भी नयनिपुण उदयबाण वर्मन् ने ब्राह्मणों को अलग होने नहीं दिया। उनके चार प्रतिनिधियों को चार विभागों का शासक बना कर उन सामन्त-शासक ब्राह्मणों को "तलियातिरि" नाम दे दिया। इस प्रकार ब्राह्मणों की सहायता से क्षत्रियों द्वारा पालित होने के कारण केरल "ब्रह्म-क्षत्र भूमि" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पेरुमालों का शासन लगभग ७५० वर्षों तक चला। यह काल केरल का सुवर्ण काल माना जाता है। उनके शासन-काल में प्रजा अत्यन्त सुखी थी। समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था अत्युत्तम थी। जाति-भेद और अस्पृश्यता आदि का तब नाम भी सुनाई नहीं पड़ता था। विदेशों के साथ का व्यापार उन्नति पर था। व्यवसाय तथा कृषि में भी लगातार उन्नति हो रही थी। केरल की सुभिक्षता के वर्णन के रूप में श्रावण मास में आज भी एक गीत[1] प्रत्येक केरलीय बालक के कंठ से झूले के साथ सुनाई पड़ता है। कदाचित् वह उन्हीं दिनों की समृद्धि का परिचायक है।

उस समय केरल में मातृसत्ता ही प्रचलित थी। केवल पेरुमाल के परिवार में, जो कि बाहर से आया हुआ—परदेशी—था, पिता का उत्तराधिकारी पुत्र होता था।

---

१. "मावेली (महा बलि) जब राज्य करते थे उस समय सब मनुष्य बराबर थे। कहीं असत्य नहीं था, कोई किसी को धोखा नहीं देता था, कोई कामचोरी नहीं करता था। दूसरे के धन का लोभ कोई नहीं करता था, पर-स्त्री को मा के सामान माना जाता था, सब एक-दूसरे से प्रेम करते थे"—आदि।

यह काल केरलीय साहित्य की भी अभिवृद्धि का था। जब मनुष्य सुखी और प्रसन्न होता है तभी उसे साहित्य और संगीतादि कलाओं की ओर ध्यान देने का समय और सामर्थ्य भी प्राप्त होता है। पेरुमालों में अनेक संस्कृत के प्रेमी और विद्वान् थे। साहित्य में भी उनकी अभिरुचि थी। केरल-भाषा में संस्कृत का प्रभाव इसी काल से दिखलाई पड़ता है। "कूत्तु", "कूड़िआट्टं" आदि नाट्यकला के विविध प्रकारों तथा तत्सम्बन्धी साहित्य की उत्पत्ति भी इन शताब्दियों में हुई। जब शुद्ध संस्कृत साधारण जनता के लिए अग्राह्य होने के कारण केवल विद्वानों की सम्पत्ति बनकर रहने लगी तब साधारण जनता की भाषा में बोलने वाले विदूषक का भी आविर्भाव इन्हीं शताब्दियों में हुआ। साहित्य को गति मिल ही चुकी थी, इस आविर्भाव ने अभिनय की कला को भी विकसित किया।

केरल का सुप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ उत्सव "तिरुओणं" (अथवा श्रावणोत्सव) भी भास्कर रविवर्मन् नाम के एक पेरुमाल ने ही प्रारम्भ कराया था। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में केरल नीरस तथा अप्रसन्न रहता है। उसके पश्चात् श्रावण में वहाँ वसन्त का आगमन होता है। उस मास में केरलश्री खिल उठती है। अतएव आषाढ़ मास के श्रावण नक्षत्र के दिन से श्रावण (अथवा सिंहमास) के उसी नक्षत्र तक के २८ दिन महा-उत्सव मनाने का निश्चय कर लिया गया। उन दिनों सारा देश आह्लादमय बन जाता था। सभी सामन्त, देश-प्रमुख आदि आनन्दोत्सव के लिए राजधानी में एकत्र होते थे। राजा तथा प्रजा के एकमन होकर आनन्द मनाने के वे दिन—काश! आज कहाँ?

आज भी इस उत्सव के नष्टशिष्ट के रूप में समस्त भारत में फैली केरलीय जनता अपनी शक्ति के अनुसार 'ओणं' का त्योहार मनाती है।

सम्राट् भास्कर रविवर्मन् के ही काल में 'महामखम्' (मामांकम्) नाम का एक और उत्सव भी नियमित किया गया। मध्य-केरल में 'तिरुनावाय' नाम का एक प्रदेश है, वही इस उत्सव का स्थान था।

वहाँ अधीन राजा, सामन्त तथा अन्य प्रभु आदि एकत्र होते थे और सम्राट् को एक उच्च वेदी पर खड़ा करके यथायोग्य उपहार प्रदान करते तथा सम्मान दिखाते थे। उत्सव सम्पन्न हो जाने पर सब लोग अपने-अपने स्थान को विदा हो जाते थे। इस उत्सव का एक अर्थ यह भी था कि समय-समय पर सब राज्यवासी सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति का प्रकाशन करते रहें। यह उत्सव पेरुमालों के समय में बारह वर्ष में एक बार हुआ करता था। भास्कर रविवर्मन् ने पचास वर्ष राज्य किया। उनके बाद राज्य की स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती रही।

सम्राट् भास्कर रविवर्मन् का अन्त ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ। उनके बाद राजशेखर चक्रवर्ती[1] एक स्मरणीय सम्राट् मालूम होते हैं। वे अच्छे शास्त्रज्ञ और संस्कृत तथा तमिल भाषा के पण्डित थे। श्री शंकराचार्य तीर्थपाद के स्वर्गारोहण के सात वर्ष बाद उनका भी देहावसान हो गया।

इसी राजर्षि के काल में 'कौलम्बाब्द' नाम का संवत्सर प्रचलित हुआ। माना जाता है, जगद्गुरु शंकराचार्य के स्वर्गारोहण के पाँच वर्ष बाद 'कौल्लं' नामक शहर में महाजनों की प्रतिनिधि सभा आयोजित की गई और उसमें अनेक महत्वपूर्ण निर्णय किये गये। सबसे बड़ा निर्णय यह था कि समस्त केरल में आचार्य के वेदान्त-मत के अनुसार ही आचार-व्यवहार किया जाय। इस परिवर्तन के लिए अनेक नियमों की सृष्टि भी

---

१. राजशेखर चक्रवर्ती के वंश के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें पेरुमाल-वंश का बताते हैं, कुछ का कथन है कि ये वेणाट (तिरुवितांकूर) के सम्राट् थे और इन्होंने 'पेरुमाल' उपाधि ग्रहण कर ली थी। कोलम्बाब्द का आरम्भ वेणाट–राजा ने किया था, इस मान्यता के आधार पर इन्हें वेणाट-राजा ही मानना होगा।

अब तक उपलब्ध क्षीण प्रमाणों के आधार पर भास्कर रविवर्मन को ही पेरुमाल-वंश का अंतिम सम्राट् मानना उचित प्रतीत होता है। किन्तु प्राचीन इतिहास की यह सारी जानकारी विवाद-ग्रस्त है।

सभा में की गई। इस सभा-दिवस की स्मृति में 'कोल्लवर्ष' (कोलम्बाब्द) का आरम्भ हुआ। उस समय ईसवी सन् ८२५ होना चाहिए।

पेरुमाल शासन-काल में ही समाज को नष्ट करने वाले जातिभेद और मतभेद आदि उत्पन्न होने लगे थे। समुद्रपार के ईसाई, यहूदी आदि वहाँ के निवासी बन चुके थे। जाति-भ्रष्ट और समाज-भ्रष्ट लोगों का ईसाई या मुसलमान बन जाना साधारण बात हो गई थी। नागवर्ग, जो एक काल में सर्वाधिपति था, अब अधःपतन के राजमार्ग पर अवतीर्ण हो गया था। वह 'नागर', से 'नायर' बनकर ब्राह्मणों की पूर्ण अधीनता स्वीकार कर चुका था। आयुधविद्या नायरों की कुलवृत्ति बन गई थी और साथ-साथ वे अक्षराभ्यास भी किया करते थे। परन्तु वेदान्त, शास्त्र तथा साहित्य पर ब्राह्मणों का और उनके अनुलोम विवाह-सम्भूत अन्तरालवर्ग का एकाधिकार-सा बना रहा।

पेरुमाल-वंश का अन्त होने पर केरल छिन्न-भिन्न हो गया। समय-समय पर अनेक छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार बढ़ते और नष्ट होते रहे। इन संघर्षों में तीन राजवंश—'सामूतिरि', 'पेरुंपड़प्प' (कोच्चि) और 'वेणाट' कभी प्रभुता के साथ, कभी दबकर स्थिर रहे। आधुनिक उत्तर मलयालं, कोच्चि (कोचीन) तथा श्रीवाड़्ंकोड (तिरुवितांकूर, ट्रावनकोर) नाम के प्रदेश उपर्युक्त तीन राजवंशों की अधीनता में ही रूप-परिवर्तन होते-होते बने हैं। आगे चलकर सामूतिरि राजवंश अंग्रेजों के आधिपत्य में विलीन हो गया। शेष दोनों राजवंशों ने अपनी-अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित रखी और आज वे तिरुवितांकूर-कोच्चि संयुक्त राज्य में विद्यमान हैं।

हमारा उद्देश्य केवल उतने ही इतिहास का सिंहावलोकन करना है, जो केरलीय साहित्य के इतिहास को समझने के लिए आवश्यक है। अतएव यहाँ इतिहास का विशेष वर्णन न करके राज्य और समाज की स्थिति के विशेष परिवर्तनों पर ही प्रकाश डाला गया है। इस पश्चात्तल पर अब केरलीय साहित्य का इतिहास समझने का प्रयत्न किया जायगा।

: २ :

भाषा : उत्पत्ति तथा आदिम काल

केरलीय साहित्य का क्रमानुसार और प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। केरल देश का भी सुगठित इतिहास न होने के कारण साहित्य के इतिहासकार को विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के साहित्यकारों के समान ही प्राचीन केरलीय साहित्यकारों को भी प्रसिद्धि की लालसा नहीं थी। अतएव अब प्राचीनतम ग्रन्थों के कर्ताओं के नाम भी जानना हमारे लिए असम्भव हो गया है।

पून्तानम् नम्पूतिरि, पुनम् नम्पूतिरि आदि परम प्रसिद्ध केरलीय कवियों के बारे में भी हमारा ज्ञान अत्यन्त परिमित है। पुनम् नम्पूतिरि के लिखे हुए दो श्लोक सामूतिरि राजा की प्रशंसा के रूप में पाये जाते हैं। उन दोनों श्लोकों के शब्दों से यह तो ज्ञात होता है कि वे सामूतिरि राजा की प्रशंसा में रचे गए हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि वे दोनों एक ही राजा के बारे में हैं या दो राजाओं के बारे में। उलटे, शंका होती है कि वे दो राजाओं की प्रशंसा में कहे गए हैं। हो सकता है कि उन दोनों पद्यों के रचयिता दो व्यक्ति हों। यह भी हो सकता है कि एक ही कवि एक राजा के अन्त्य काल में और उसके उत्तराधिकारी के प्रारम्भ काल में राजकवि बना रहा हो और उसने दोनों को लक्ष्य करके अलग-अलग समय में इन पद्यों की रचना की हो। इसी प्रकार हम अनेक प्रसिद्ध कवियों के विषय में ऊहापोह की अनन्त जटिलता में फँसते जाते हैं। क्रमानुसार देश-इतिहास के अभाव में इस अनुमान-जाल से

बचकर निकलने का कोई उपाय दिखलाई नहीं पड़ता। इतना ही नहीं, प्रथम अध्याय में जो विवरण दिया गया है उससे ज्ञात होगा कि केरल का देश-इतिहास बहुत विशाल, जटिल तथा अव्यवस्थित है, क्योंकि वह किसी राजवंश के या वीरवरों के पराक्रम का वर्णन-मात्र नहीं है। हमने देखा कि केरल में राजाओं का शासन बहुत विलम्ब से शुरू हुआ। उसके पहले का देश-इतिहास सचमुच ही देश-इतिहास है। प्राचीनतम काल से जनाधिपत्य रहने के कारण इतिहास का नियन्त्रण किसी एक व्यक्ति या वंश के हाथ में नहीं था। कदाचित् इसी कारण पेरुमाल राजाओं के शासनकाल के पहले का इतिहास अव्यवस्थित और विषम मालूम होता है। जब देश का इतिहास ही इतना अव्यवस्थित है तब साहित्य के इतिहास का आधार दुर्बल होना स्वाभाविक ही है।

साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने में उसके अधिष्ठान—भाषा—की उत्पत्ति और विकास का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। मलयाल भाषा की उत्पत्ति के बारे में दो भिन्न मत शास्त्रज्ञों की चर्चा के विषय रहे हैं। सबसे प्राचीन भाषाशास्त्री "लीलातिलक" नामक व्याकरण-ग्रन्थ के रचयिता हैं। उन्होंने मलयाल भाषा की द्राविड़ गोत्र-जन्यता स्वीकार की है। परन्तु दूसरे भाषा-पण्डित कोवुण्णि नेट्टुङाड़ी ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ को निम्नलिखित मंगलाचरण से आरम्भ किया है—

संस्कृत हिमगिरिगलिता
द्राविड़ वाणी कलिन्दजामिलिता।
केरल—भाषा—गंगा
विहरतु मे हृत्सरस्वती सदा संगा॥

अर्थात्, संस्कृतरूपी हिमालय पर्वत से निकली हुई और द्राविड़ भाषा-रूपी यमुना से मिली हुई केरल-भाषा-गंगा मेरी हृदयवासिनी सरस्वती के साथ सदा विहरण करे!

इस प्रारम्भिक पद्य से स्थापित होता है कि इस विद्वान् के अभि-प्राय से केरल-भाषा भी अन्य भारतीय भाषाओं के समान ही संस्कृत

भाषा से उत्पन्न हुई है ।

इन दोनों अभिप्रायों में त्रुटि दीखती है, क्योंकि इन मतों को उक्ति या बुद्धि किसी से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता । प्रथमतः नित्योपयोग के शब्द प्रत्येक भाषा में अपने निजी होते हैं । इस परीक्षा में मलयालम् खरी उतरती है; क्योंकि, उस भाषा में (१) शरीरावयववाची शब्द, (२) घर, आँगन, आग आदि नित्योपयोगी वस्तुओं के नाम, (३) घरेलू, पालतू और सर्वसाधारण प्राणियों के नाम, (४) रिश्तेदारी द्योतक, सर्वनाम, संख्यावाची आदि शब्द, (५) वाक्य-नियम, क्रिया, लिंग, वचन, विभक्ति आदि व्याकरणोपयोगी नियम, ये सब अपने निजी हैं । इतना ही नहीं, ये सब संस्कृत भाषा के शब्दों से सर्वथा भिन्न हैं । यह तो सुविदित है कि समान शब्दों या तत्सम अथवा तद्भव शब्दों के रहने से ही किन्हीं दो भाषाओं का जन्य-जनक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता । उनकी व्याकरण-विधि, रीति, शैली आदि सभी में एकरूपता हो तभी इस प्रकार का तर्क क्षण-भर भी ठहर सकता है । इसलिए, आरम्भ में इसके संस्कृतजन्यत्व को त्याज्य कोटि में रखकर दूसरे वाद की तथ्यता के बारे में विचार करना उचित होगा ।

तमिल भाषा के पंडित यह प्रस्थापित करते थकते नहीं कि मलयालम् तमिल भाषा की पुत्री है । उनमें से एक पंडित कनकसभा पिल्ला निश्चित रूप से कहते हैं कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व तक केरल में बोलचाल की भाषा तमिल थी । एक अन्य विद्वोत्तंस का मत है कि तमिल नाक से बोली जाये तो मलयालम् बन जायेगी । परन्तु टालमी आदि एक-दो यवन-ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में तमिलनाड के अलावा एक और देश का विवरण मिलता है, जिसके राजा का नाम "कैरोब्रोत्तोस" (केरलपुत्रन्) बताया गया है । मलयाल भाषा का इतिहास लिखने का प्रथम प्रयत्न डॉक्टर गुंडर्ट नाम के एक पाश्चात्य पादरी ने किया था । उनके मतानुसार केरल भाषा तमिल भाषा की छोटी बहन है । परन्तु द्राविड़ भाषाओं का प्रथम आधुनिक व्याकरण लिखने वाले श्री

काल्डवेल मलयालम् को तमिल भाषा की पुत्री ही मानते हैं। "केरल-पाणिनि" के नाम से प्रसिद्ध आधुनिक मलयाल महापंडित श्री ए० आर० राजराज वर्मा ने काल्डवेल के ही अभिप्राय का समर्थन करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनके व्याकरण-ग्रन्थों में ही इस अभिप्राय का विरोध दिखलाई पड़ता है। हाँ, इतना तो मान्य हो सकता है कि तमिल भाषा के साथ किसी-न-किसी रूप में मलयाल भाषा का कुछ सम्बन्ध था। उत्तर भारत की भाषाओं में जो समानता देखकर उन्हें आर्य गोत्र-जात या संस्कृत भाषा-जात माना जाता है उसी प्रकार की समानता के आधार पर दक्षिण की तमिल, तेलुगु, मलयालम् तथा कन्नड़ भाषाओं को द्राविड़ गोत्र-जनित माना जा सकता है। इससे अधिक कहने का प्रमाण आज तक उपलब्ध नहीं है।

"चिलप्पतिकारम्" नाम के प्राचीन ग्रन्थ को मलयाल भाषा के तमिल की पुत्री होने का प्रमाण बताया गया है। परन्तु उसी ग्रन्थ में कुछ ऐसे भी शब्द विद्यमान हैं जो न केवल तमिल भाषा में वरन् किसी दूसरी भाषा में भी पाये नहीं जाते। इन सब बातों पर विचार करने के बाद अधिक-से-अधिक इतना माना जा सकता है कि मलयालम् भाषा में इतर द्राविड़ भाषाओं की अपेक्षा तमिल के साथ सामीप्य अधिक है।

प्रश्न उठता है कि यदि मलयालम् का प्राग्रूप तमिल नहीं है तो प्राचीन काल में मलयालम् का रूप कैसा था ? सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मलयालम् भाषा स्वयं एक स्वतन्त्र भाषा थी और जब केरल पर चेर राजाओं का आधिपत्य हुआ तब से उस पर तमिल का प्रभाव पड़ने लगा। आगे चलकर जब केरल में आर्य ब्राह्मणों का प्रवेश हुआ तब तमिल को त्यागकर वह संस्कृत से आत्मीयता बढ़ाने लगी। वह किस सीमा तक आगे बढ़कर "अति सर्वत्र वर्जयेत्" तत्व का उदाहरण बनी, यह आगे के प्रकरणों का विषय है। उस 'अति' संस्कृत प्रभाव के फलस्वरूप कैरली समचित्त होकर और आधुनिक काल की शुद्ध प्रौढ़ मलयाल भाषा में विकसित होकर किस प्रकार "सहृदय

हृदयानन्दन" करती है यह भी हम आगे के पृष्ठों में देख सकेंगे। इस समय हमारा प्रयत्न उसके प्राचीन रूप के बारे में जानने का है।

आधुनिक मलयाल भाषा के एक लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक स्वर्गीय श्री चेलनाट अच्युत मेनोन के प्रयत्नों ने इस मार्ग के कंटकों को बहुत दूर तक साफ कर दिया है। उनके अश्रान्त परिश्रम के कारण बहुत से लोकगीत एकत्र हो गये हैं, जिन्हें सम्पादित करके उन्होंने "वटक्कन् पाट्टुकल्" (उत्तरी प्रदेश के गीत) नामक पुस्तक में संकलित किया है। इसके बारे में पर्याप्त विचार करने का अवसर उन प्राचीन आचार्यों को उपलब्ध नहीं था, जिन्होंने मलयालम् को संस्कृत अथवा तमिल की पुत्री बताया है। इन गीतों में एक शब्द भी ऐसा नहीं मिलता, जिसका संस्कृत अथवा तमिल के साथ साम्य-मात्र भी हो। स्वर्गीय अच्युत मेनन का अनुमान है कि ये गीत कम-से-कम एक हजार वर्ष पुराने तो हैं ही।

यदि कैरली उस सुदूर भूतकाल में इतनी सरल-मधुर रीति से कविता-प्रवाह कर सकती थी तो निश्चय ही अपने उस काल में वह बाल्यकाल से बहुत आगे बढ़ चुकी थी। क्योंकि, इन कविताओं में जो स्वतन्त्र रीति तथा शैली दिखलाई पड़ती है वह किसी अधीन या अस्वतन्त्र भाषा के लिए सम्भव नहीं है।

दूसरा उदाहरण "पानत्तोटम्" नाम की प्राचीन गीतिका में मिलता है। यह "पानत्तोटम्" "उत्तरी गीतों" से बहुत प्राचीन है। यह उन दिनों की स्मारक है जब देवी भद्रकाली का कोई रूप-निर्णय नहीं हुआ था। एक बड़ा मंडप बाँधकर या किसी 'पाल'—सप्तच्छद—वृक्ष के सामने ही देवी का आवाहन करके उसकी पूजा की जाती थी। उस पूजा में गाने के लिए बनाये गए गीत को ही "पानत्तोटम्" कहा जाता है। इस गीतिका में जो विचित्र प्रकार के उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग हैं उन्हें इस अनुवाद से समझा जा सकता है :

"फरसा जैसे दाँत, हल जैसी जीभ, खूँटा जैसी नाक, गहरे कुओं में जुगुनू-जैसी आँखों की दोनों पुतलियाँ, मरे हुए अजगर के समान

हाथ-पैर, नीचे उतरी पीठ के पास मेहमानी के लिए गया हुआ पेट, चचेंड़ा की बेल जैसी बिखरी हुई नाड़ियाँ" आदि ।

यही काली के स्वरूप का वर्णन है । इसमें जो तन्मयता तथा रस-प्रकटन की शक्ति फूटी पड़ रही है उससे सिद्ध होता है कि इस गीत के निर्माता अपनी साहित्य-रचना में सिद्धहस्त थे । ऐसा लगता है कि इसी गीत की भाषा को मलयालम् भाषा का प्राचीनतम रूप मान लेना अनुचित नहीं होगा ।

कुछ विद्वानों ने 'रामचरितम्' नाम के एक अर्ध-तमिल ग्रन्थ को मलयालम् के प्राचीनतम रूप का नमूना बताया है । परन्तु 'रामचरितम्' का जो काल आधुनिक विद्वानों ने निर्धारित किया है उससे 'पानत्तोटम्' का काल स्पष्टतः तीन शताब्दी पूर्व मालूम होता है । समाजशास्त्रज्ञों के अनुसार वृक्षाराधना मनुष्य के प्राचीनतम संस्कारों का निर्णायक प्रमाण है और यह गीत, जो महाकाली की स्तुति के रूप में है, वृक्षाराधना का प्रतीक मालूम होता है । क्योंकि, इसके कुछ अंशों में देवी से प्रार्थना की जाती है कि वे निर्दिष्ट "पाल" वृक्ष के ऊपर आवाहित होकर अपने बच्चों को अनुगृहीत करें ।

इन सब प्रमाणों सें ज्ञात होता है कि 'मलयाल भाषा-गंगा' अपने प्रवाह में आगे बढ़ती चली गई; मार्ग में जो-जो वस्तुएँ उसे अपनी उन्नति के लिए मिलीं उन सब को उसने अपने में विलीन कर लिया । जब वह तमिल भाषा से मिली, उसने अपना व्यक्तित्व खोये बिना, जो-जो उससे ले सकती थी, ले लिया और उसे अपने ढाँचे में ढालकर उसका पुनर्निर्माण भी कर लिया । आगे चलकर जब वह प्रौढ़, गम्भीर संस्कृत साहित्य से प्रभावित होने लगी तब उस से भी जो-कुछ ले सकी, लेती चली गई । इस प्रकार अब वह एक ओर संस्कृत-सम्बद्ध प्रवाह और दूसरी तमिल-सम्मिलित प्रवाह लेकर अपनी निजी गति से उन्नति-शिखर की ओर प्रयाण करती जा रही है । परन्तु कौन-सा परिवर्तन पहले हुआ और कौन सा अनन्तर, या सब साथ-ही-साथ हुआ, यह प्रश्न देश के

समुचित इतिहास के अभाव में निरुत्तर ही रह जाता है।

कैरली की उपर्युक्त प्रगति को ध्यान में रखकर केरलीय साहित्य के इतिहास को चार मुख्य विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्राचीन काल—अति प्राचीन काल से आठवीं शताब्दी तक।

(२) द्राविड़ प्रभाव काल—आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक।

(३) संस्कृत प्रभाव काल—चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक।

(४) आधुनिक काल—सत्रहवीं शताब्दी से आगे।

अब हम क्रम से एक-एक काल का अध्ययन करेंगे।

: ३ :

प्राचीन काल

लोक-काव्य

"वाक्यं रसात्मकं काव्यं", "रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यं" या "साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है" आदि कोई भी साहित्य-व्याख्या सम्पूर्ण नहीं है। वास्तव में इन सब लक्षणों के समावेश में सच्चे साहित्य की श्री के दर्शन होते हैं। यह तो निर्विवाद है कि साहित्य का उद्देश्य आनन्दानुभूति कराना है; अर्थात् पढ़ने से, सुनने से प्रतिपाद्य विषय में तल्लीन करके व्यक्ति को आनन्दास्वादन कराने की शक्ति जिस रचना में हो वही साहित्य कहलाने के योग्य है। कवि की प्रतिपादन-शैली तथा मनोधर्म-प्रकटन से किसी भी वस्तु या प्रसंग में साहित्य-रस की सरिता हिलोरें ले सकती है। इतिवृत्त में परिप्लावित रस कवि के प्रयोग-चातुर्य के कारण श्रोता के हृदय-चषक में भी आप्लावित होने लगता है और तब जिस निर्वृति का अनुभव होता है वही साहित्य का निकषोपल है। सृष्टि में मानव इसलिए विशिष्ट है कि उसे विशेष बुद्धि स्वयंसिद्ध है। उस विशेष बुद्धि अथवा विवेक से वह विश्व के सौन्दर्य की समीक्षा करता है और फिर अपनी अनुभूति में विभोर होकर उस कला-वैभव की सराहना करने के लिए उद्युक्त हो जाता है। इस प्रकार हृदयान्तरभाग से जो संगीत प्रवाहित होता है वही सच्चा साहित्य है। इस संगीत को बहिर्गत कराने के लिए लोहे के लिए चुम्बक जैसा कोई भी हेतु पर्याप्त होता है। कला-सौन्दर्य का बोध प्रत्येक मनुष्य में है। काल, देश या परिस्थितियों के अनुसार किसी में जाग्रत और किसी में सुप्त रहता है।

जहाँ वह प्रबल होता है और हृदय-संगीत धाराप्रवाही रूप से अन्तरिक्ष में गूंज उठता है वहाँ अन्य हृदय अनायास उस धारा में तल्लीन होने को तत्पर हो जाते हैं। सभी भाषाओं के साहित्य का कविता अथवा संगीत के रूप में निःसृत होने का और लिपिबद्ध न होने पर भी शाश्वत बने रहने का मुख्य कारण मनुष्य-हृदय में निगूढ़ रहने वाली यही रसास्वादन-शक्ति है। लोकगीतों की अमरता का रहस्य भी यही है।

यह सैद्धान्तिक परिचय प्राप्त करने के बाद मलयालम् के उन लोकगीतों पर, जो अब उपलब्ध हैं, कुछ विस्तार के साथ दृष्टि-निक्षेप कर लेना आवश्यक है।

केरल भाषा का प्राचीन साहित्य तोट्टंपाट्टु, पुल्लुवनपाट्टु, निड़लकूत्तुपाट्टु, मावारतंपाट्टु, देशत्तुकलि, आण्डिकूत्तु, वल्लान्पाट्टु, मलंपाट्टु, तुम्मिपाट्टु, आटुपाट्टु वञ्चिपाट्टु आदि लोकगीतों में मिलता है। किन्तु इन गीतों में बहुत से आजकल उपलब्ध नहीं हैं; क्योंकि कुछ वर्ष पूर्व तक इनमें से एक भी लिपिबद्ध नहीं था। जब साहित्य-प्रेमियों को इन्हें लिपिबद्ध करके शाश्वत बनाने की इच्छा हुई तब तक इनका एक सिंहभाग बिलुप्त हो चुका था।

लोकगीतों में सबसे अधिक प्राचीनता 'तोट्टंपाट्टु' में दिखलाई पड़ती है। इस अनुमान की प्रेरणा इस गीत के साथ निबद्ध कर्म-समूह की प्राचीनता से प्राप्त होती है। इस गीत के दो भाग हैं। जो अंश प्राचीनतम मालूम होते हैं उन्हें 'पानत्तोट्टं' अथवा 'पानप्पाट्टु' कहा जाता है, शेष भाग को 'कलंपाट्टु' कहते हैं। इन दोनों का साधारण नाम 'भद्रकालीपाट्टु' है; क्योंकि ये दोनों ही भद्रकाली की पूजा में गाये जाते हैं। शक्ति-पूजा, विशेषतः भद्रकाली के रूप में देवी की पूजा, केरल की एक विशेषता है। आज भी केरल में स्थान-स्थान पर काली देवी के मन्दिरों और कुंकुम-रंजित ललाटवाले देवी-भक्तों के दर्शन प्रचुरता से होते हैं। 'पानत्तोट्टं' एक ऐसे युग का प्रतीक मालूम होता है, जबकि देवी के रूप का निर्णय नहीं हुआ था। 'पाल' (सप्तच्छद) नाम के एक

वृक्ष को देवी का धाम मान कर उसी की छाया में पूजा का आयोजन किया जाता था। सब स्थानों में 'पाल' वृक्ष न होने के कारण आगे चलकर उस वृक्ष की शाखा ला कर और उसे पूजा-स्थान पर स्थापित करके पूजा की जाने लगी। इस गीत में मुख्य कर्म 'पाल'-वृक्ष की शाखा स्थापित करना ही है। संभव है, यह उस समय का द्योतक हो जब मनुष्य वर्षा और सूर्यातप से बचने के लिए निबिड शाखावाले वृक्षों की छाया का आश्रय लेते थे और उस उपकार-स्मरण से उन वृक्ष-देवताओं की पूजा करने लगे। इतिहास से भी यही ज्ञात होता है कि मा के समान प्रेम से अपनी शीतल छाया में रक्षा देनेवाले वृक्षों की पूजा 'माता' के संकल्प से करना प्राचीन आचार है। इसके अतिरिक्त इस गीत से यह भी ज्ञात होता है कि रक्त का रंग 'माता' को विशेष प्रिय है। यह भी 'रक्त-सेवा' (ब्लड-कल्ट)—काल का प्रतीक मालूम होता है। 'पानप्पाट्टु' (पानत्तोट्टम्) की भाषा गद्य-पद्य सम्मिश्र है। वह एक ऐसे समय का प्रतीक है जब गद्य और पद्य का रूप-विभाजन स्पष्ट नहीं हुआ था। उसमें एक वेताल-वर्णना है, जो उसके गद्यांश का उदाहरण है। परन्तु उसमें ऐसे अंशों की भी कमी नहीं है, जिन्हें गीत कहा जा सकता है। एक गीत के कुछ चरणों का अनुवाद यह है :

"रक्तबलि अन्दर लाकर, कोने से कोने तक तोरण बाँध कर, पत्तों की माला से अलंकृत किया। उसके बाद स्त्रियों ने भूमि को झाड़ू लगाकर साफ किया और गोबर से लीपकर पवित्र किया। फिर पुष्प चुनकर अर्चना करके प्रणाम किया। अब आपके चरणों की पूजा शुरू करते हैं।"

इन गीतों का दूसरा और अनुगत रूप 'कलं पाट्टु' माना जाता है। 'कलं' शब्द का अर्थ है "तैयार की हुई भूमि"। यह शब्द विशेषतः उस स्थान के लिए प्रयुक्त होता है जो रंग-चूर्णों से पूजा के लिए बनाया जाता है। इन गीतों में विविध रंगों से भूमि पर 'माता' (देवी) का रूप बनाने की विधि बताई गई है। अर्थात्, इस समय 'अरूपिणी' देवी का

रूप-निर्णय करने का प्रयत्न आरम्भ हो चुका था। 'मा' का रूप बना इतना ही नहीं, विविध रंगों के चूर्ण से उसका शृङ्गार भी किया जाने लगा था। देवी की वर्णना सम्बन्धी गीत में, जिसका नाम 'निरं पाट्टु' (रंगों का गीत) है, यह भी बताया गया है कि किस अंग के लिए किस रंग का उपयोग किया जाना चाहिए। इन गीतों में विविधता, साहित्य-रसिकता तथा कला-चातुर्य स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। ये गीत साधारण लोक-गीतों में नहीं हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि इन गीतों का उद्देश्य आध्यात्मिक है, ये तारतम्येन उच्च कोटि के हैं और इनके गायक भक्त लोग हैं; अतएव स्वभावतः ही इनमें ज्ञान तथा सहृदयता अधिक है। साधारण लोकगीतों के गायकों से संस्कारों में इनका स्थान कुछ ऊँचा ही होगा। दूसरा कारण यह हो सकता है कि इनके आध्यात्मिक पश्चात्तल के कारण आगे चल कर मन्दिरों और उनके स्थापक ब्राह्मणों के साथ इनका सम्बन्ध बढ़ा हो और कालानुसार इनकी भाषा आदि में परिवर्तन होता गया हो। कुछ भी हो, इन दोनों गीतों की प्राचीनता में और 'पानपाट्टु' तथा 'कलंपाट्टु' के पूर्वापर्य में भी शंका का कोई कारण मालूम नहीं पड़ता। 'तोट्ट' शब्द भी इनकी प्राचीनता का द्योतक है। यह शब्द 'तोन्नल्' (अर्थात्, मन में आना) धातु से बना है। इस दृष्टि से 'पानत्तोट्ट' या 'तोट्टंपाट्टु' का अर्थ होगा : 'गाने के लिए हृदय से निकला हुआ गीत।' हृदय से निकल कर श्रोतागण के हृदय में प्रतिध्वनित होने वाले इन गीतों का 'तोट्टंपाट्टु' नाम पूर्णतः सार्थक प्रतीत होता है।

अनेक 'तोट्टंपाट्टु' अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं। उनमें से 'माक्कं तोट्टं' और 'ओतेनन तोट्टं' आदि की ओर सहज ही ध्यान आकर्षित होता है। 'माक्कं तोट्टं' में उत्तर केरल के एक नायर परिवार की सन्तानवल्ली 'माक्कं' की दुरंत-दुरित कथा का चित्रण किया गया है, जिसका सार इस प्रकार है :

उत्तर केरल में एक परिवार 'कटंकोट्टु' के नाम से प्रसिद्ध था।

उसमें सात भाइयों के पश्चात् एक बहन पैदा हुई। उसका नाम 'माक्कं' रखा गया। वह अति रूपवती तथा सद्गुणी थी। भाइयों के लिए वह आँखों का तारा ही थी। माता-पिता की मृत्यु के बाद वह विधवा हो गई और अपने भाइयों के साथ रहने लगी। भाभियों को उसका वहाँ रहना अच्छा न लगता था और उनकी ईर्ष्या उस पर अग्नि-वर्षा करने में कभी न थकती थी। उसकी क्षमा, शालीनता और प्रेमी स्वभाव उस ईर्ष्याग्नि पर घृत-वर्षा का ही काम करता था। भाभियाँ सदा ही उसके विरुद्ध भाइयों के कान भरा करती थीं। एक दिन सातों भाई किसी कार्यवश बाहर चले गए थे और सब भाभियाँ नदी में स्नान करने गई थीं। माक्कं रजस्वला होने के कारण 'दूरगृह' में थी। ऐसे समय पर तेली नारियल का तेल लेकर आया। घर में कोई न होने से माक्कं को उससे बात करनी पड़ी। उसने तेली से तेल अन्दर रखवा दिया। इतने ही में भाभियाँ लौटकर आ गईं और उन्होंने अपनी विधवा ननद पर तेली के साथ अनुचित सम्बन्ध का अभियोग लगा दिया। जब भाई लौटकर आये तो उन्होंने उन्हें भी समझा दिया कि उनकी छोटी बहन कुलटा और कुलनाशिनी है। इस अपवाद से रोषाकुल होकर सबने उसे तरह-तरह की यातनाएँ देना आरम्भ कर दिया। सबसे छोटे भाई और भाभी की उसके साथ सहानुभूति थी, किन्तु अग्रजों के सामने उनको विवश हो जाना पड़ा। फिर भी बहुत अनुनय-विनय करके उन्होंने उसके प्राण बचा लिए। परन्तु स्वाभिमानिनी माक्कं ने इसके पश्चात् जीवित रहना पसन्द नहीं किया। उसने पास के जंगल में जाकर अपने चार बच्चों को एक कुएँ में डाल दिया और स्वयं ने भी उसमें कूदकर मृत्यु का वरण किया। उसकी मर्मव्यथा ने शाप के रूप में भाइयों और भाभियों पर आक्रमण किया और कटंकोट्टु गृह में अचानक आग लग गई और भाई-भाभी रक्त वमन करके अपने-आप मर गए। केवल छोटा भाई और उसकी पत्नी जीवित रहे।

उस अन्यादृश महत्व-प्रकटन के उपरान्त माक्कं देवी के रूप में पूजी

जाने लगी। अपने आत्माभिमान, सत्यनिष्ठा और निर्दोषिता के लिए वह आज भी केरलीय जनता के लिए आदर्श है। उसके सम्बन्ध में बना हुआ गीत ही 'माक्कंतोट्टं' है।

इन गीतों की एक विशेषता यह है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में इनकी भाषा भी व्यत्यस्त दिखलाई पड़ती है। देवी के रूप तथा नाम में भी अन्तर मालूम होता है। कोटंुगल्लूर से दक्षिण की ओर जाने पर भद्रकाली का नाम 'कन्नकी' हो जाता है। यह 'चिलप्पतिकारं' नामक ग्रन्थ की नायिका का भी नाम है। इस ग्रन्थ का काल ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी माना जाता है, परन्तु इसकी रचना के बहुत पहले 'कन्नकी' की कहानी केरल में प्रसिद्ध थी और उस जन्मदु:खिनी सती को देवी मान कर पूजा जाने लगा था। अतएव अनुमान किया जाता है कि 'कलं पाट्टु' नामक गीत का, जिसमें भद्रकाली की पूजा-विधि का निरूपण है, इस ग्रन्थ की रचना से कई शताब्दी पूर्व प्रचार हो चुका था।

भाषा-शास्त्रज्ञों का मत है कि व्याकरण के नियम जितने कम दिखलाई देते हों, भाषा उतनी ही पुरानी माननी चाहिए। इसके अनुसार भी ये गीत प्राचीनतम माने जाने चाहिए। इनमें तमिल शब्द दिखलाई नहीं देते। इनमें से कुछ की प्राचीनता बीस-बाईस शताब्दी की मानी गई है।

'ब्राह्मणी पाट्टु' (ब्राह्मणियों के गीत) भद्रकाली के मन्दिरों में तथा मंगल-अवसरों पर नायर-परिवारों में गाये जाते थे। 'तीयाट्टुपाट्टु' और 'पुल्लुवन पाट्टु' धार्मिक अवसरों के गीत हैं। 'पुल्लुवन पाट्टु' को 'सर्प पाट्टु' भी कहा जाता है। पुल्लुवन एक जाति का नाम है। इस जाति के लोग अब भी छोटी-छोटी वीणाएँ लेकर घर-घर घूमते हैं और सर्प को प्रसन्न करने के लिए गाने गाते हैं। जहाँ-जहाँ सर्पों के लिए 'कावु' (अधिष्ठान-वन) बने होते हैं वहाँ जाकर ये लोग पूजा भी करते हैं। इनकी जीविका का साधन ही इस प्रकार गाने गाकर और पूजा करके केरल के परिवारों को सर्पों का अनुग्रह प्रदान कराना है।

पुल्लुवन-पाट्टु अथवा सर्प-पाट्टु नामक गीतों में, जिन्हें इन अक्षर-ज्ञान-विहीन लोगों ने परम्परागत रूप से गा-गाकर जीवित रखा है, यदि अक्षरों, मात्राओं या आशय की गलतियाँ हों तो आश्चर्य क्या ? ये गीत 'कर्ल पाट्टु' और 'तोट्टं पाट्टु' आदि की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टि से निम्न कोटि के हैं। सर्प-पाट्टु की बानगी निम्नलिखित पंक्तियों में पाई जा सकती है :

"मेरे काल-सर्प, तुम कहाँ से आ रहे हो ?"
"अंडों से निकल कर आये हैं।"
"हाय ! कालीअम्मा ! बैठने के लिए बिल भी तो नहीं है।"
"अगणित अंडे दिये और चौगुने बच्चे निकले।"

तोट्टं गीतों से अन्य लोकगीतों में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। अन्य लोकगीत उतने प्राचीन भी नहीं मालूम होते। सम्भव है, समय के विपर्यय से तोट्टं गीत पुजारियों की सुरक्षित सम्पत्ति बनकर साधारण जनता से दूर होते गये हों। परन्तु रसास्वादन की अभिरुचि साधारण जनता में कम नहीं होती; अतएव अपने-अपने विचारों और शक्ति के अनुसार साधारण लोग भी 'कवित्त' (कविता) रचने लगे। ग्रामों में प्रचलित तथा इधर-उधर से सुनी हुई कहानियों ने इन ग्राम-कवियों को प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में से एक पूछता है :

"किसके बारे में कविता लिखें ?
कविता करने की इच्छा से तो मन व्याकुल हो रहा है !"

स्पष्ट है कि वीरों के अपादान, स्थल-माहात्म्य, देवी-देवताओं की सुनी हुई कहानियों आदि ने इन कवियों को इतिवृत्त प्रदान किये। इतिहास के परे अनेक ऐतिहासिक बातें इनमें उपलब्ध हैं। 'वटक्कन पाट्टु' 'तंपुरान पाट्टु' और 'तेक्कन पाट्टु' आदि गीत इसी प्रकार बने हुए हैं, जिन्हें परम्परागत रूप से गा-गाकर सुरक्षित रखा गया है।

'निड़लकूत्तु पाट्टु' शत्रु-संहार के लिए गाया जाने वाला गीत है। इसका मुख्य आख्यान महाभारत का है; किन्तु उसके बीच-बीच में अनेक

स्व-कपोलकल्पित कहानियाँ गुथी हुई हैं। संक्षेप में गीत का इतिवृत्त यह है :

कौरव-बन्धु पांडवों का अभ्युदय देखकर अतीव अस्वस्थ होते हैं और एक 'मलवासी' (गिरिवासी) को बुलाकर आज्ञा देते हैं कि वह आभिचार-प्रयोग से उन्हें कथावशेष कर दे। मलवासी पहले इनकार करता है, किन्तु बाद में कौरवों के अतिशय आग्रह से उनकी इच्छा पूर्ण करने को तैयार हो जाता है। अन्त में वह पांडवों की छाया का आवाहन करके मारक-प्रयोग करता है। वह सफल-प्रयत्न होकर जब अपने घर पहुँचता है तो उसकी पत्नी उसे राज-पारितोषिकों से लदा हुआ देखकर सब रहस्य समझ लेती है। वह तुरन्त पांडवों के निवास स्थान पर पहुँचती है और परिहार कर्मों का आयोजन करके उन्हें पुनः जीवित करती है।

परन्तु पूरे महाभारत की कहानी भी इन लोकगीतों में 'मावारतं' के नाम से विद्यमान है। एक बार जब पांडव द्वैतवन में विचरण कर रहे थे, उस वन में आग लग गई; तब :

"कुञ्चुदेवी (कुन्तीदेवी) ने बाल खोलकर, उन बालों के बीच अपने बच्चों को छिपा लिया। तो, आग की चिंगारियाँ उड़कर उनके पास ही आने लगीं और उनके चारों ओर फूलों की जैसी बरसने लगीं। तब भीम ने आकर आग बुझाई और माँ के पास जाकर प्रणाम किया। फिर कन्द-मूल आदि लाकर उन सबको खिलाया और कुन्तीदेवी बच्चों के साथ वन में रहीं।"

इन कृतियों की भाषा स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि अपने काल में तमिल या किसी अन्य भाषा के संपर्क अथवा संमिश्रण के बिना कैरली कितने समर्थ साहित्य की अधीश्वरी थी।

इनके अतिरिक्त, कोलड़िप्पाट्टु, पडप्पाट्टु, ओणप्पाट्टु कृषिप्पाट्टु आदि तरह-तरह के गीत प्राचीन काल में विद्यमान थे। इनके जो अंश इधर-उधर आज भी सुनने को मिलते हैं उनसे निश्चित रूप से ज्ञात होता

है कि इनकी उत्पत्ति उन कालों में हुई जबकि केरल की संस्कृति शुद्ध और सुरक्षित थी। इन गीतों की रीति भी अत्यन्त चित्ताकर्षक है। नदी झील आदि जलाशयों से अलंकृत केरल में नौकागान का प्रचार भी स्वाभाविक है। यह एक आनन्दप्रद सत्य है कि प्राचीन गीतों की रीति और वृत्त में सुगुम्फित मालाओं को आज के केरलीय कविगण भी साहित्य-देवी का उपहार बनाते हैं।

इस प्रकरण में जिन लोकगीतों का वर्णन किया गया है उनमें राग, ताल, लय और प्रवाह का अभाव नहीं है। साहित्य-रस भी उनमें कम नहीं है। प्राचीन केरलीय समाज की जो झाँकी उनमें मिलती है वह एक उत्कृष्ट संस्कृति की परिचायिका है। अति प्राचीन गीतों से यह भी पता चलता है कि उस काल में जनता शिव, काली आदि शैव देवताओं की पूजक थी; भूत-प्रेत आदि तथा दुर्देवताओं में भी उसकी श्रद्धा अटल थी। वहाँ के लोग आयुध-विद्या के साथ-साथ अक्षरविद्या के भी प्रेमी थे। स्पष्टवादिता और सीमातीत स्वाभिमान उनकी विशेषता थी। गीतों में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है, जिनमें मन्त्री राजा से, सेवक सेव्य से, छोटी बहन बड़े भाई से और पत्नी पति से अप्रिय पथ्य-वाक्य सरलतापूर्वक कहती है। केरलीय लोग जन्मना वीर-व्रती थे। मातृदुग्ध के साथ वंश की अभिमान-रक्षा का कर्तव्य भी बच्चों के शिरा-चक्रों में प्रविष्ट होता था। पुत्रों को वीरता का उपदेश देकर समरांगण में भेजने वाली माताओं के दर्शन उन गीतों में जगह-जगह पर होते हैं:

"युद्ध में आमने-सामने लड़कर मृत्यु पा जाओगे तो मैं तुम्हें सोने की डोली में उठवा लाऊँगी। परन्तु यदि तुम पीठ पर तलवार खाकर मरे तो अनाथ शव के समान हरे पत्तों में बँधवाकर खिचवाऊँगी और न तुम्हारी शेष-क्रिया करूंगी, न अशौच-स्नान ही करूँगी।"

परस्पर प्रतिकार से निर्मूल हुए असंख्य परिवारों और वंशों की कहानियाँ उस अति दूर भूत के अन्धकार को चीर कर आधुनिक केरलीयों को भी जाग्रत रखती हैं। इसके अतिरिक्त, वेदान्त तत्त्वज्ञान के साथ

उत्साहमय प्रसन्नता का एक विचित्र मिश्रण उन कहानियों में दिखलाई पड़ता है। 'कोनार पाट्टु' और 'वल्लुवन पाट्टु' आदि इसके उदाहरण हैं। परन्तु 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाद के सत्य को अनुभव-गोचर बनाये हुए आचार्यों का शिष्यत्व प्राप्त होने पर भी उस प्राचीन काल में केरलीय कभी अकर्मण्य नहीं बने। उनका जीवन समरांगण से गृह-क्षेत्रों में और विनोदमय गृहांगण से क्षण-भर में भीषण युद्ध-क्षेत्रों में पहुँचाने वाली यात्रा ही बना रहा। इतने पर भी उनमें हास्य-रसिकता, विनोदप्रियता और उत्साहशीलता का अभाव दिखलाई नहीं पड़ता।

ये साधारण गीत, जो संख्या और विविधता में अद्वितीय हैं, साहित्य के इतिहास के लिए अमूल्य निधि हैं। दुःख की बात इतनी ही है कि आधुनिक नागरिकता की विकृत प्रकाश-प्रचंडता में यह सौम्य चन्द्रिका-विलास अन्तर्हित होता जा रहा है और उसे पुंजीकृत करके सुरक्षित कर लेने का प्रयास कोई भी नहीं कर रहा है। इस प्रकार के लोकगीतों की संख्या गणनातीत है। कोई गवेषक-संघ योजना बनाकर अविराम प्रयत्न करे तो इस अमूल्य निधि का संकलन हो सकता है। इतना तो निश्चित है कि इस प्रकार प्रयत्न किया जाय तो पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं होगी। इतना ही नहीं, कृतकृत्यता की आनन्दानुभूति में ही निर्वृति हो सकेगी।

: ४ :

द्राविड़ प्रभाव काल

साहित्य की पुरोगति में किसी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश की कोई स्पष्ट सीमा-रेखा बताई नहीं जा सकती। केरलीय लोक-गीतों में तमिल भाषा का जो प्रभाव दिखलाई पड़ता है वह कब पड़ा यह कहना भी उतना ही कठिन है। केवल इतना कहा जा सकता है कि एक समय ऐसा आया जब कि यह प्रभाव अनिवार्य हो गया। किन्तु लगभग उसी समय आर्य ब्राह्मणों के आगमन से संस्कृत का प्रभाव भी दिखलाई पड़ने लगा। मलयाल भाषा की दाक्षिणात्य कृतियों में तमिल का प्राचुर्य और उत्तर के ग्रन्थों में संस्कृत पदों का समावेश दिखलाई पड़ता है। कुछ भाषा-शास्त्रज्ञों का मत है कि 'रामचरितम्' और 'रामकथाप्पाट्टु' नामक दो कृतियाँ प्राचीनतम मलयालम् साहित्य के नमूने हैं। परन्तु इस प्रश्न पर जितना ही विचार किया जाता है, यह जटिल से जटिलतर होता जाता है। किसी ग्रन्थ में तमिल शब्द अधिक मिलें तो उसे प्राचीन काल की कृति मानना, संस्कृत पदों की प्रचुरिमा हो तो मध्य काल की कृति मानना और भाषा सरल तथा प्रौढ़-गम्भीर मिले तो उसे अर्वाचीन मान लेना कुछ विद्वानों को प्रिय मालूम होता है। इस तर्क की दुर्बलता स्पष्ट है। केवल भाषा-शैली के आधार पर "रामचरितम्" की प्राचीनता का निर्णय नहीं किया जा सकता। गवेषणशील पंडितों का अनुमान है कि यह ग्रन्थ ईसा की छठी शताब्दी में निर्मित हुआ होगा।

इस कृति का कथानक वाल्मीकि रामायण का युद्धकाण्ड है। उसमें

सर्वत्र वाल्मीकि का पूर्ण अनुकरण दिखलाई पड़ता है। साथ-साथ औचित्य के अनुसार कवि अपना वाग्मित्व भी प्रकट करता है। निम्न-लिखित उदाहरण उपयोगी होगा—

"पुष्प से निकली सुन्दरी लक्ष्मीदेवी के हृदय में निवास करने वाले हे अरविन्दाक्ष ! ब्राह्मणों, योगिजनों आदि के विह्वलता के साथ खोजने पर भी छिपे रहने वाले परम ज्ञान-स्वरूप ! घनघोर वर्षा को पहाड़ पर झेल लेने वाले भगवन् ! आपने राजा बनकर राक्षसाधिपति का वध किया था। उस कथा को सुन्दर काव्य में निबद्ध करने के लिए मुझ पर अनुग्रह कीजिए !"

प्राचीन केरल साहित्य में श्लोकवृत्त कहीं दिखलाई नहीं पड़ते। संस्कृत-सम्पर्क आरम्भ होने तक कविता मात्रावृत्तों में ही रची जाती थी। 'द्राविड़ भाषा संघाताक्षर निबन्धनमेतुका मोन वृत्त-विशेष-युक्तं पाट्टु' (अर्थात्, द्राविड़ भाषा के अक्षरों से 'एतुका' तथा 'मोन' वृत्त में निबन्धित कविता 'पाट्टु' है) इस नियम का पूर्णतः अनुसरण करने वाला 'रामचरितम्' पाट्टु-वर्ग में ही सम्मिलित होता है। उसमें निबन्धित सभी वृत्त किसी-न-किसी रूप में भाषा में आज तक उपलब्ध हैं।

यद्यपि अनेक पंडितों का मत है कि 'रामचरितम्' का निर्माण-काल संस्कृत का सम्पर्क होने से पहले है, स्वयं 'रामचरितम्' के अन्तर्गत इसके विरुद्ध प्रमाण उपलब्ध हैं। उसमें अनेक संस्कृत शब्दों के विकृत रूप पाये जाते हैं। यह कृति भाषा-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अमूल्य सम्पत्ति है।

पिछले प्रकरण में बताये हुए गीतों के अतिरिक्त 'उलकुटय पेरुमाल पाट्टु', 'अंचु तंपुरान पाट्टु' आदि वीर-रस प्रधान, 'आर्द्रा' आदि त्योहार-सम्बन्धी, 'कल्याणक्कलि', 'कैकोट्टिक्कलि' आदि विशेष प्रसंगों पर गाये जाने वाले गीत, 'ऊञ्ञाल पाट्टु' अर्थात् झूले के गीत समस्त केरल में देशभेद के अनुसार पाठ-भेदों के साथ बिखरे हुए हैं। इन्हें एकत्र करके छपवाने का प्रयत्न अभी केरल-पंडितों के विचाराधीन

है। जब वह सफल होगा तब निश्चय ही कैरली अपनी खोई हुई निधि पुनः प्राप्त करेगी।

इतिहासकारों का मत है कि केरल में ब्राह्मणों का आगमन ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व हुआ। उन्होंने नागों पर अपना प्राबल्य स्थापित करने के लिए जो प्रयत्न किये उनमें मुख्य था केरलीयों में संस्कृत की शिक्षा का प्रचार। जिस प्रकार अंग्रेजों के आधिपत्य-काल में अंग्रेजी जानने वाला ही शिक्षित और आदरणीय समझा जाता था उसी प्रकार आर्यों के प्रभुत्व में आर्य-भाषा का ज्ञान सम्माननीय माना जाता हो यह स्वाभाविक ही होगा। इसी प्रकार जब तमिल देश के राजाओं का आधिपत्य हुआ उस समय तमिल भाषा का गौरव बढ़ा। तमिल भाषा मलयालम् की सगोत्रजा थी, अतएव उन दोनों का परस्पर मिल जाना सरल भी था। ब्राह्मणों और क्षत्रिय विदेशियों के सम्मिलित शासन-काल में भाषा पर जो प्रभाव पड़ा वह तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

पेरुमाल शासन के कारण केरल में तमिल पण्डितों का आगमन प्रलय-प्रवाह के समान हुआ। सीमावर्ती दक्षिण केरल में इसका विशेष प्राबल्य था। इस शासन की आठ-दस शताब्दियों तक केरली पर द्राविड़ वाणी का पूर्ण प्रभाव रहा।

द्राविड़ सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप मलयालम् भाषा का शब्द-भण्डार बहुत समृद्ध हुआ। केरलीय गद्य-साहित्य को प्राचीन भाषा में 'तमिल' कहते हैं। परन्तु इस नाम का उस भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। मलयालम् में गद्य-साहित्य का प्रादुर्भाव बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था, जो काली-नाटक आदि कृतियों में दिखलाई पड़ता है। पुराण-कथाएँ कहने अथवा धार्मिक चर्चाओं आदि में गद्य-रीति का उपयोग साधारण रूप से हुआ करता था। 'लीलातिलक' नामक व्याकरण-ग्रन्थ में इस गद्य-रीति को 'तमिल' कहा गया है। साथ-साथ 'तमिल' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"केरलानाम् द्रमिल शब्द वाच्यत्वाद् अपभ्रंशेन तद् भाषा तमिलित्युच्यते। चोल केरल पांड्येषु द्रमिड़ शब्दस्य वा प्रसिद्धा प्रवृत्तिः।"

अर्थात्, केरलीयों को द्रमिल कहा जाता है। अतएव उनकी भाषा—द्रमिल भाषा—अपभ्रंश रूप में तमिल भाषा कहलाती है। अथवा, यों कहिए कि चोल, केरल और पाण्ड्य तीनों को द्रमिल कहा जाता है, इसलिए उन तीनों की भाषा को अपभ्रंश रूप में तमिल कहा जाता होगा।

मंदिरों में 'पाठकम्' कहने की प्रथा जब से मन्दिरों की स्थापना हुई तभी से चली आ रही है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयुक्त पुराणों तथा इतिहासों को गद्य रूप में विवर्तित किया जाता था। भागवतम्, भारतम्, रामायणम्, देवीमाहात्म्यम् आदि धार्मिक इतिवृत्त, भगवद्गीता गद्यम्, द्वादशवर्णक गद्यम् आदि आध्यात्मिक तत्व प्रतिपादक इतिवृत्त और मत्तविलासम् आदि प्रहसन-जैसे अनेक प्राचीन ग्रन्थ आजकल उपलब्ध हैं। यह तो सम्भव नहीं कि ये सभी ग्रन्थ, जो संख्या में सौ से अधिक हैं, एक ही काल में निर्मित हुए हों। अति प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक इस प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण चलता ही रहा। इन सब गद्य-ग्रन्थों को तमिल कहा जाता है, फिर भी इनकी भाषा इतनी अधिक संस्कृतप्रचुर है कि आधुनिक मलयालियों को "शर्करा-कण्टक निम्नोन्नत भू-विभाग" जैसी दुर्गम मालूम होती है। इनमें तमिल भाषा के जैसे पुरुष प्रत्ययों के प्रयोग तो दिखाई देते हैं, किन्तु तमिल शब्दों की विशेषता दिखलाई नहीं पड़ती।

तो फिर, तमिल-सम्पर्क का विशेष दान क्या है? इसका उत्तर खोजने पर 'पावकूत्तु' (गुड़ियों का खेल) याद आता है। भद्रकाली के स्थानों में, जिन्हें मलयालम् में 'कावु' कहते हैं, इस प्रकार के छाया-नाटक खेले जाते थे। इनके इतिवृत्त सुप्रसिद्ध तमिल कवि कम्पर की रामायण से लिये जाते थे। एक लम्बी किन्तु संकरी कुटी बनाकर उसके सामने सफेद कपड़े का परदा डाल दिया जाता था। कुटी के अन्दर नारियल

की दो नरेटियों में दिये जला दिये जाते थे। इतने से रंगमंच तैयार हो जाता था। परदे के पीछे छोटी-छोटी गुड़ियाँ खड़ी की जाती थीं। उनकी छाया परदे पर दिखलाई पड़ती थी। उत्तर भारत में जो कठ-पुतलियों का नाच होता है उससे इसकी तुलना की जा सकती है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'पावकूत्तु' में गुड़ियों को खड़ा करके कथा-कथन स्वयं सूत्रधार करता था। उसकी सफलता वर्णन करनेवालों की कुशलता पर निर्भर करती थी। दूसरे, उसमें जो साहित्य होता था वह उत्तर भारत के कठपुतलियों के नाच में दिखलाई नहीं पड़ता। यह पावकूत्तु और इसके इतिवृत्त ही तमिल-सम्पर्क की देन हैं। इससे ही आगे चलकर केरल के मन्दिरों में 'पाठकम्' का विकास हुआ, जो अब भी किसी-किसी मन्दिर में सुनाई पड़ता है और जिसमें 'चाक्यार' जाति का कोई व्यक्ति पुराण-कथा कहता है।

इस काल में अनेक गद्य तथा पद्य-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन ग्रन्थों में धार्मिक, सामाजिक, वैद्यकीय और ज्योतिष आदि सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थ भी थे। इसी समय पहली बार कैरली का व्याकरण लिखा गया, जो 'लीला-तिलकम्' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ संस्कृत सूत्रों में है और मणिप्रवाल लक्षणम्, मणिप्रवाल विभाग, व्याकरण नियम, काव्यदोष, काव्यगुण, शब्दालंकार और रस आदि के आठ परिच्छेदों में पूर्ण किया गया है।

'लीलातिलकम्' के रचयिता के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, परन्तु आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि वह ईसा की छठी शताब्दी में जीवित था तो कोई असांगत्य दिखलाई नहीं पड़ता। 'लीलातिलकम्' की रचना के समय द्राविड़ प्रभाव-काल समाप्त होकर संस्कृत प्रभाव-काल आरम्भ हो चुका था यह भी सहज स्पष्ट है।

पेरुमाल के अभिषेक-काल से तमिल का जो प्रभाव बढ़ रहा था वह बहुत दिनों तक नहीं चल सका। विद्याबुद्धि-सम्पन्न आर्य ब्राह्मण

अपनी नीति-निपुणता से अपनी शक्ति बढ़ाते ही गये। उन्होंने अपने मुख्य उपकरण संस्कृत भाषा का खूब प्रचार किया। इसी समय कैरली के मणि-प्रवाल रूप अर्थात्, सरल संस्कृत शब्दों को मलयालम् शब्दों के साथ मणि और प्रवाल के समान गूँथने की शैली का प्रचार आरम्भ हुआ।

मणि-प्रवाल भाषा-शैली के विकास को समझने के लिए पेरुमाल-काल में संजात अभिनय-कला के तीन रूपों पर ध्यान देना आवश्यक है—ये रूप हैं, शास्त्रक्कलि, चाक्यार कूत्तु और कूटियाट्टम्। इनमें से शास्त्रक्कलि के सम्बन्ध में निम्नलिखित ऐतिह्य सुना जाता है :

एक पेरुमाल के शासन-काल में कुछ बौद्ध-भिक्षु जनता का मत परिवर्तित करने के लिए केरल में आये। वे राजसभा के शास्त्रज्ञों के साथ शास्त्रार्थ करने लगे। वाद बढ़ने पर यह शर्त लगाई गई कि परा-जित पक्ष को विजयी पक्ष का मत स्वीकार करना होगा। अन्त में जब कैरली ब्राह्मणों को अपनी विजय की कोई आशा नहीं रही तो वे मिलकर तृक्कारियूर क्षेत्र में भजन करने चले गये। इकतालीसवें दिन एक परदेशी (तमिल) ब्राह्मण उनके पास आया और उन्हें एक गीत-मन्त्र का उपदेश तथा चार ब्राह्मणों को उस मन्त्र के साथ दीप-प्रदक्षिणा करने का आदेश देकर अन्तर्धान हो गया। ब्राह्मणों ने इस मन्त्र के साथ इकतालीस दिन दीप-प्रदक्षिणा तथा भजन में और बिताये। इस 'मंडल' (इकतालीस दिन)-व्रत के अन्त में परदेश से छः मीमांसक आये और उन्होंने बौद्धों को पराजित किया। तब से गान के साथ दीप-प्रदक्षिणा का केरल में प्रचार हो गया। कालान्तर में इसके साथ अनेक अन्य क्रिया-पद्धतियाँ मिल गईं। इन सबको मिलाकर शास्त्रक्कलि कहा जाता है।

यदि यह ऐतिह्य यथार्थ हो तो कई प्रमाणों से यह स्थापित होता है कि शास्त्रक्कलि (शास्त्र-सम्बन्धी खेल) का आरम्भ ईसा की आठवीं शताब्दी के बाद हुआ।

शास्त्रक्कलि के चार भाग हैं—चारपाद, पान, अभिनय तथा हास्य। इनमें चारपाद वह है जिसमें चार ब्राह्मण निम्न अर्थ का गीत वेदस्वर में गाते हुए प्रज्ज्वलित दीप की प्रदक्षिणा करते हैं :

"हे तृक्कारियूर-प्रतिष्ठित भगवान् त्रिनेत्र ! सदा इस रंगमंच में सान्निध्य कीजिए। धोखा देने वाले भूतगण के आकर तंग करने से बचाते रहिए।"

इसके पश्चात् 'पान' (एक प्रकार का गीत) गाकर सब लोग दीप के चारों ओर बैठ जाते हैं और गणपति की स्तुति गाते हैं। फिर एक मटका उलटा कर और उस पर ताल बजाकर कुछ असम्बद्ध गाने गाये जाते हैं। उपस्थित ब्राह्मणों (नम्पूतिरि ब्राह्मणों) में से दो खड़े होकर कुछ अभिनय तथा हस्त-मुद्राएँ दिखाते हैं। अन्त में अनेक परिहासपूर्ण संलाप करने के बाद खेल समाप्त कर दिया जाता है। इस हास-परिहास के लिए अनेक रसिक कवियों ने गद्य तथा पद्य रचनाएँ की हैं।

शास्त्रक्कलि के अनुष्ठान किये जाते हैं, जो शास्त्रज्ञ ब्राह्मण शास्ता (हरि तथा हर के पुत्र माने जानेवाले देव, जिनकी पूजा केरल में ही विशेष है) को प्रसन्न करने के लिए मनौती के रूप में करते हैं। शास्त्रक्कलि में भाग लेने वाले ब्राह्मण केरल के अठारहों संघों के प्रतिनिधि होते थे, इसलिए उसे 'संघक्कलि' भी कहा जाता है। इसका एक नाम यात्रक्कलि भी है। सम्भवतः इसका यह नामकरण इसे बौद्धों को हराने के लिए आये हुए मीमांसक आचार्यों की घोष-यात्रा का प्रतीक मानकर किया गया होगा।

शास्त्रक्कलि के हास्य का रसास्वादन करने के लिए यहाँ उसका एक उदाहरण दे देना अनुचित न होगा :

अडिक्कोल्ला तलिक्कोल्ला।
अडुप्पिल् ती एरिक्कोल्ला।
उरङ्ङल्ला, उरङ्ङियाल् पिन्नुणरोल्ला।
उदिक्कोल्ला अस्तमिक्कोल्ला भगवान् पोलु...।

अर्थात्, झाड़ू मत लगाना, पानी से सींचना भी मत ! चूल्हे में आग मत जलाना। सोना नहीं, सो गये तो फिर जागना नहीं, सूर्य भगवान् का भी उदय न हो, अस्त भी न हो।

अब हम पेरुमाल शासन-काल की दूसरी देन—चाक्यारकूत्तु और कूटियाट्टम् का परिचय प्राप्त करेंगे। आर्य ब्राह्मण और नाग-वर्ग की स्त्रियों से जो सन्तानें हुईं उन्हें अवान्तर जाति बनाकर त्रिशंकु के समान बीच में लटका रखा गया। चाक्यार, नंपियार, वार्यर, कैमल्, पिषारोड़ि और नंपि आदि इस अन्तराल वर्ग में आते हैं। इनमें से चाक्यार, उनकी स्त्री नंङ्ङ्यार और कर्मचारी नंपियार मिलकर कूटियाट्टम् का अभिनय करते हैं। कूटियाट्टम् शब्द का अर्थ ही है—मिलकर नाचना; 'कूटि' अर्थात् मिलकर और 'आट्टक' या 'आडुक' अर्थात् नाचना। इनमें नंपियार का काम है 'मिलाव' नामक वाद्य बजाना और नान्दी तथा सूत्र-धार का कार्य निर्वहण करना। चाक्यार पुरुष-पात्र का और नंङ्ङ्यार स्त्री का वेश-विधान करके अभिनय करते हैं। प्रायः सभी मन्दिरों में कूटियाट्टम् एक आवश्यक कर्म माना जाता है।

पेरुमाल शासन के अन्तिम काल अर्थात् लगभग चौदहवीं शताब्दी में कूटियाट्टम् और चाक्यार कूत्तु दोनों की विशेष अभिवृद्धि हुई। कूटियाट्टम् के लिए पुराण-कथाएँ ही नाटक के रूप में लिखी जाती थीं। उनका रूप भी संस्कृत नाटकों के ही ढाँचे में ढाला जाता था। कुलशेखर नाम के एक पेरुमाल ने 'सुभद्रा-धनंजयं' और 'तपती-संवरणं' नामक दो नाटक लिखे थे। उनकी ही विद्वत्सभा के तोलन् नामक कवि ने 'आट्ट प्रकारं' और 'क्रम दीपिका' नाम के दो ग्रन्थ लिखकर और इन अभिनयों के क्रम तथा रूप का निर्देशन करके इस अभिनय-कला को सुगम बना दिया है। पहले ग्रन्थ में उदाहरण सहित बताया गया है कि नाटक अथवा प्रबन्ध के प्रत्येक पात्र को कैसा अभिनय करना चाहिए। दूसरे में प्रसंगानुसार करने योग्य उपक्रम की रीति, रंग के आरम्भ में अभिनेता की अनुष्ठान-पद्धति और विदूषक के योग्य आचार-व्यवहारादि

के नियम विस्तारपूर्वक बताये गये हैं।

चाक्यार कूत्तु भी थोड़ा-बहुत कूटियाट्टम् का ही रूपान्तर है। अन्तर इतना ही है कि चाक्यार अकेला ही 'कथा-कालक्षेप' के रूप में 'कूत्तु' कहता है। अर्थात्, यह एक प्रकार का एक-जनीय अभिनय है। उस काल में विनोद तथा विज्ञान का इसमें सम्मिश्रण होता था। चाक्यार को अपनी लाल पगड़ी बाँध लेने पर किसी के भी दोषों को स्पष्टतया प्रकट कर परिहास करने का अधिकार होता था। किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य ईश्वर कथा-प्रसंग द्वारा मनुष्यों में धर्म-बोध तथा भक्ति अंकुरित करना था। सामुदायिक शरीर में लगे हुए दोषों को सरस परिहास से प्रकट करके सुधारने का यह एक सुन्दर मार्ग था। परन्तु धीरे-धीरे चाक्यार इस स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग करने और उन्नत स्तर से उतरकर निम्न स्तर पर पहुँचने लगे। फलतः श्रोताओं और दर्शकों ने भी उनकी उपेक्षा आरम्भ कर दी और सभाओं में उनकी संख्या घटने लगी। अब केरल की अन्य प्राचीन कलाओं के समान यह भी नष्टप्राय हो चुका है। तोल और वासु भट्टतिरि आदि महाकवियों ने इनके लिए ही साहित्य निर्मित करके अमर यश प्राप्त किया है।

मलयालम् साहित्य में मणि-प्रवाल भाषा-शैली के आगमन में कूटियाट्टम् के विदूषक अत्यधिक सहायक हुए हैं।

अनुमान बंधता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ही कूत्तु और कूटियाट्टम् की प्रशस्ति बहुत-कुछ फैल चुकी थी। इतिहास से ज्ञात होता है कि चेंकट्टुअन नाम के चेर राजा के विनोदनार्थ एक चाक्यार चेर्त्तला से नीलगिरि तक गया था। किसी भी कला के इतनी परिपक्व स्थिति तक पहुँचने के लिए कम-से-कम दो शताब्दियों की आवश्यकता हुई होगी, इस दृष्टि से अनुमान किया जा सकता है कि ईसा के पूर्व ही कूटियाट्टम् तथा विदूषक केरल में प्रतिष्ठा पा चुके होंगे।

विदूषक का मुख्य कर्त्तव्य सभा के लोगों को हँसाना था। इसके लिए संस्कृत पदों के साथ भाषा-प्रत्यय और भाषा-पदों के साथ संस्कृत

प्रत्यय जोड़कर विकृत शब्दों का निर्माण किया गया। कालान्तर में ये विकृत प्रयोग इतने बढ़े कि इनको रोकने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इनके कुछ उदाहरण लीजिए :

पल्लितोल उटयाटस्य, यस्य पन्त्रण्टर प्रिया।

कोणच्चेट्ट अभिधानस्य, अर्धार्धं प्रणतोस्म्यहं ।।—तोल कवि[1] ।

जिस तरह संस्कृत में 'दन्त=दाँत' से 'दन्ति=हाथी' बन जाता है, वैसे ही 'पल्लु=दाँत' को 'पल्लि=हाथी' बना लिया गया। इसी तरह : पन्त्रण्ट=बारह, उसके आधे आरु=छः; यहाँ नदी, गंगा। 'मुक्कण'=त्रिनेत्र, शिव; त्रिनेत्र के आधे का आधा=पैर।

हाथी का चर्म पहनने वाले, गंगा के प्रिय और तीन नेत्र वाले भगवान के चरणों को नमस्कार करता हूँ।

बहुशोप्युपदेशेषु यया मां नोक्कमाणया।

हस्तेन स्रस्त शूर्पेण कृतमाकाश चेरितम्। —तोल कवि।

संस्कृत—'वीक्ष्यमाणया'=देखने वाली के द्वारा। यहाँ 'वीक्ष्य' के बदले उसी अर्थ का मलयालम् शब्द 'नोक्क' जोड़ दिया गया है। शेष सारा श्लोक संस्कृत में ही है।

बार-बार चारों ओर घूम-घूम कर मुझे खोजने वाली उसके (दासी के, जिसके साथ, कहा जाता है, कवि का अनुचित संबंध था) हाथों से सूप गिर गया और वह खाली हाथों से ही धान पछोरने लगी।

मुलञ्जासन सृष्टींकल विलङ्ङुम् चेर्जलोचने।

पोतिप्पेण्णच्छनोटोत्त मार्जद्वंद्वं विराजते ।।—तोल कवि।

अमरकोश में 'विरिञ्चः' और 'कमलासनः' दोनों को एक सिलसिले में ब्रह्मा के पर्यायवाची बताया गया है। बोलने में कवि को इनकी ध्वनि 'विरिञ्चक्कमलासनः' जैसी लगी। उसने 'विरिं' छोड़कर केवल

---

१. तोल कवि के सभी श्लोक मलयाल शब्दों में विकृत और विनोद मय अर्थ लगाकर निर्मित हैं। मलयाल शब्दों के अर्थ जानने से ही इन श्लोकों का स्वारस्य समझ में आ सकता है।

'चक्कमल+आसन' ले लिया। अब 'चक्क+मल'=कटहल का मल, अर्थात् उसके बीच का भाग जो खाया नहीं जाता। उसका प्रचलित पर्याय —'मुलञ्ञ'। इस प्रकार, 'मुलञ्ञासन'=विरिञ्चः, कमलासनः= ब्रह्मा।

पंक=चेर्=कीचड़; पंकज=चेर्ज=कमल। वक्षस्=मार्= छाती; वक्षोज=मार्ज=स्तन।

ब्रह्मा की सृष्टि में, हे शोभामयी कमलनयनी! तुम्हारे स्तन-द्वय पर्वत जैसे शोभायमान हैं।

इस प्रकार जब द्राविड़ प्रभाव कम हो रहा था और संस्कृत का प्रभाव विकृत रूप में बढ़ रहा था उस समय लीलातिलक-कर्ता ने अपना नियम-दण्ड लेकर रंगभूमि में प्रवेश किया। उन्होंने जिन नियमों का प्रतिपादन किया उनसे निरंकुश होकर चलने वाले दुष्कवियों को अंकुश लगा ही होगा। आगे का इतिहास बतायगा कि इस अंकुश का प्रभाव कहाँ तक और कितना हुआ।

तत्कालीन मलयाल भाषा की साहित्यिक कृतियों में 'कण्णश्शन पाट्टुकल' का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। इसमें 'कण्णश्शन' नाम को 'करुणेश' बना देने का प्रयत्न कवि ने किया है। सभी भाषा-शब्दों को संस्कृत का रूप देने की जो लालसा उस काल की विशेषता थी, यह भी उसीका प्रतिबिम्ब हो सकता है। देश-नामों को भी इसी प्रकार की परिणाम-सन्धि पार करनी पड़ी है। उदाहरणार्थ, 'वैट्टम् नाड्' को 'प्रकाश देशम्' बनाना पड़ा, कोड़िकोड़ को 'कुक्कुट क्रोडम्' और 'कटत्त नाड्' को 'घटोत्कच नाड्' में परिणत होना पड़ा। इस वातावरण में यदि भाषा-कवि बनने में प्रयत्नशील कण्णश्शन ने अपने को करुणेश बनाना चाहा तो काल का व्यतियान मानकर शान्त रहना ही उचित है। मध्य तिरुवितांकूर के 'निरणंदेश' में 'कण्णश्शनपरम्पु' नाम का एक स्थान है। वहाँ जिन कवियों ने जन्म लिया वे सब 'निरणं कवि' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। उनके सभी काव्य एक विशेष वृत्त में

गुंफित हैं। उसे भी निरणं वृत्त की संज्ञा प्रदान की गई है। इन सब कवियों की कविताओं को सामान्यतः 'कण्णश्शन पाट्टुकल' कहा जाता है। इन 'निरणं कवियों' और उनकी कृतियों के नामों का निश्चित पता नहीं है। परन्तु इनमें से एक कवि ने 'रामायणम्' की रचना की है और उसके 'युद्धकाण्डम्' तथा 'उत्तरकाण्डम्' के अन्त में स्वयं अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार 'करुणेश' नाम के 'उभय कवीश्वर' (दोनों भाषाओं में कविता लिखनेवाले महाकवि) को दो लड़के और तीन लड़कियाँ हुईं। सबसे छोटी लड़की के पुत्र का नाम राम पणिक्कर था। उसने गीत रूप में रामायण की रचना की। किन्तु, इस विवरण से कोई पता नहीं चलता कि वह 'उभय कवीश्वर' कौन था और उसने कौन-कौन सी रचनाएँ कीं। जो सामग्री प्राप्त है उसमें से हमें केवल रामायण-कर्ता राम पणिक्कर, भगवद्गीता परिभाषक माधव पणिक्कर और भारतम् के अनुवादक शंकर पणिक्कर का परिचय मिलता है।

माधव पणिकर कृत 'भाषा भगवद्गीता' उपनिषदों के सार-सर्वस्व श्रीमद्भगवद्गीता का स्वतन्त्र संक्षिप्त अनुवाद है। परिभाषक ने मूल ग्रन्थ के पुनरावर्तन के अंश अनेक स्थानों पर छोड़ दिये हैं। उन्होंने सात सौ श्लोकों का अनुवाद ३२५ पद्यों में किया है, परन्तु आशय अथवा अर्थ कहीं छोड़ा नहीं है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं शांकरभाष्य के नये-नये अर्थ भी सम्मिलित कर दिये हैं। पणिक्कर अपनी शक्ति से पूर्णतः परिचित मालूम होते हैं। उनकी कृति से स्पष्ट है कि उन्होंने निरन्तर पारायण, मनन तथा निधिध्यासन से गीता का निगूढ़ अन्तरार्थ पिघला कर अपनी विचार-सरणी में मिला लेने के उपरान्त ही इस महान धर्मग्रन्थ के अनुवाद का साहस किया। उनके कार्य की दुष्करता तभी समझ में आ सकती है जब हम उनके मार्ग की दुष्करता को समझें। वैभवशालिनी संस्कृत भाषा के गहनतम वेदान्त-ग्रन्थ का अनुवाद करना था पद-दारिद्रय से ग्रस्त कैरली में, और वह भी गीतिवृत्तों में। परन्तु

यह सब माधव कवि के लिए बाधा रूप नहीं हुआ। उस भाषा-भगवद्-गीता को पढ़ने पर प्रतीत होता है मानो शब्दावली कवि के बुलाने पर दौड़ पड़ने के लिए तैयार खड़ी हो। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने पारिभाषिक और वेदान्त सम्बन्धी शब्दों को मलयालम् रूप देकर या जैसा का तैसा भी स्वीकार कर लिया है।

'लीलातिलक' में मणि-प्रवाल की व्याख्या करते हुए आचार्य ने बताया है कि संस्कृत विभक्त्यन्त पदों का प्रयोग जितना अधिक होता है उतना ही कविता का महत्त्व घट जाता है। उन्होंने यह निर्देश भी किया है कि मलयालम् शब्दों के साथ केवल उन्हीं संस्कृत शब्दों को स्वीकार किया जाय जो उनके साथ सरलता से मिल जायँ। इस प्रकार 'पाट्टु' का जो नियम लीलातिलक के आचर्य ने बताया, 'कण्णश्शन पाट्टु' उसके अनुकूल है। परन्तु उन्होंने इन ग्रन्थों के कोई उदाहरण नहीं दिये। इससे केवल यही अनुमान निकाला जा सकता है कि आचार्य ने इन ग्रन्थों को देखा ही नहीं। शायद इनका काल 'लीलातिलक' के बाद का हो।

'भारतमाला'—कर्ता शंकर पणिक्कर ने भी ग्रन्थ के अन्त में अपना नाम अंकित किया है। यह एक अपूर्ण ग्रन्थ है।

रामायण-कर्ता राम पणिक्कर निरणं कवियों के बीच ही नहीं, भाषा के समस्त कवियों में श्रेष्ठ स्थान पाने योग्य हैं। रामायणं, भारतं, ब्रह्माण्डपुराणं, शिवरात्रिमाहात्म्यं और भगवतंदशमं आदि अनेक ग्रन्थ इन्होंने रचे हैं। ये ग्रन्थ केवल अनुवाद नहीं हैं। इन्हें अनु-करण कहना अधिक उपयुक्त होगा। अप्रतिहत प्रतिभा, अनुस्यूत वाक्-प्रवाह और विरल पाण्डित्य उनके स्वतःसिद्ध गुण मालूम होते हैं। भाषा साहित्यान्तरिक्ष में वे एक अत्युज्ज्वल नक्षत्र ही हैं।

इस नक्षत्र की प्रकाश-राशि का अतिक्रमण करके थोड़ा आगे बढ़ें तो अनतिदूर ही एक अन्य शान्त, शीतल तेजपुञ्ज का प्रभा-स्फुरण दृष्टिगोचर होता है। वह है—उत्तर की पण्डित-परिषद् का मुकुटालंकार,

कोल-स्वरूप राजवंश की राजसभा का महान् रत्न चेरुश्शेरि नम्पूतिरि। 'कृष्ण-पाट्टु' अथवा कृष्ण-गाथा नाम से प्रसिद्ध काव्य का कवि है चेरुश्शेरि।

कृष्ण-गाथा का इतिवृत्त भागवतपुराण का दशम स्कंध है। परन्तु कवि अस्थि-पंजर मात्र के लिए ही पुराण का ऋण-बद्ध है। अन्यथा सम्पूर्ण ग्रन्थ कवि की अपनी वस्तु है। उसके गुणों का वर्णन करने के लिए यदि उद्धरण दिये जायँ तो पूरा ग्रन्थ ही उद्धृत करना होगा। समुद्र से एक लोटा जल निकालने के समान किसी एक प्रसंग का रसास्वादन करना हो तो रास-क्रीड़ा के समय का वेणु-गान वर्णन ले लीजिए। कवि कहता है:

"गोकुलनाथ ने अपनी मुरली से एक मधुर राग गाना शुरू किया तो वृन्दावन का एक-एक प्राणी आनन्द-मग्न होकर आत्मविस्मृत-सा खड़ा हो गया।

"भ्रमरवृन्द उस मधुसम वेणु-गान को सुनकर पुष्पों का मधु त्याग उस नाद-रसपान के लिए बालकृष्ण के मोहन मुखाम्बुज पर जा पहुँचे।

"वह गान सुनकर समस्त पशुवृन्द मुग्ध होकर खड़ा हो गया।

"सुन्दर मुरली के गान-माधुर्य से आकर्षित केक-वृन्द ने अपने नीलवर्ण पंख फैलाकर नर्तन करते-करते नीलवर्ण के चहुँओर पंक्ति बना ली और वे गायन के अनुरूप ताल मिलाकर नृत्य करने लगे।

"पुण्यशाली वन-वृक्ष कन्हैया की मुरली सुनकर मधुमय पुष्पों की वर्षा करते हुए सम्मान के साथ शाखा-समूह को नम्र करके खड़े हो गए।

"इतना ही नहीं, शीघ्र गति से प्रवाहित होने वाली कालिन्दी कृष्ण की राग-ध्वनि सुनकर निस्तब्ध हो गई। लहरें शान्त हो गईं, चंचल जल मानो स्थिर हो गया। गोपकुमार की मुरली सुनकर मत्स्यगण पानी से निकलकर अपनी पूँछों के बल पर चलने लगे। गान-स्वर से मोहित हरिण-यूथ आँखें मीचते-मीचते कृष्ण के चारों ओर आकर खड़े हो गये और आँखें उठाकर निश्चल दृष्टि से उस गोप-बाल को निहारने

लग। मुँह में दबे हुए तृणांकुर मुँह से नीचे छूटते गए और उन्हें भान भी न हुआ। गोपकुमार जब गा रहा था तब लताएँ धीरे-धीरे वृक्षों से निकलकर उसके चरणों में आ पड़ीं। चक्रवाकी विरह-वेदना भूलकर आनन्द-विभोर हो उठी। सिंह ने क्रोध के साथ हाथी को मारने के लिए हाथ उठाया ही था कि संगीत का स्वर कानों में पड़ गया और वह हाथ जहाँ-का-तहाँ रुक गया और सिंह वैसे ही खड़ा रह गया। राजहंस मृणाल लेकर हंसी के चंचुपुट में दे ही रहा था कि मुरली-नाद सुनाई पड़ गया और दोनों उसी अवस्था में स्तब्ध होकर गायन सुनने लगे। व्याघ्र ने हरिण-शिशु को पकड़ा ही था, परन्तु वह उसे अपने शिशु के समान साथ लगाकर मुरली-संगीत सुनने में मग्न हो गया।

"और ब्रह्मा को वह नाद सामगान जैसा प्रतीत हुआ। जीवन-मुक्त लोगों के लिए वह नित्य परमतत्व का आस्वादन बना। भक्तों के लिए वह चित्त को उन्मत्त करनेवाला मधु-सार-सर्वस्व बन गया। अधिक क्या कहें? संक्षेप में—

"पुष्प-वृक्षों के लिए वह संगीत दोहद बना, कामदेव के लिए वह काहल बना, आश्चर्यों के लिए वह वाहन बना और सर्वलोक के लिए वह मोहन बना। उस मोहन-संगीत का वर्णन करने का सामर्थ्य संसार में किसको है!"

इस कवि के बारे में भी हमें निश्चित ज्ञान कोई नहीं है। 'चेरुश्शेरि' तो घर का नाम है। असली नाम कहीं भी नहीं मिलता। अपने काव्य के आरम्भ में वह इतना बताता है कि "कोलस्वरूप के राजा उदयवर्मा के आज्ञानुसार श्रीकृष्णभागवत की कहानी गीत में निबद्ध करता हूँ।" समाधान की बात केवल इतनी ही है कि यह अव्यक्तता उनके नाम और चरित्र के बारे में ही है, कविता में नहीं है। केरल में कोई विरल व्यक्ति ही ऐसा मिलेगा जिसने चेरुश्शेरि का नाम न सुना हो या जिसे 'कृष्ण-पाट्टु' के दो पद भी कण्ठ न हों। कथा श्रीबाल-गोपाल की, कहनेवाला रसिक-शिरोमणि चेरुश्शेरि नम्पूतिरि

ग्रौर भाषा सरल, सुन्दर, ललित पदों से परिपूर्ण कैरली—फिर ग्रानन्द का वर्णन कैसे करें !

कृष्ण-गाथा में प्राचीन मलयालम् शब्दों का प्राचुर्य है। जहाँ संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ सरल ग्रौर प्रचलित शब्दों को ही चुनने की सावधानी रखी गई है। मलयालम् शब्दों के साथ संस्कृत विभक्तियाँ जोड़कर कोई विकृत भाषा तैयार नहीं की गई। जहाँ संस्कृत शब्दों की बहुलता की ग्रावश्यकता प्रतीत हुई—जैसे काव्य के ग्रन्त के स्तोत्रों में—वहाँ कवि ने पूर्णतः संस्कृत का ही उपयोग किया है। शुद्ध मलयाल पदों से जो तूलिका-चित्र उन्होंने बनाये हैं वे भाषा-काव्य के शिरोलंकार हैं। ग्रासूत्रण ग्रौर ग्राविष्कार में वे एक कुशल शिल्पी हैं। भाषा-रीति उनकी निजी ग्रौर ग्रसाधारण है। केरल-भाषा की शक्ति, तेजस्विता तथा प्रौढ़ि ने एकत्र होकर कृष्ण-गाथा को प्रस्फुरित कर दिया है।

'कृष्ण-पाट्टु' एक विशेष गाथा-वृत्त में लिखी गई है। इस गीति-वृत्त में ताल तथा राग के तरह-तरह के व्यतियान के ग्रवसर हैं। केवल गान के रूप में या नृत्य के ग्रनुसार ताल के साथ भी इसे गाया जा सकता है। इसे ग्राधुनिक कवि 'मंजरी' के नाम से ग्रभिहित करते हैं। प्राचीनतम वृत्त होने पर भी इसमें एक नवीनता का ग्रनुभव होता है। कवि ने एक सर्वसाधारण वृत्त लेकर उसमें साहित्य का माहात्म्य भर दिया है ग्रौर ग्रपनी ललित-कोमल पदावली से परिपूर्ण कविता के लिए यही वृत्त चुनकर उन्होंने ग्रपने सौन्दर्य-बोध को मूर्तरूप प्रदान किया है।

इस काव्य की विशेषता यह है कि यह वाचकों से ग्रलग नहीं रहता। पाठक पढ़ते-पढ़ते इतने तन्मय हो जाते हैं कि ग्रपने व्यक्तित्व को ही उसमें खो देते हैं। क्लिष्टता नाम का काव्य-दोष तो कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता। श्लेष का प्रयोग बहुत कम किया गया है। जहाँ किया गया है वहाँ भी केवल हास्य के प्रसंग को प्राणवान बनाने के लिए, न कि

पाण्डित्य का परिचय देने के लिए। प्राचीन शब्दों का प्रयोग उन्होंने खुलकर किया है, परन्तु उनमें आधुनिक पाठकों को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। यदि कहा जाय कि कवि ने उन शब्दों को अपने काव्य-सुधा-रस से भिगोकर अमर बना दिया है तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। किसी भी अवस्था में, इतने बड़े काव्य-ग्रन्थ में शायद ही कोई ऐसा शब्द मिलता है, जो साधारण पढ़े-लिखे लोगों की समझ में न आता हो।

अलंकार-प्रयोगों के लिए कवि को प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे सब आज्ञानुवर्ती शिष्यों के समान यथासमय आकर यथास्थान विराजमान हो जाते हैं।

वर्णन-कौशल्य के उदाहरण जहाँ देखो वहीं मिलते हैं। हाथ में कोई वर्ण्य वस्तु आ जाय तो विराम तभी लेते हैं जब उनका अलंकार-पेटक रिक्त हो जाता है। सभी वर्णनों में उनकी तीक्ष्ण निरीक्षण-शक्ति, कल्पना-वैचित्र्य और मनुष्य-हृदय के ज्ञान का परिचय मिलता है। वस्तु-बोध देने वाले पद-प्रयोगों में भी कृष्णगाथा-कर्ता अति चतुर थे। एक उदाहरण लीजिए—कालिय-नाग को भगाने के लिए बालकृष्ण जब यमुना में कूदे उस दृश्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—"वह सामने के जल में ऐसे कूद पड़ा, मानो समूल टूट कर पड़ा मेरु-पर्वत हो!"

ऋतु-वर्णना में तो इनकी तूलिका-चित्र-चातुरी और भी मुखर हो उठी है। सुन्दर और आकर्षक अनवधि भावनाएँ मानो सामने पंक्ति बना कर खड़ी हैं। आर्य भाषाओं के भक्त गायक जयदेव, मीरा तथा रामप्रसाद ने अपनी-अपनी भाषा में जो अमृतमय गोपिका-गान रचे हैं उनकी तुलना करने योग्य गान मलयाल भाषा में कृष्णगाथा है ही। शृङ्गार, भक्ति, तन्मयता इन सभी भावों का रस-परिपाक इस काव्य में जितना मिलता है और कहीं बिरला ही दिखाई पड़ता है।

: ५ :

संस्कृत प्रभाव काल

केरल में संस्कृत भाषा की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि हुई। जबसे केरल का शासन ब्राह्मणों के हाथ में आया तबसे संस्कृत की अभिवृद्धि भी आरम्भ हो गई थी। उसे आगे बढ़ाने के लिए प्राचीन काल में अनेकानेक उपाय भी किये गये। भक्त, मुक्त, त्यागी, योगी, तन्त्री, मान्त्रिक, ज्योतिषी, मीमांसक, तार्किक, वेदान्ती, वैयाकरण, भाष्यकार, कवि, लेखक आदि महान् विद्वज्जनों की संख्या वहाँ गिनी नहीं जा सकती। इसका एक कारण संस्कृत भाषा का सुव्यवस्थापूर्वक अध्ययन ही होना चाहिए।

संस्कृत भाषा के प्रचार के पहले केरल असंस्कृत नहीं था, किन्तु उसकी प्राचीन संस्कृति में एक नवीन तथा उज्ज्वल अध्याय जोड़ने का श्रेय संस्कृत को है ही। संस्कृत भाषा की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि के लिए केरलीय और केरलीय आत्मोत्कर्ष के लिए संस्कृत का अध्ययन परस्परोपयोगी सिद्ध हुआ यह निर्विवाद कहा जा सकता है।

अबतक जिन-जिन साहित्य-शाखाओं की चर्चा हुई उनसे स्पष्ट हो गया है कि कैरली ने संस्कृत का दान बहुत लिया है। उसके प्रभाव से नाटक, चित्रकाव्य, महाकाव्य, सन्देशकाव्य आदि की बहुत-सी शाखाएँ उत्पन्न हुईं। शुद्ध संस्कृत कृतियों के अतिरिक्त सहस्रों मणि-प्रवाल कृतियों का भी आविर्भाव होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार भाषा-साहित्य की शाखोपशाखा के साथ श्रीवृद्धि हुई। इस मणि-प्रवाल काल में संस्कृत-भाषा-संयोग की मिश्र रीति तीन साहित्य-

विभागों में अत्यन्त प्रचुरता के साथ दिखलाई पड़ती है। ये हैं—दृश्य-श्रव्य काव्य, चम्पूकाव्य और नाटक।

संस्कृताध्ययन के द्वारा कवियों ने जब कालिदास, भास आदि महाकवियों की कृतियों का रसास्वादन किया तो उनके हृदयों में उनका अनुकरण करने की इच्छा भी स्वयमेव उत्पन्न होने लगी। कालिदास के 'मेघदूत' ने सहृदयों की विभावना-शक्ति को जगा दिया और सन्देश-काव्य वर्षाऋतु में छत्रतृण जैसे उत्पन्न होने लगे।

सन्देशकाव्यों में प्रथम स्थानार्ह 'उण्णुनीली सन्देश' है। यह काव्य मेघदूत का पूर्ण अनुकरण है। इसमें मेघदूत की यक्षी के बदले नायिका का स्थान केरल के वटक्कंकूर नामक प्रदेश की 'उण्णुनीली' ने ग्रहण किया है। नायक का नाम अज्ञात रखा गया है। कथा इस प्रकार है—

पत्नी के साथ सोये हुए नायक को एक यक्षी उठाकर ले गई। जब वह आकाश-मार्ग से तिरुअनन्तपुरम् नामक नगर के ऊपर पहुँची, तब नायक जाग गया। अपनी स्थिति को समझकर उसने नरसिंह-मन्त्र का जाप किया। यक्षिणी भयभीत होकर उसे छोड़कर भाग गई। कौन-सी शक्ति से, पता नहीं चलता, वह बिना गिरे, 'मारुतेन अनुयात' होकर भूमि पर उतरा। वह वियोग-खिन्न होकर जब तिरुअनन्तपुरम् नगर में भटक रहा था, आदित्यवर्मा राजा उसके पास पहुँचे। यथोचित सन्देश भेजने के लिए एक सन्देशवाहक मिल जाने पर वह सन्तुष्ट होकर अपनी कहानी सुनाने लगा। उसने तिरुअनन्तपुरम् से नायिका के घर तक के मार्ग का लम्बा वर्णन किया और बाद में अपना सन्देश दिया। निम्न-लिखित अनुवादों से इस काव्य का किंचित् रसास्वादन हो सकेगा :

"कोक-श्रेणियों की विरहाग्नि के स्फुलिंग जैसे तुषार-बिन्दु जिस उद्यान-वाटी में गिरते हैं उसमें शनैः शनैः विकसित नलिन-पुष्पों का मधु और सुगन्ध लेकर मन्द पवन नायक के विरह-विधुर शरीर में कालकूट जैसा लगकर उसका वध करने लगा।"

"कुक्कुट-वृन्द कामदेव की काहल जैसे कूजन करने लगे। नक्षत्रों के समूह मक्का के दानों के समान विवर्ण होकर बिखरने लगे। प्रभात देवी के नृत्यों के लिए ताल (झाँझ) जैसे चन्द्र तथा सूर्य दोनों ओर दिखाई पड़ने लगे। और कमलों के अन्दर से नाल जैसे भ्रमर-समूह ऊपर को उड़ने लगे।

* * *

"मार्ग में लता-रूपिणी युवतियों का दर्शन तुम्हें मिलेगा। सुन्दर कुसुम-मंजरी रूपी कुच-कलश लेकर शाखा-करों को हौले-हौले हिलाकर भ्रमर-निनादों से कुछ-कुछ बोलती हुई, पुष्प-वर्षा करती हुई वे तुम्हारे हृदय को आनन्द-मग्न करेंगी।"

* * *

श्रीकृष्ण की याद करके कवि कहता है—

"गौओं के खुरों से उड़नेवाली धूल से लसित, मोर-पक्ष-विलोचनों से सुसज्जित केश-राशि द्वारा हृदय हरण करनेवाले मोहन, पीताम्बर-धारी, बाल-गोपाल की लीला करनेवाले, नील मेघश्याम के परिवेष-मय रूप वाले मुरलीधर नन्दकुमार मेरे हृदय को अपना मन्दिर बनाएँ।"

इतिहास की दृष्टि से यह काव्य बहुत मूल्यवान है। इसमें देश के अनेक राजाओं और सुन्दरियों का नाम-निर्देश हुआ है। भाव-काव्य के लिए आवश्यक संचार-शक्ति की इसमें कोई कमी नहीं है। काव्य-कौशल्य भी इसमें प्रशंसार्ह है। भाषा-साहित्य के प्राचीनतम इतिहास-कार श्री गोविन्द पिल्लै के शब्दों में—"इस ग्रन्थ को एक बार पूरा पढ़ जाने पर कवि का वाग्विलास, मधुर कोमल-कान्त पदावलियों का यथोचित समन्वय करने का कौशल्य, वाच्यसूच्य वस्तुओं की उचित सम्मिश्रण-शक्ति आदि हृदय-वेदी में स्थिर-लिखित हो जाती हैं।" एक ओर शृङ्गार रस और दूसरी ओर भक्ति-प्रचुरिमा की जो अनुपम अभि-व्यक्ति इसमें है उसका आस्वादन मूल-काव्य पढ़ने पर ही हो सकता है।

चम्पू-कृतियाँ अद्वितीय बन गई हैं।

चम्पू-प्रस्थान के द्वितीय स्थानीक महिषमंगलं अथवा मड़मंगलम् नम्पूतिरि माने जाते हैं। ये 'नैषधं चम्पू' के रचयिता हैं। इनका जीवन-काल भी पुनम् नम्पूतिरि के आसपास ही माना जाता है। इन्होंने बड़ी सफलता के साथ उनकी रीति का अनुकरण किया है। अनेक स्थानों पर वर्णन-चातुर्य में पुनम् नम्पूतिरि का अतिक्रमण भी कर गये हैं। इनकी अनेक संस्कृत कृतियाँ भी बताई जाती हैं, परन्तु 'उत्तर रामचरित' में भवभूति के समान इनकी प्रतिभा भी 'नैषध-चम्पू' में ही सबसे अधिक विलसित हुई है। ये शृङ्गार-रस के वर्णन में सिद्धहस्त दिखाई देते हैं। काम और प्रेम का अन्तर इन्होंने बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है। सदाचारबोध को आघात न पहुँचाते हुए, प्रेम को शृङ्गाराभास के स्तर पर न ला कर, इन्होंने नल-दमयंती के प्रेम का वर्णन किया है। दमयन्ती राजा को संदेश भेजती हैं :

"यदि कहूँ 'वल्लभ ! मेरी बात सुनिये', तो आदर कुछ कम हुआ मालूम होता है। 'राजन' कहूँ, तो अन्य भाव हो जाता है। 'मेरे प्राण !' कहूँ तो सारिका की जल्पना-सी मालूम पड़ती है। तो मैं कैसे आपको संदेश आरम्भ करूँ ?"

इस सन्देश में सन्देशदात्री की संस्कृति की उत्कृष्टता कितनी स्पष्ट है ! ऐसे सहृदयानन्दक अंश इस कृति में आद्यन्त बिखरे हुए हैं।

कवि के रूप में मड़मंगलं को पुनम् से आगे मानना होगा, परन्तु परिहास-शक्ति में अग्रस्थान पुनम् को ही मिलना चाहिए। चम्पू-प्रस्थान में ये दो शाश्वत नक्षत्र हैं। बाद में अनेक व्यक्तियों ने इनका अनुकरण किया है। लोगों का कहना है कि इन काव्यों की संख्या दो सौ के लग-भग है, परन्तु प्रसिद्ध इनके एक-चौथाई भी नहीं हैं। इतना ही नहीं, इनमें इतना साम्य है कि इनकी भाषा, भाव आदि से इनके रचयिता का अनुमान लगाना लगभग असम्भव है। इनमें से कुछ प्रबन्ध अपनी-अपनी विशिष्टता से साहित्य-रसिकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। 'भारत

चम्पू', 'नारायणीय चम्पु', 'तेन्कैलासनाथोदयं', 'नरायणीयं', 'राजरत्ना-वलीयं', 'कोटियविरहं, 'पारिजातहरणं, 'दक्षयागं, 'कंसवधं', 'स्यमंतकं', 'कामदहनं' आदि इस गणना में आते हैं। ये सब समानधर्म होते हुए भी अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए हैं।

पहले तीनों ग्रन्थों का कर्तृत्व नीलकण्ठ नाम के एक कवि का माना जाता है। इसका निर्णय 'तेन्कैलासनाथोदयं चम्पु' के आरम्भ में मिले हुए कुछ पद्यों के आधार पर किया गया है। नीलकंठ कवि के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। केवल इतना ही स्पष्ट है कि ये चेल्लूर गाँव के रहने वाले, कोच्चि-नरेश के आश्रित और परम विद्वान् थे।

'भारत चम्पु' तथा 'नारायणीयं' के इतिवृत्त भारत तथा भागवत के आधार पर निर्मित हैं। 'तेन्कैलासनाथोदयं' तृश्शिवपेरूर (त्रिचूर) के मन्दिर की प्रतिष्ठा का वर्णन करनेवाला प्रबन्ध है। इसमें उस समय की काल-स्थिति, सामाजिक स्थिति आदि का स्पष्ट प्रतिफलन है। उस समय के वीरों की वेशभूषा, युद्ध-रीति, आयुधों आदि का वर्णन बड़ी प्राणवान शैली में इसमें उपलब्ध है। देश का इतिहास लिखने वालों के लिए यह बड़ा उपयोगी है। कवि के वर्षा-वर्णन का रसास्वादन कीजिये :

"आकाश में श्याम मेघरूपी स्तम्भ में बिजली रूपी पताका फहरा कर, मयूरों को आनन्दनृत्य करानेवाले मेघनाद रूपी भेरी घोष के साथ, पर्जन्यदेव भूमि पर आ गये।"

'कोटिय विरहं' अर्थात् 'भीषण विरह' चम्पू के कवि ने भी यद्यपि अज्ञात रहना ही पसन्द किया है, वह निःस्सन्देह एक अच्छा पंडित रहा होगा। इस प्रबन्ध के अनेक संस्कृत पद्य कालिदासादि महाकवियों की कृतियों से उद्धृत किये हुए हैं। इसमें दो खण्ड हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्वखण्ड में नायिका-नायक का मिलन तथा विरह और उत्तरखण्ड में उनकी विरह-व्यथा तथा पुनर्मिलन वर्णित है। समग्रतः उत्तर खण्ड पूर्व-खण्ड से उत्कृष्ट मालूम पड़ता है। कवि की वाक् तथा वर्णन-पटुता के उदाहरणों की कमी कहीं नहीं है।

'पारिजात हरणं' का कवि भी अन्धकार में ही छिपा है। इतिवृत्त भागवत से लिया गया है। युद्ध-सन्नद्ध सत्यभामा तथा इन्द्राणी के कोप का वर्णन बहुत ही सुन्दर है।

अब 'कामदहनं', 'रामार्जुनीयं', 'श्रीमती स्वयंवरं', 'प्रह्लाद चरितं' आदि अनेक नये-नये चम्पू-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें वैसी विशेषताएँ नहीं हैं।

यह बताया जा चुका है कि जिस काल को 'संस्कृत प्रभाव काल' नाम दिया गया उसमें केवल संस्कृत का प्रभाव ही भाषा पर दिखाई नहीं देता—जब एक ओर संस्कृतमयी धारा प्रवाहित होती दिखलाई पड़ती है तब दूसरी ओर पुराने गीतों की धारा भी नया जीवन पाकर, उत्साहोज्ज्वल कल-कल नाद में किलकारी भरती हुई साथ-साथ चलती दृष्टिगत होती है। इसी कालघट्ट में अनेक गीतों का निर्माण हुआ है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन गीतों में शुद्ध केरलीय शब्द ही दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु इन मध्यकालीन गीतों में तमिल शब्दों का प्राचुर्य हो गया है। कहीं-कहीं तो तमिल शब्द इतने अधिक हो गये हैं कि केवल स्थूल अवलोकन करनेवाले पण्डितों ने इन्हें प्राचीनतम साहित्य-कृतियाँ मानकर इनके आधार पर मलयालम् भाषा को तमिल की पुत्री सिद्ध करने का प्रयत्न कर डाला है। परन्तु, गवेषण-बुद्धि के विकास के आधुनिक काल में प्रत्युत्पन्न मति वाले विद्वज्जनों ने सूक्ष्म दृष्टि से सत्यावस्था का आविष्कार करके यह स्थापित कर दिया है कि तमिल शब्दों का प्राचुर्य प्राचीनता का द्योतक नहीं है।

संस्कृत-प्रभाव काल के उत्तरार्ध के जो गीत मिलते हैं उनमें दाक्षिणात्य कवियों की कृतियाँ तमिल भाषामिश्रित और उत्तर के कवियों की कृतियाँ तारतम्येन शुद्ध मलयाल भाषा में निबद्ध दिखलाई पड़ती हैं। कदाचित् इससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि स्थान-अस्थान का विचार किये बिना केवल शब्दाडंबर के लिए संस्कृत का जो उपयोग किया गया, उससे ऊबकर कल्पना-सम्पन्न कवियों ने फिर से मातृभाषा

की सुन्दरता की ओर लौटने का प्रयत्न किया ।

ऐसी कृतियों में 'परशुराम चरितं' एक मध्यकालीन कृति मालूम होती है । इसके वृत्त में कण्णश्शन-गीतों से साम्य है, पद्य प्रवाहशाली, सुन्दर तथा आकर्षक हैं । इसमें संस्कृत शब्दों, तमिल भाषा के साधारण पुरुष प्रत्ययों और तमिल वाक्य-रचना की बहुलता है ।

मूलत: मलयालम् भाषा की क्रिया में लिंग-भेद नहीं है । 'वह जाता है' और 'वह जाती है' दोनों की क्रिया मलयालम् में 'पोकुन्नु' ही होगी । तमिल भाषा में, हिन्दी के समान, वह भेद होता है । उसमें 'जाता है' की क्रिया 'पोरान्' और 'जाती है' की 'पोराल्' होगी । तमिल के प्रभाव से ये 'आन्' और 'आल्' प्रत्यय मलयालम् में प्रयुक्त होने लगे । आधुनिक मलयालम् भाषा में यह प्रयोग नहीं पाया जाता ।

पटप्पाट्टु—समर-गीत अथवा वीर-गाथा—अपने नाम के अनुरूप वीरों के कार्य-कलाप का वर्णन करनेवाले गीत हैं । इनके द्वारा वीर पुरुषों के यश को शाश्वत बनाने का प्रयत्न किया गया है । उत्तर केरल के 'वटक्कनपाट्टुकल्' जैसे दक्षिण में भी वीरापादान-वर्णन पर अनेक गीत उपलब्ध हैं । 'हर्यक्ष समरोत्सवं' (मलंपाट्टु) इनमें से एक है । किसी समय में श्रावण मास में 'ओणमहोत्सव' मनाने के लिए मावेलिक्करा-कण्डियूर ग्राम के निवासियों ने दो पक्षों में बँटकर और युद्ध-क्रीड़ा करके जो आनन्द मनाया था उसका गान इन गीतों में किया गया है । इस युद्ध-क्रीड़ा को केरलीय भाषा में 'ओणत्तल्लु' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ 'ओणं दिवस के परस्पर प्रहार' है । समरप्रिय नायर वंश का युद्ध-चातुर्य आसन्न भूतकाल तक प्रसिद्ध रहा है । उसमें प्राचीन काल से ही आयुधाभ्यास तथा उत्सव-त्योहारों पर जो बल-परीक्षण हुआ करता था उसका एक प्रतीक है यह 'ओणत्तल्लु' । उसके वर्णन के गीतों में उसका पूर्ण विवरण मिलना स्वाभाविक ही है। इन गीतों की कविता साधारण है । इनका महत्व साहित्य की अपेक्षा इतिहास-गवेषकों के लिए अधिक है । इनमें तमिल शब्दों और वाक्-प्रयोगों का प्राचुर्य है ।

इस काल में एक अन्य भाषा-कवि का नाम अति प्रबलतया सुनाई पड़ता है। वह है, कोड़िकोड़ (कालीकट) के राजा की सभा के साढ़े अठारह कवियों में आधा कवि माना जानेवाला पुनम् नम्पूतिरि। इसका जीवन-काल पंद्रहवीं शताब्दी माना जाता है। उस समय सामूतिरि (कोड़िकोड़ के राजा, उनकी उपाधि) की राजसभा में बहुत से साहित्य- विक्रम थे। विक्रमादित्य की राजसभा के 'नवरत्नों' के समान इनकी सभा के 'साढ़े अठारह' कवि भी प्रसिद्ध थे। ये थे, पय्यन्नुर भट्टतिरि—पिता-पुत्र, उनके सात भाई, तिरुवेलपुरम् के पाँच नम्पूतिरि, मुल्लप्पल्लि भट्टतिरि, चेन्नास्सु नम्पूतिरि, काक्कश्शेरी भट्टतिरि, उद्दण्ड शास्त्री नामक परदेशी (तमिल) ब्राह्मण और पुनम् नम्पूतिरि। पहले अठारह केवल संस्कृत में ही काव्य-रचना करने वाले थे, अतः उन्हें पूर्ण कवि माना जाता था। पुनम् नम्पूतिरि कवि-सार्वभौम होने पर भी केवल भाषा में काव्य-रचना करते थे, इसलिए शेष कविगण उन्हें केवल आधा कवि मानने को तैयार थे। इस काल में संस्कृत के प्राबल्य का यह उदाहरण विशेष स्मरणीय और मनोरंजक है।

पुनम् नम्पूतिरि के जन्मकाल, पितृ-परम्परा आदि के ज्ञान से भी हम यथापूर्व वंचित ही हैं। किन्तु इतना हम जानते हैं कि विद्वत्ता, गुण-पौष्कल्य और काव्य-कौशल्य में वे अद्वितीय थे। 'पूर्ण' कवियों की कविताएँ विस्मृतप्राय होने पर भी यह 'अर्धकवि' साहित्यरसिकों की हृदय-वेदी पर अमर रूप से सुप्रतिष्ठित है। इसके जीवन-काल में भी 'परमोद्दण्ड प्रचण्ड कवि' उद्दण्ड ने इन शब्दों में मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा की थी—

अधिकेरलमग्रगिरः कवयः।
कवयन्तु वयन्तु न तान् विनुमः।
पुलकोद्गमकारि वचः प्रसरः।
पुनमेव पुनः पुनरास्तुमहे।

अर्थात्—केरल में कितने भी वश्यवाक् कवि कविता करें, हम उनको

नमस्कार नहीं करेंगे। परन्तु जिसका वचःप्रसर पुलकोद्गमकारी है उस 'पुनम्' की हम बार-बार स्तुति करते हैं।

एक अन्य प्रसंग पर उद्दण्ड कवि ने पुनम् नम्पूतिरि के एक पद्य के प्रयोग-विशेष से प्रसन्न होकर उन्हें अपना उत्तरीय भेंट कर दिया था। कवि पुनम् ने राजा की प्रशंसा में लिखा हुआ यह श्लोक राजसभा में सुनाया :

तारिल्तन्वी कटाक्षांचल मधुप कुलाराम ! रामाजनानाम् ।
नीरिल्तार्बाण वैराकर निकर तमोमंडली चण्ड भानो ।
नेरेत्तातोरु नीयां तोट्टकुरि कलयाय् केन्नुमेषा कुड़िक्कुन् ।
नेरत्तिन्निप्पुरं विक्रम नृवर धरा हन्त ! कल्पान्त तोयें !

अर्थात्—महालक्ष्मी के कटाक्ष के लक्ष्य ! युवसुन्दरियों के कामदेव ! शत्रुरूपी अन्धकार-निकरों के लिए प्रचण्ड भास्कर ! यह भूमि, अतुल्य प्रभाव तुमको, जो उसके तिलकभूत हो, कल्पान्त-प्रलय में स्नान करने तक खो न पाये।

ये सब ऐतिह्य सत्य हों अथवा मनोधर्म-विलास मात्र, पुनम् नम्पूतिरि की महिमा के द्योतक तो हैं ही। उनकी सबसे अधिक प्रसिद्धि रामायण-चम्पू के कर्ता के रूप में है। इस महा कथा को उन्होंने अनेक खण्डों में बाँटकर अत्यन्त सरस काव्य में निबद्ध किया है। इसके ग्यारह भाग अबतक प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें सीता-स्वयंवर सबसे आकर्षक है। स्वयंवर के मंडप, आगत नृपतियों के विविध भावाविष्करण और चाप-भंजन आदि के वर्णन में माधुर्य, प्रसाद, समता आदि काव्य-गुणों का पारम्य दिखलाई पड़ता है। उत्तम मणि-प्रवाल के समस्त लक्षण उनके काव्य में विद्यमान हैं। यह एक कृति ही सिद्ध कर देती है कि यह कवि 'गद्यपद्यैरनेकैः मदयति पुनमिन्नु भूरि भूचक्रवालम्' इत्यादि प्रशंसा के पूर्ण योग्य है।

इनकी कविता अधिकतर चम्पू-ग्रन्थों के रूप में ही उपलब्ध है। अतएव चम्पू क्या है इसे समझ लेना आवश्यक है। यह विशेष शाखा

भाषा को संस्कृत से मिली है। इसकी व्याख्या है—'गद्यपद्यात्मकं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।' अर्थात् गद्य-पद्य मिले हुए काव्य को चम्पू कहते हैं। परन्तु भाषा और संस्कृत के चम्पू में एक महत्वपूर्ण भेद है। संस्कृत के चम्पू पढ़कर आनन्दानुभव करने योग्य हैं, अर्थात् वे श्रव्यकाव्य हैं। भाषाचम्पू कूत्तु तथा कूटियाट्टम् के लिए रचे गये हैं, अतएव वे दृश्य-काव्य के विभाग में आते हैं। दूसरे, संस्कृत चम्पुओं के गद्य में वृत्तबन्ध नहीं है, परन्तु भाषा चम्पुओं के गद्य में भी वृत्तबन्ध है।

वृत्तबन्ध का अन्तर स्पष्ट करने के लिए दोनों भाषाओं का एक-एक उदाहरण ले लेना पर्याप्त होगा। 'भोजचम्पू' से संस्कृत का यह उद्धरण लीजिए :

"तदनु भयवश समुपगत दधिमुखवचनविदित मधुवन कदन परिगणित जनकदुहितृदशनजनित प्रमदभर भरितस्तपनतनयस्तत्र तनु विकृतिमतनुत दधिमुखागमन निमित्त संपत्तिम्।"

कैरली चम्पू के गद्यांश दण्डक जैसे ध्वनित होते हैं—

हर हर शिव शिव नाना नगरी
तिलकमयोध्या नगरि विचारे।
बहुविध रत्नसमूहं कोण्डु
जनपद महिला चमयं कोण्डु। —रामायण चम्पू।

अर्थात्—हर! हर! अयोध्या नगरी कितनी आश्चर्यकारिणी है! रत्नसमूह, वनितारूपी अलंकरण आदि अमूल्य सम्पत्तियों से यह भूमि अतिशय कौतुकमयी दीखती है।

पाठकं, कूत्तु आदि के लिए रचित होने के कारण इन चम्पू-प्रबन्धों में हास्यरस-प्रचुरिमा भी स्पष्ट है। केरल में नम्पूतिरि ब्राह्मण स्वभाव से ही हास्य-प्रयोग के लिए प्रसिद्ध हैं। अतएव चम्पू-प्रबन्धों की हास्य-रस प्रचुरिमा का एक कारण यह भी है कि इनमें से अधिकतर की रचना उन्होंने ही की है।

समाज में आये हुए दुष्ट आचारों को बता कर उन्हें संशुद्ध करना

चाक्यार कूत्तु का एक उद्देश्य था। हँसी में दोष-निर्देश करके या परिहास द्वारा श्रोताओं की विचारधारा को अन्तर्मुखी बनाकर आत्म-परिशोधना की प्रेरणा देने में चाक्यार-कूत्तु को सफलता मिली है।

प्रत्येक कथा एक या अधिक मंगल-श्लोकों से आरम्भ की जाती है। मंगलाचरण के बाद वस्तु-निर्देश होता है और साथ में आये हुए मित्र के साथ बातचीत के द्वारा कथा का आरम्भ किया जाता है। उदाहरण के लिए :

"हे सखे, आज इस सभा के बीच इस रंगमंच पर आकर मुझे उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी प्राचीन काल में अमर पारिषदों को क्षीराब्धि में जाकर रावण के उपद्रवों के बारे में बताने पर भगवान् नारायण का उत्तर सुनकर हुई थी।"

यदि एक ही कहानी के दो खण्ड बनाये जायँ तो दोनों के लिए अलग-अलग मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश आदि भी लिखना आवश्यक है।

भाषा-चम्पुओं की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें कथा-वस्तु से अधिक वर्णनों को स्थान दिया जाता है। हास्यरस-प्रधान सब वर्णन कैरली भाषा में ही होते हैं। वर्णन की तन्मयता में स्थल-कालादि के विस्मृत हो जाने के अनेक उदाहरण अनेक चम्पुओं में मिलते हैं।

ऐसा मालूम होता है कि भाषा चम्पू का आरम्भ सबसे पहले पुनम् नम्पूतिरि ने ही किया है। फिर भी उसके पहले किसी ने भाषा-चम्पुओं की रचना की अथवा नहीं यह अनिश्चित है। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि भाषा में चम्पू का स्थान स्थायी कर देने का श्रेय इसी कवि-कुल-रत्न को है। रामायण-चम्पू के कुछ अंश—रावणोद्भवं, रामावतारं, ताटकावधं, अहल्यामोक्षं, सीतास्वयंवरं, परशुरामविजयं, विच्छिन्नाभिषेकं, रामाभिषेकं, सीतापरित्यागं, अश्वमेधं और स्वर्गारोहणं उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। श्रवण-सुखदायी तथा हृदयाकर्षक भाषा-संस्कृत संयोग से, शब्दार्थों के समीचीन सम्मेलन से, सजीव तथा कल्पना-उद्दीपक वर्णनों से और मृदुल भावनाओं के तन्मय उल्लेखन से पुनम् कवि की

"कर्म किन कारणों से किया ?"
"कर्म का कारण अभिमान—अहं—है।"
"अहं क्यों हुआ ?"
"अज्ञान रूपी अविवेक से हुआ।"
"अज्ञान कैसे जायगा ?"
"अज्ञान ज्ञान से जायगा।"
"ज्ञान कैसे मिलेगा ?"
"ज्ञान भक्ति से मिलेगा।"
"भक्ति होने के लिए क्या करूँ, भगवन् ?"
"चित्त में पवित्रता लाओ; चित्त शुद्ध करो।"
"चित्त-शुद्धि के लिए क्या करूँ ?"
"उत्तम कथाओं का श्रवण करो।"
"सत्कथा-श्रवण के लिए क्या करूँ, भगवन् ?"
"सज्जनों का सत्संग करो।"
"सज्जनों का सत्संग कैसे हो, भगवन् ?"
"भगवान् से हृदयपूर्वक प्रार्थना से।
भगवान् की ही कृपा की याचना करो।
भजन करो।"
"हे वामपुराधीश ! भगवन् ! प्रणाम !"

इन कीर्तनों के रचयिता पून्तानम् नम्पूतिरि के भी जन्म, वंश, काल आदि का परिचय उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनके भक्ति तथा वेदान्त सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमें से कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण रूप में उपलब्ध भी हैं और वे अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। इनका वेदान्त-ग्रन्थ 'ज्ञानपान' और भक्तिकाव्य 'श्रीकृष्ण कर्णामृतं' आज भी आध्यात्मिक मार्ग को प्रदीप्त कर रहे हैं, किन्तु इनका परिचय हम आगे चलकर अध्याय ७ में प्राप्त करेंगे।

कुछ अन्य प्रसिद्ध कीर्तनों के नाम ये हैं—'सप्तस्वर स्तोत्रं', 'कृष्ण-

लीला अकारादि स्तोत्रं', 'अवतरण दशकं', 'पार्वती पाणि-ग्रहणं' 'मांपल्यं कीर्तनं', 'गिरिजा कल्याण कीर्तनं', 'गुरुस्तवं', 'श्रीराम स्तोत्रं', 'पंचाक्षर स्तोत्रं', 'वटक्कन्नाथ स्तोत्रं', 'शोणाद्रीश कीर्तनं' इत्यादि।

साहित्य-गुण-पौष्कल्य से पूर्ण एवं आनन्दसंवर्धक कृतियों के साथ-साथ कैरली में अश्लील, अज्ञानवर्धक तथा सदाचारपरता के सम्मुख प्रश्न-चिह्न लगाने वाले गीतों की भी कमी नहीं है। 'पार्वतीचरितं कुरत्तिप्पाट्टु' और 'सीता दुःखं पाट्टु' इस प्रकार के गीतों के मुकुटोदाहरण हैं। साहित्य की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है, अतएव यहाँ विस्तारपूर्वक चर्चा करना भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

'कल्याणक्कलि पाट्टु' और 'पुल्लुवन पाट्टु' आदि प्राचीनतम गीतों की शैली में अर्वाचीन काल तक गीतों की रचना होती रही है। इस प्रकार विभिन्न शैलियों में रचित गीतों की सूची भी बहुत लम्बी होगी।

मध्यकाल तक केरल में ईसाइयों का प्रभाव स्थापित हो चुका था और अनेक ईसाई भी भाषा के अच्छे कवि हुए हैं। ईसाई लोग पहले हिन्दुओं के साथ ही 'एडुत्ताशानों' (प्राथमिक शिक्षकों की संज्ञा-विशेष) के पास अक्षराभ्यास तथा संस्कृत का अध्ययन किया करते थे। आगे चलकर जातीय भेदभाव तथा धर्म-विरोध का प्राबल्य होने पर पादरियों ने इन्हें अलग कर लिया। फलतः वे भाषा-सम्बन्धी प्रगति से वंचित हो गये। ईसाई कवियों के गीतों में 'मार्गम्कलिप्पाट्टु', 'उलवुप्पट्टिप्पाट्टु' और 'करियाटिल मेत्राण्टे परदेश यात्रा' आदि प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन काल में ईसाइयों में उत्तम साहित्यिक नहीं हुए, किन्तु साहित्य के इतिहास में इनका स्थान छोटा नहीं है। मलयाल लिपि के टाइप बनाकर मुद्रणालय स्थापित करने की स्फूर्ति सबसे पहले इन्हें ही हुई थी और एक जेसूट पादरी ने पहला मलयालम् छापाखाना स्थापित किया था। उसमें सबसे पहले कैथलिक मत का प्रथम पाठ 'प्रश्नोत्तरावली' नामक मलयालम् पुस्तक छापी गई। यही मलयालम् भाषा में छपने वाली प्रथम पुस्तक थी। अक्षराभ्यास के लिए आधुनिक

पाठशालाएँ स्थापित करने का श्रेय भी ईसाई पादरियों तथा ईसाई जनता को ही है।

'केरलोत्पत्ति', 'केरल माहात्म्य सारं' आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना भी इसी काल में हुई। अनेक गद्य-ग्रन्थ भी रचे गये। इस काल की विभिन्न साहित्यिक कृतियों की संख्या गिनाना असम्भव-सा मालूम होता है, किन्तु भाषा की स्थिति के बारे में एक पर्यालोचना करना असम्बद्ध न होगा।

श्री नारायण पणिक्कर के कथनानुसार, इस काल में भाषा की आशय-सम्पत्ति और ग्रन्थ-सम्पत्ति बहुत बढ़ी। संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों को भाषा में विवर्तित करने से भाषा का पद-दारिद्रय नष्ट हो गया। आशयों की समृद्धि बढ़ गई। पुर्तगीज़ तथा संस्कृत भाषाओं से भाषा में तत्सम तथा तद्भव शब्दों का संक्रमण हुआ, जिससे भाषा के भण्डार की श्रीवृद्धि हुई।

: ६ :

एड्डुत्तच्छन[1]

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की भाषा-कृतियों का अध्ययन करने पर हमें दो कवियों की कृतियाँ विशेष आकर्षित करती हैं। ये कवि हैं—कण्णश्शन् पणिक्कर और चेरुश्शेरि। कण्णश्शन् पणिक्कर ने वाल्मीकीय रामायण के आधार पर अपनी रामायण की रचना की। इस रामायण में आशय-स्वातन्त्र्य अप्रतिम रूप से प्रकट है, किन्तु कथा-पात्रों के चरित्र-चित्रण में उतनी स्वतन्त्रता नहीं दिखाई गई। चेरुश्शेरि ने भगवान् को 'आनन्दगोपकुमार' तथा 'यशोदानन्दवर्धन' के रूप में प्रत्यक्ष किया है। उनकी कृष्णगाथा के बाद ही 'नर्मचतुर लीलागोपकुमार के नवनीत-कोमल मुखाम्बुज की विभावना करने की शक्ति केरलीयों को मिली। चेरुश्शेरि ने उस रंगमंच को ऋतु-वर्णन से केरलीयान्तरिक्ष प्रदान करके ही सन्तोष मान लिया। फलतः केरलीय संस्कृति के पूर्ण विकास और प्रकाश के लिए कुछ समय और प्रतीक्षा करना आवश्यक था।

अब तक की साहित्य-समीक्षा से यह भी स्पष्ट हो गया है कि केरल समरोत्सुकता के वातावरण से परिपूर्ण है। उसके जीवन और साहित्य में समर-पारम्पर्य का पश्चात्तल दिखलाई पड़ता है। स्त्री-पुरुष सभी

---

१. मलयालम् में कुछ अक्षर ऐसे हैं जिनकी ध्वनि हिन्दी लिपि द्वारा यथावत् प्रकट नहीं की जा सकती। 'एड़ुत्तच्छन' में 'ड़ु' का उच्चारण मूल मलयालम् अक्षर का यथासाध्य निकटतम उच्चारण-मात्र समझना चाहिए। टाइप की मर्यादा के कारण जो 'एड्डुत्तच्छन' छपा है उसे 'एड़ुत्तच्छन' पढ़ना चाहिए।

'इरविक्कुट्टिप्पिल्लयार पाट्टु' मिश्र भाषा में विरचित दूसरा काव्य है। केरल-इतिहास—विशेषत: तिरुवितांकूर के इतिहास की एक प्रधान घटना के आधार पर रचित यह गान अति प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण है। दक्षिण तिरुवितांकूर सदा ही मधुरा के, पांड्य तथा चोल राजाओं के आक्रमण का लक्ष्य रहा है। इस कथा के अनुसार, तिरुमल नायकर की सेना ने रामप्पैयन नामक सेनानी के आधिपत्य में परणक्कुड़ी में जाकर छावनी डाली ! इस स्थान के पास जो महायुद्ध हुआ उसमें 'वेणाट्टरचन' (तिरुवितांकूर के राजा) की मानरक्षा के लिए बाध्य होकर युवमंत्री इरविक्कुट्टि पिल्ले ने सीधा आक्रमण करने का उत्तरदायित्व ले लिया। आत्म-वीर्य, तेजस्विता आदि गुणों से युवावस्था में ही राज-प्रिय बने हुए इरवि पर अन्य ईर्ष्यालु मंत्रियों के षड्यंत्र से शत्रु का विजयी होना अनिवार्य था। परन्तु अनेक अपशकुन होने और माता तथा पत्नी आदि प्रियजनों के रो-रोकर रोकने पर भी वह युवक सेनानी कर्तव्य से विचलित न हुआ। माता ने जब देखा कि उसका पुत्र पराजय की निश्चित संभावना होने पर भी समरांगण की यात्रा के लिए कृत-संकल्प है तो उसने कहा :

"मेरे बेटे ! मेरे इरवी ! आज युद्ध में मत जाओ ! कर्मगति प्रतिकूल है। सुनो मेरे बेटे ! मैंने स्वप्न देखा है। वह सब सुनो, मेरे लाल ! कनकवर्ण शय्या से धुआँ निकलते हुए मैंने देखा। हाथियों के झुंड को मिलकर केसरी को मारते हुए मैंने देखा। पवित्र देवस्थान में उलूक को सुख से रहते हुए देखा। लाड़ से पाले हुए मेरे लाल ! वीरवर ! मत जाओ ! मत जाओ, मेरे बेटे ! मेरे यशोधन पुत्र ! आज के युद्ध में मत जाओ !"

शिला-हृदय को भी द्रवित कर देने वाली इस मनुहार का उत्तर उस वीर के पास एक ही था :

"मा, मेरी प्यारी मा ! सुनिये तो सही, मुझे रोकने की बात मत कीजिए। सप्त समुद्र के उस पार लोहे का कमरा बना कर बैठने पर भी जब यमदूत आयगा तो क्या छोड़कर चला जायगा ? तलघर बनाकर

उसमें छिप कर बैठ जाऊँ तो भी क्या यमदूत आयेंगे तो 'नहीं' करके चले जायेंगे ?"

पत्नी ने आकर माता की प्रेरणा और स्वहृदय की वेदना से कहा :

"प्रियतम ! मैंने कल कई दुःस्वप्न देखे। मेरे देखते रहते ही शनिदेव आकर मेरे पतिदेव को ले जाते दिखाई दिये। एक महाशाखी वटवृक्ष समूल गिरता दिखाई दिया। सुवर्ण के पलंग की हंस-तूल शयनिका से धुआँ निकल कर ऊपर उठता दिखाई दिया। शृगाल झुंड बनाकर कुक्कुट को पकड़ते हुए दिखाई दिये। अन्त में मेरा मंगलसूत्र अपने-आप निकलकर मेरी गोद में गिरता हुआ दिखलाई दिया। यह सब अर्थहीन नहीं है। स्वामी, सावधान हो जाइए !"

पत्नी की यह अश्रुपूर्ण अनुनय भी उस स्थिर हृदय को हिला नहीं सकी। प्रियजनों की विनतियों को ठुकराकर और अपशकुनों की अवगणना करके वह कर्तव्यनिष्ठ युद्ध-प्रांगण में गया।

युद्ध शुरू हुआ। केसरी के सामने शृगालगण कैसे टिक सकते हैं ? परन्तु वंचक साथी उस वीर-युवक को शत्रुगण के बीच एकाकी छोड़कर अलग हो गये। व्यूहमध्यगत अभिमन्यु के समान इरविकुट्टि ने युद्ध किया। शत्रु की पराजय निश्चित हुई। परन्तु एक स्वपक्षद्रोही का संकेत पाकर शत्रु-सैनिकों ने पीछे से आक्रमण किया। तिरुवितांकूर विजयश्री-लालित अवश्य हुआ, परन्तु उसका मूल्य बहुत भारी पड़ा। इरविकुट्टि पिल्ले का शीर्ष तिरुमल-नायकर के लिए उपहार बना।

किन्तु कहानी यहीं समाप्त नहीं हो गई। देश-दीपक का जो सिर शत्रु के हाथों में चला गया था उसे वापस लाने का पराक्रम अभी शेष था। इसकी पूर्ति इरवि के शिष्य केलु नायर ने की। यह वीर अकेला ही शत्रु-शिविर में प्रविष्ट हो गया और शत्रु-सेना में खलबली मचाकर तथा अपने अभिमान और गुरु के महत्व की रक्षा करके नर-केसरी का सिर वापस ले आया।

इसी सत्य कहानी का यथार्थ चित्रण है यह गीत। काव्य-गुण,

इतिवृत्त महत्व और करुण तथा वीर रस के प्राचुर्य में यह गीत प्राचीन उत्तरी गीतों से भी बढ़कर है।

इस प्रकार के समरपर गीतों की संख्या बहुत बड़ी है और कितने ही तो काल-गह्वर में अन्तर्हित हो गये हैं। सम्भव है, किसी समय इनमें से कुछ रत्न केरलीय जनता को उपलब्ध हो जायँ, क्योंकि इनकी गवेषणा का कार्य अभी आरम्भ ही हुआ है।

'किरातार्जुनीयं', 'नागानन्दं' आदि जैसे पुराण-कथाओं के आधार पर विरचित गीतों की भी भाषा में कमी नहीं है। कठिनाई केवल इतनी ही है कि इनके कवियों का परिचय और काल, देश आदि की जानकारी उपलब्ध नहीं है। वेदान्त तथा आध्यात्मिक तत्व-प्रतिपादन भी गीतों के रूप में कैरली-कंठ को अलंकृत करता है। 'संसारोपालम्भं', 'बृहस्पतिवाक्यं' आदि इसके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। रामायण को भिन्न-भिन्न कवियों ने भिन्न-भिन्न रूप और वेश में साहित्य-मंच पर प्रस्तुत किया है। अय्युप्पिल्ले आशान नामक कवि के मिश्र भाषा में रचित गीत, जिनका नाम 'रामकथप्पाट्टु' बताया जाता है, इसके उदाहरण हैं। रामचरितं, कण्णश्शन के गीतों और चम्पु-प्रबन्धों आदि का परिचय दिया ही जा चुका है।

महाभारत की कहानियाँ भी भाषा-कवियों के अनुग्रह की पात्र बनी हैं। 'भीमन् कथा' नामक गीत प्राचीन 'मावारतं' का अर्वाचीन रूपान्तर मालूम होता है। इस प्रकार के गीत आज भी तरह-तरह के रूप-रंग, आदि में आविर्भूत होते ही रहते हैं। 'पुत्रकामेष्टिप्पाट्टु', 'भारतंपोरु', 'कपिलोपाख्यानं', 'नालुवृत्तं' आदि इसी प्रकार के गीत हैं।

कैरली की एक अन्य सम्पत्ति, जो हाल में ही प्राप्त हुई है, देव-देवियों के गीतों के रूप में है, जिन्हें 'कीर्तन' संज्ञा दी गई है। इनके विशेष गुण हैं भक्ति-प्रचुरिमा और वेदान्त-तत्वों का सरल भाषा और सुबोध शैली में प्रतिपादन। एक कीर्तन में बालगोपाल के अनिन्द्यसुन्दर रूप का वर्णन है।

उसमें पाँच पद हैं और प्रत्येक पद का आरम्भ 'नमःशिवाय' के एक-एक अक्षर से क्रमानुसार होता है। भाषा की विशेषता के कारण हिन्दी में उसका यथावत अनुवाद करना सम्भव नहीं है। भावानुवाद यह है :

"नरकासुर के शत्रु, अरविन्दाक्ष भगवान् की शैशव क्रीड़ा और उस कोमल स्वरूप को स्मरण करके मैं अंजली बद्ध करता हूँ, अर्थात् प्रणाम करता हूँ। हे वत्स, प्रातःवेला में मेरे पास आओ, तुमको ही मैं सबसे पहले देख सकूँ! जब मैं प्रातः आँखें खोलूँ तो मुझे वही स्वरूप दिखलाई दे—वह तुम्हारा बाल स्वरूप—पीतांबर पहने हुए; सुवर्ण-कंकण, कनक किंकिणी, रत्नहार और अंगुलीय आदि से अलंकृत!"

दूसरे एक कीर्तन का प्रत्येक पाद प, पा, पि, पी आदि मात्रायुक्त पकारावली से आरम्भ होता है और इसमें श्रीकृष्ण का आपाद-चूड़ वर्णन है। इन सब कीर्तनों की संख्या इतनी बड़ी है और हिन्दी में इनका अनुवाद करना इतना दुःसाध्य है कि यहाँ कुछ के नाम गिनाकर ही सन्तोष कर लेना पड़ेगा। फिर भी पून्तानम् नम्पूतिरी-रचित 'आनन्दनृत्तं' और 'वेदान्त कीर्तनं' का परिचय देने का लोभ संवरण करना सम्भव नहीं है। आनन्दनृत्तं इस प्रकार है :

"अंबाड़ी (गोकुल) में एक शिशु है। उसके पास एक नन्ही सी 'पीपी' है—बाँसुरी। उसके छोटे-छोटे पैरों में पायल हैं। छोटी सी कमर में किंकिणी है। छोटे-छोटे हाथों में मक्खन है। छोटे-छोटे चरणों में नृत्तभेद भी हैं। दोनों छोटी जाँघें गोल-गोल और सुन्दर हैं। एक सखा है, उसका बड़ा भाई। और भी सखा हैं, छोटे-छोटे बच्चे इत्यादि।"

'वेदान्त कीर्तनं' प्रश्नोत्तर के रूप में है। वह इस प्रकार प्रारम्भ होता है :

"भगवन्! दुःख क्यों होता है?"
"दुःख जन्म लेने से होता है।"
"जन्म किस कारण से हुआ?"
"जन्म कर्मों से हुआ।"

रणोत्सुक हैं। शिशु-क्रीड़ा भी आयुधाभ्यास का ही प्रदर्शन है। 'ओणत्तल्ल' और 'कैयांकलि' इसके सूचक हैं। इस प्रकार की अगणित वीर-गाथाएँ केरल के कोने-कोने में इतिहास के आरम्भ से ही गूँजती रही हैं। इस परम्परा का प्रेरक अदम्य स्वाभिमान है। छोटी सी निन्दा और अनुमान-ग्राह्य रूप में भी आक्षेप किसी को सह्य नहीं है।

इस समर-पारम्पर्य को दूर करके समाज को सदाचार की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित करना आवश्यक था। इसके लिए केरलीयों के शौर्य, वीर्य तथा पराक्रम को उनकी कलासक्ति से मिलाकर उच्च स्तर और श्रेयोमार्ग की ओर ले जाने का प्रयत्न किया—पवित्र-चरित, महान् कवि और भक्तोत्तंस श्री तुंचत्तु रामानुजन् एडुत्तच्छन् ने। उन्होंने केरलीय जनता को रुक जाने का आदेश दिया; सरस्वती देवी के हस्त में विराजमान सारिका के कलनाद से उसे अपनी सच्ची प्रकृति का स्मरण कराया। उन्नत अभिमान तथा प्रौढ़-गम्भीर समर-पारंपर्य को स्थायी रूप में जीवित रखने के साथ-साथ उसे मार्ग-विचलित होने से बचाने के लिए सदाचार-बोध को भक्ति के अधिष्ठान में सुस्थापित करना उन्होंने आवश्यक समझा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उस तेजःपुंज ने अपना समस्त जीवन समर्पित कर दिया।

इनका जन्म तिरूर प्रदेश के पास तृकण्डियूर नाम के गाँव में एक चक्काल नायर परिवार में हुआ था। इनके यथार्थ नाम, जीवनी आदि का निश्चित ज्ञान किसी को नहीं है। अनेक गवेषणाओं के बाद विद्वज्जन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। पंडितप्रवर स्वर्गीय चेलनाट अच्युत मेनोन के विचार इस सम्बन्ध में बहुत प्रकाश डालने वाले हैं। उन्होंने लिखा है :

"वास्तव में कवि और काव्य का महत्व जानने के लिए कवि का जन्मकाल जानना बहुत आवश्यक नहीं है। इसलिए सामुदायिक तथा राष्ट्रीय परिस्थिति का अध्ययन करके उस कालघट्ट की विशेषता जानने का प्रयत्न करना पर्याप्त होगा। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में

केरल ने अति अस्वस्थता का अनुभव किया। लगभग सात-आठ सौ वर्षों से केरल एक केन्द्रीभूत शासन के अधीन सुरक्षित था। कोल्ल वर्ष के प्रारम्भ में यह सब एकदम छिन्नभिन्न हो गया। 'पेरुमाल' अप्रत्यक्ष हुआ। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय सर्वत्र चल पड़ा। सामन्तों ने अपने-अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये। उत्तर केरल में सामूतिरि और वल्लुवनाट राजा के बीच प्रत्येक वर्ष युद्ध होने लगा। उसमें सहस्रों योद्धाओं की बलि होने लगी। चारों ओर युद्ध-ही-युद्ध फैल गया। मनुष्य मृगीयता की ओर स्वयं प्रवाहित होने लगा। ब्रह्मस्थित, आदरणीय नम्पूतिरियों की हृदय-शुद्धि तथा संस्कृति अधःपतन की ओर उन्मुख हो गई। रिश्वत और करों का बोलबाला हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक कोल्लं से कण्णूर तक का राज्य सामूतिरि के अधीन हो गया। व्यापार के उद्देश्य से आये हुए अरब लोगों ने कलह को बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया। नायर वीरों ने पौरुषशाली होते हुए भी यह नहीं समझा कि वे अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। धन के साथ अधिकार भी नयकुशल तथा बुद्धिमान विदेशियों के हाथों में पहुँचने लगा। वीरता को ही स्वभाव-महत्व और शारीरिक शक्ति को ही सम्पत्ति मानने वाले नायर यह सब-कुछ समझने में असमर्थ रहे। इस समय केरलीयों की सोई हुई स्मृति को जाग्रत करने के लिए एक महा तेजःपुंज का उदय आवश्यक था।

"सोलहवीं शताब्दी के प्रभात ने वैष्णवधर्म के शंखनाद से भारत को जगाया। बंगदेश में श्री चैतन्यदेव और मेवाड़ में देवी मीरा इसी नवोन्मेश के प्रवाचक थे। वैष्णवधर्म-काहलों की प्रतिध्वनि सुदूर उत्तर से लेकर सह्याद्रि की तलहटियों तक सर्वत्र गूँजने लगी। अलवार, रामानुजाचार्य, जयदेव आदि भक्तोत्तंसों की गान-मधुरिमा से केरल पुलकित हो उठा। चेरुश्शेरि तथा कण्णश्शन इस आवेश की रागिणी के अनुकरण में रागालाप कर ही रहे थे। इस सब साहचर्य ने एक भक्ति-प्रस्थान के पूर्णोदय तथा एक गान-प्रपंच के विकास के लिए पश्चात्तल

उपस्थित किया। केरलात्मा के लिए ईश्वरोन्मुखी आत्मसमर्पण आवश्यक हुआ। उसका अभिनिवेश अदम्य होता जा रहा था। थके हुए केरल-हृदय ने भक्ति के विशाल वक्ष में विश्राम चाहा। एडुत्तच्छन, पून्तानम् और मेल्पत्तूर भट्टतिरि इस वर्धमान भक्ति-प्राचुर्य के 'निमित्त मात्र' थे। एडुत्तच्छन का जन्म सोलहवीं शताब्दी का एक अनिवार्य प्रतिभास था। धर्म-भ्रंश जहाँ-जहाँ होता है वहाँ महत्व का अँकुर भी साथ-साथ दिखाई देता है। एडुत्तच्छन भक्ति का परिपक्व फल था, केरल का धर्म-ग्लानि-मोचन था, पौरुष का पुनरुज्जीवन था, कैरली का पुण्य था।"

अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए उन्होंने रामायण, भारत, भागवत आदि पुराणों को ही आधार बनाया। यह सर्वविदित है कि वाल्मीकि रामायण धार्मिक ग्रन्थ नहीं, ऐतिहासिक कहानी है। वैष्णव धर्म का प्रचार जब बढ़ने लगा तब अवतार-कथाओं का महत्व भी बढ़ गया। श्रीरामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम से अवतार-पुरुष बन गये। तुलसीदास, 'अध्यात्म रामायण' के रचियता और कम्पर आदि अनेक-अनेक कवियों के लिए राम साक्षात् परब्रह्म बने। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि भक्ति-प्रचार ही जिनका परम लक्ष्य था उन एडुत्तच्छन ने साहित्य-गुण प्रधान वाल्मीकि रामायण को छोड़कर अध्यात्म रामायण का ही अनुकरण किया। उनकी उद्देश्य-सिद्धि के लिए राम का मनुष्यत्व नहीं, ईश्वरत्व ही उपयोगी था। काव्य के प्रारम्भ में ही उन्होंने अपना उद्देश्य इन शब्दों में स्पष्ट किया है: **"भक्तिहीन मनुष्य को शत-सहस्र वर्षों में भी ज्ञान या मोक्ष नहीं मिलेगा।"** यही उनका केरल के लिए मुख्य सन्देश था। दूसरा उद्देश्य इनके समर-वर्णन से साधित होता है।

इनकी कृतियों के अलंकार-प्रयोगों, वर्णना-चातुर्य, पद-प्रवाह, संगीत-भंगी और रसाविष्करण-सामर्थ्य का वर्णन करना साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। इससे भी अधिक ध्यान आकर्षित करने वाली वस्तुएँ उनकी जीवित-निरीक्षण दृष्टि, आदर्श दृढ़ता, पात्र-रचना-

निपुणता, कथा-चैतन्य आदि हैं, जिनके बारे में विचार आवश्यक है।

ऐसा माना जाता है कि एड्डुत्तच्छन ने अंपलप्पुड़ा के राजा की आज्ञा और मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि के निर्देश के अनुसार अध्यात्म रामायण का अनुवाद आरम्भ किया। परन्तु उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ के आदि में कहा है कि "शिवजी द्वारा कही गई यह अध्यात्म रामायण आध्यात्मिकता को उद्दीप्त करने वाला ग्रन्थ है। इसका अध्ययन करने वाले मनुष्य अनायास इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करेंगे।" इससे स्पष्ट है कि कवि ने उसके अध्यात्मतत्व को ही महत्त्व दिया है।

एड्डुत्तच्छन के समय के पहले कण्णश्शन की रामायण का प्रचार खूब हो चुका होगा। इनकी कृति में उस पूर्व-रामायण का प्रभाव अनेक स्थानों पर दिखाई देता है और इनकी सभी कृतियों में कण्णश्शन से प्राप्त प्रेरणा स्पष्ट है। इस प्रेरणा के कारण ही एड्डुत्तच्छन महत् कार्यों के निर्वाह के लिए कटिबद्ध दिखलाई पड़ते हैं। फिर भी इन दोनों के व्यक्तित्व उतने ही भिन्न हैं जितने उनके काल और उन कालों की परिस्थितियाँ। दोनों के उद्दिष्ट लक्ष्य और उन्हें प्राप्त करने के मार्ग भी भिन्न हैं। दोनों में एकरूपता केवल एक ही वस्तु में है—वह है, मातृभाषा के प्रति अदम्य प्रेम और नवनवोत्थापिनी प्रतिभा के साहाय्य से साहित्याराधना में मानो एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा। जैसा पहले कहा जा चुका है, आध्यात्मिक तत्व ही एड्डुत्तच्छन का लक्ष्य था और वे भक्ति-पंथ के सहचारी भी थे। वाल्मीकि के कला-सौन्दर्य से अधिक श्रेष्ठ संस्कृति का प्रकाशन ही उनका उद्देश्य था। इसलिए जहाँ आवश्यक हुआ उन्होंने मूल ग्रन्थ से अलग होकर स्वतन्त्रता से अपना आशय प्रकट करने में संकोच नहीं किया। उदाहरणार्थ, मूल ग्रन्थ में राम आद्यन्त देवता ही हैं, परन्तु एड्डुत्तच्छन के रामचन्द्र एक सीमा तक मनुष्य और देव दोनों के ही आदर्श बन सकते हैं। श्रीराम की बाल्यवर्णना, भार्गव राम के साथ राम के व्यंग्य-सुन्दर सम्भाषण, अयोध्याकाण्ड में अभिषेक-विघ्न-काल के विविध प्रसंग—ये सब इसके उदाहरण हैं।

शूर्पणखा के अंगच्छेद-वृत्तान्त में भी एडुत्तच्छन अपने मनोधर्म का प्रयोग करते ही हैं। शूर्पणखा और राम का परस्पर सम्भाषण औचित्य से अंगुल-भर भी विचलित नहीं होता। उसका अंगच्छेद भी एक अप्रतीक्षित प्रसंग आने पर अचानक हो जाता है। सीता के प्रति ईर्ष्या के कारण जब वह भयंकर राक्षसी उन्हें खाने के लिए दौड़ पड़ती है तब अपनी प्रजावती (भाभी) की रक्षा में बद्धश्रद्ध देवर लक्ष्मण बिना विचार किये एकदम दौड़कर उसका अंग-भंग कर देते हैं। इसमें रामचन्द्र का कोई सम्बन्ध कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। बाली-सुग्रीव प्रसंग में भी सुग्रीव के प्रति अन्याय के कारण ही राम बाली का वध करते हैं। यहाँ का और अन्य स्थानों का समर-वर्णन बिलकुल अद्वितीय है।

कैकेयी के मुख से दशरथ के वरदान का वृत्तान्त सुन कर श्रीराम ने जो उत्तर दिया वह अत्यन्त सुन्दर, सरस और अर्थपूर्ण है। वे कहते हैं :

"मां, अवश्य भरत का अभिषेक कीजिए। मैं अभी वन को चला जाऊँगा। इतनी छोटी-सी बात मुझसे न कहकर, सोच-सोचकर मेरे पिताजी क्यों दुखी हो रहे हैं? राज्य की रक्षा करने का सामर्थ्य भरत में है और राज्य का त्याग करने का सामर्थ्य मुझमें है। राज्य-भार का वहन करना कठिन है, परन्तु दण्डकारण्य का वास सुसाध्य है। मेरी मां मुझसे अधिक स्नेह करती हैं, इसीलिए तो मुझे केवल देह का भार वहन करने का सरल कर्तव्य सौंपा है।"

राम ने पिता से प्रर्थना की : "पिता जी, दुःख का त्याग कीजिए। प्रसन्न होकर मुझे आशीर्वाद और अनुज्ञा दीजिए। मैं जाऊँ।" यह नम्र निवेदन सुनकर दशरथ का हृदय विदीर्ण हो गया। इतिकर्तव्यविमूढ़ होकर वृद्ध राजा स्वयं अपने-आपको कोसते हुए रामचन्द्र से रो-रोकर प्रार्थना करते हैं :

"मेरे वत्स, मैं स्त्रीजित, अति कामी और राजाधम हूँ। ऐसे बने हुए मुझको बन्दी बनाकर अपने राज्य पर अधिकार कर लो। इसमें तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा। अन्यथा, यदि मैं स्वयं तुम्हें राज्यतिलक

कराऊँ तो मेरे सत्य का नाश हो जायगा। हे गुणाम्बुधि राघव, तुम इस धर्म-संकट से मेरी रक्षा करो।"

राम ने पिता को अपने गाढालिंगन में बाँधकर और समझा-बुझाकर विदा ले ली, परन्तु कौसल्या, लक्ष्मण और सीता को समझाने का गुरु कार्य अभी शेष ही था। जब कौसल्या के पास पहुँचकर और उन्हें सब हाल बता कर उन्होंने उनसे विदा माँगी तो कौसल्या ने कहा :

"यदि पिता कहते हैं—जाओ, तो मैं कहती हूँ—मत जाओ। गुरुत्व की दृष्टि से मैं और पिता तुम्हारे लिए बराबर हैं। यदि मेरी बात छोड़कर राजा की आज्ञा से चले जाओगे तो मैं भी प्राण-त्याग कर दूँगी।"

वाल्मीकि और तुलसीदास की कौसल्या पतिभक्ति को मातृस्नेह से आगे स्थान देती हैं, किन्तु एड्डुत्तच्छन की कौसल्या केरल के स्वतन्त्र वातावरण की मानिनी रानी है। पुत्रस्नेह से विह्वल होकर वह सब-कुछ भूल जाती है और माता की इस कातर अवस्था से लक्ष्मण भी उद्विग्न हो उठता है और गर्ज कर कहता है :

"भ्रान्तचित्त, जड़, वधूजित, वृद्ध, निर्लज्ज बने पिता को और उनका साथ देने वालों को बन्दी बनाकर या वध करके भी मैं अभी अग्रज का राज्याभिषेक बिना बाधा के करवा लूँगा। आर्यपुत्र (जेष्ठ भ्राता) का अभिषेक करवा लेने का शौर्य अभी मुझमें है।"

और अपने इस भयानक क्रोध का नीतीकरण करता हुआ वह कहता है :

"अकार्य करने वाला यदि आचार्य (गुरु) भी हो तो उसको भी दबाकर शासन करना ही पड़ता है।"

इस प्रकार कहकर 'तद्रुषा लोकत्रयं दग्ध करने के लिए सन्नद्ध', शोक-रोषादि से भरी हुई आँखों से देखनेवाले लक्ष्मण को सान्त्वना देने के लिए 'मन्द हासपूर्वं, मन्देतरं' उन्हें आलिंगन करनेवाले श्री राम को एषुत्तच्छन की लेखनी कैसा चित्रित करती है, तनिक देखिए—वे सुन्दर,

इन्दीवर श्यामल कलेवर श्री रामचन्द्र कहते हैं :

"हे वत्स, सौमित्र, कुमार ! मत्सरबुद्धि और क्रोध छोड़कर एक क्षण के लिए मेरी बात सुनो। मैं तुम्हारे यथार्थ रूप को जानता हूँ। मुझे यह भी ज्ञात है कि तुम्हारे दिल में मेरे प्रति प्रेम किसी से भी बढ़ कर है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि ध्यान से सुनो। यदि यह राज्य, देह, धन, धान्य नित्य है और सत्य है तो तुम्हारा यह प्रयास युक्त है। यदि न हो तो क्या लाभ ? भोग सब क्षण-प्रभा-चंचल हैं। मर्त्य जन्म वह्नि-संतप्त लोह पर पड़े हुए अम्बु-बिन्दु के समान क्षणभंगुर है।

"जिस प्रकार सर्प के मुख में पड़ा हुआ दर्दुर (मेंढक) भोजन ढूँढ़ता हो उसी प्रकार कालरूपी सर्प से ग्रसित विश्व विषय-सुखों के पीछे दौड़ता है।"

इसके पश्चात् संसार की नश्वरता, आत्मा की नित्यता, विद्या और अविद्या का सरल-सुन्दर वाक्यों में विश्लेषण करके वे कहते हैं :

"क्रोध से दुःख होता है। क्रोध से संसार-बन्धन होता है। क्रोध के कारण कर्म-क्षय होता है। इसलिए बुद्धिमान लोगों को क्रोध छोड़ देना चाहिए। क्रोधी यमराज है, तृष्णा वैतरणी है, संतृप्ति नन्दनवन है और शान्ति कामधेनु है। यह सब समझकर शान्ति का ही सेवन करो तो किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा।"

यह लक्ष्मणोपदेश मलयाल साहित्य की अध्यात्म-शाला का अनश्वर, दूर-दूर तक सुगन्ध प्रसारित करनेवाला और मनोहर कल्याणसौगन्धिक पुष्प (गन्धमादन) है।

लक्ष्मण को शान्त करने के बाद राम अपनी माता से केवल दो वाक्य ही कहते हैं, जिससे उनकी इंगितज्ञता का परिचय मिलता है :

"माँ, साधारण प्राकृत स्त्रियों के समान विलाप करना और दैवगति को विपत्ति मानना आपके लिए उचित नहीं है। आत्मा को न जानने वालों के समान दुःख मत कीजिए। मेरी जननी, आप तो सर्वज्ञा हैं। पिता के आज्ञा-पालन का निर्देश मुझे आपसे ही मिलना चाहिए।"

माता से आज्ञा पाकर, लक्ष्मण को साथ चलने की अनुमति देकर, श्री रामचन्द्र जानकी देवी के अन्तःपुर में पहुँचते हैं। उन दोनों के सम्भाषण का रसास्वादन एडुत्तच्छंन के शब्दों से ही हो सकता है। सीता पति के सभी तर्कों का खण्डन करके अन्त में कहती हैं :

"प्रकृति से पृथक् कभी पुरुष का अस्तित्व हो सकता है ? सीता के बिना राम का वनवास कभी सम्भव है ? और, पाणिग्रहण के मन्त्र का अर्थ भी सोचिए। प्राणावसान में भी हम पृथक् हो सकते हैं ? धर्म से, नीति से, किसी भी कारण से आपको मुझे छोड़कर जाना शोभा नहीं देता। यदि अब भी आप मानने को तैयार नहीं हैं तो इसका एक ही अर्थ है कि आपने मुझे प्राण छोड़ देने की अनुमति दे दी है।"

इस पर श्रीराम ने उनकी बात मान ली और कहा :

"तो, ऐसा ही हो। जानकी, अपने आभरण आदि अरुन्धती (वसिष्ठ-पत्नी) को दे दो। फिर हम चलेंगे।"

तदुपरान्त तीनों मिलकर दशरथ के पास जाते और उनसे विदा मांगते हैं। इस करुण दृश्य का वर्णन बिना आँसू बहाये पढ़ सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। और इस करुणा का मुकुटोदाहरण है ककेयी का सीता को वल्कल अर्पित करने का प्रसंग। श्रीराम और लक्ष्मण ने तो चीर-वसन पहन लिया, परन्तु जनकपुत्री सीता अपरिचय के कारण वल्कल हाथ में लिये कुछ लज्जा, कुछ संभ्रम, कुछ शंका, कुछ संकोच आदि विविधविकार-तरलित होकर पति का मुख देखने लगी, मानो प्रश्न कर रही हो—"मैं इसे कैसे पहनूँ ? मुझे आता तो नहीं है ?" श्रीरामचन्द्र ने तुरन्त उनके पास जाकर दिव्य वस्त्रों के ऊपर से ही वल्कल उनको पहना दिया। यह दृश्य इतना करुण था कि समचित्त तपोधन वसिष्ठ का हृदय भी क्षुब्ध हो उठा और वे चीख उठे :

"दुष्टे, राक्षसी, कठोर स्वाभाविनी ! यह कितना भयानक है ! ! राम वनवास करें यही वरदान तुमने मांगा था ! जानकी को वल्कल पहनाने की इच्छा तुम्हें क्यों हुई ? यदि पतिव्रता सीता स्वामी के साथ वन में

जाना ही चाहती है तो दिव्यांबर आभरण अलंकृता होकर क्यों न जाय ? उसे तुमने वल्कल क्यों दिया ? कैसा तुम्हारा हृदय है !"

रावण-वध में भी कई विशेषताएँ दिखाई देती हैं। रावण के चरित्र-चित्रण में एड्डुत्तच्छन ने औचित्य का जो समावेश किया है वह उनके विचारों का अमृत है। काल-कवलित राक्षसराज के प्रति राघव के हृदय में आदर और दाक्षिण्य है। मन्दोदरी के साथ भी वे आदर और सहानुभूति का व्यवहार करते हैं। शक्ति, दृढ़ निश्चय, आत्माभिमान, स्वप्रत्यय, स्थैर्य आदि गुणों के निधान रावण के प्रति उचित आदर और प्रेम प्रकट करके राम पाठकों की दृष्टि में सचमुच देव बन जाते हैं। जब विभीषण ने कहा—"मैं इस दुष्ट की शेष-क्रिया नहीं करना चाहता," तो राम के निम्नलिखित उत्तर में उसका महत्व व्यक्त हुआ :

"पौलस्त्य के पुत्र, ब्रह्मनिष्ठ, शिवभक्त रावण निन्द्य नहीं, वन्द्य हैं। शत्रुता आमरणान्त होती है। और अभिमुख युद्ध में वीरगति प्राप्त किये हुए रावण को स्वर्ग-प्राप्ति हुई है। आओ, अग्निहोत्री ब्राह्मण के जैसे इनकी अनन्तर-क्रिया करो। यह तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम इनके छोटे भाई हो।"

'भाषा अध्यात्म रामायण' के रावण का चरित्र अन्य रामायणों के रावण के चरित्र से बहुत भिन्न है। वाल्मीकि ने अपने काव्य में उत्कर्ष को बढ़ाने की दृष्टि से रावण को कुछ उन्नत बनाया है। परन्तु क्रूरता, आत्मप्रशंसा आदि से उसका उतना ही अधःकरण भी किया है। 'संस्कृत अध्यात्म रामायण' का रावण मूढ, कामी, विलासी, घमंडी तथा धूर्त है। परन्तु एड्डुत्तच्छन का रावण परम भागवत, नीतिनिष्ठ और दक्षिण-नायक है। कई स्थानों पर उसके गुण-विशेषों और राम के प्रति विद्वेष-भक्ति को उसके मुख से ही प्रकट कराया गया है।

जब शूर्पणखा उसके पास जाकर अपने अंग-भंग की कहानी कहती और खर-दूषण-त्रिशिरादि के मुहूर्त-मात्र में मारे जाने का संवाद देकर अश्रु बहाती हुई उससे प्रतीकार की अपेक्षा करती है तो वह एकदम

उसकी बातों में नहीं आ जाता। उसका मोक्षार्थी मन सोचने लगता है :

"यदि रामचन्द्र ने खरादि राक्षसों को इस प्रकार नष्ट कर दिया तो वे कदापि मनुष्य नहीं हैं। निश्चय ही वे भक्तवत्सल, मोक्षदायी परमात्मा हैं, ब्रह्मा की प्रार्थना से मुझे मारने के लिए अवतीर्ण हुए भगवान् नारायण ही हैं। चलो अच्छा हुआ, अब मैं भी जल्दी करूँगा। किसी प्रकार उनके क्रोध को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके हाथों से मरूँ तो वैकुण्ठ मिलेगा, नहीं तो शत्रु-जय करके लंका का पालन करूँगा।"

यह निश्चय करके वह मारीच के पास जाकर उसे स्वर्ण-मृग बनकर राम को मोहित करने का आदेश देता है। मारीच उसे समझाने का विफल प्रयत्न करता है। उस वीरवर का उत्तर एक ही है :

" 'अलंघनीया कमलासनाज्ञा'—यदि भगवान् ने मुझे मारने का संकल्प किया है तो वह पूरा होगा ही। तुम क्यों बकवास करते हो ?

" 'यद्भावी तद्भवतु'—मरना हो तो उनके ही हाथ से मरूँगा। तुम चलो और मेरी आज्ञा का पालन करो। नहीं तो मैं तुम्हें अभी समाप्त कर दूँगा।"

इस क्षण में रावण ने जो मनोभाव व्यक्त किये वही अभिमुख युद्ध में स्वर्ग प्राप्त होने तक दृढ़ रहे। एक स्वप्न से उसे मालूम होता है कि श्रीराम के पास से एक वानर दौत्य लेकर सीता के पास आया है। वह सोचने लगता है :

"यदि यह स्वप्न सत्य हो तो उस दूत के सामने मैं सीता को खूब कष्ट दूँगा, जिससे वह राम से जाकर कहेगा। राम और भी शीघ्रता करके यहाँ आयेंगे और मुझे शीघ्र ही इस राक्षस-योनि से मुक्ति मिल जायगी।"

वह अर्ध-रात्रि में सीता के पास पहुँचता है। वहाँ सीता से प्रणय-प्रार्थना करता हुआ जो श्लेषमय भाषण करता है उसका स्वारस्य अनुभवैकवेद्य है :

"हे सुमुखि ! सुनो। मैं तुम्हारे चरण-नलिनों का दास हूँ। मुझ पर प्रसन्न हो जाओ। मैं असुरों का राजा और तीनों लोकों का नाथ हूँ—ऐसे मुझको देखकर तुम अपने-आपमें क्यों छिपकर बैठी हो? एक क्षण के लिए ही सही, मेरी ओर देखो तो सही ! यह जानो कि मैं तुममें ही विलीन मानस हूँ। तुम्हारा पति, दशरथ का पुत्र बड़ा ही विचित्र व्यक्ति है। उसे कभी किसी जगह पर लोग देख पाते हैं, कभी कितना भी ढूँढ़ें, अति भाग्यशाली भी देख नहीं पाते। ऐसे राम से तुम्हें क्या मतलब ? उसे किसी वस्तु से कोई मोह नहीं है। वह निर्गुण है। तुम सदा ही उसके पास रहो, सदा ही उसकी सेवा करती रहो, सदा ही वह तुम्हारे गुण का अनुभव करता रहे, फिर भी उसको तुममें कोई अनुरक्ति नहीं हो सकती। उसके लिए कहीं कोई शरण नहीं है। और शक्तिहीन (शक्ति से विरहित) अब वह आयेगा भी नहीं। वह निष्किंचन-प्रिय, भेदहीनात्मक, और विरागी है। श्वान और गो में, पण्डित और पामर में उसे कोई भेद नहीं है। तुममें और एक श्वपच स्त्री में वह कोई भेद नहीं मान सकता। ऐसे पति की राह तुम क्यों देख रही हो ? वह कभी नहीं आयगा। उसने तुम्हें भुला दिया है। अब उसकी प्रतीक्षा न करके अपने पर अनुरक्त मुझको स्वीकार करो। करतलगत वरमणि को फेंककर काँच के टुकड़े की चाह क्यों करती हो ?"

पद-पद में राम के दोष-दर्शन कराने के विचार से परब्रह्म परमात्मा का वर्णन करनेवाला यह प्रसंग रावण की विद्वेष-भक्ति की एक मूर्त प्रतिध्वनि है।

रावण की सभा का वर्णन करते हुए कवि की लेखनी थकती ही नहीं। हनुमान ब्रह्मास्त्र से बाँधकर लाये गए, तो रावण की आज्ञा से प्रहस्त ने उनका परिचय और आने का कारण पूछा :

"विनय और नय के साथ प्रहस्त ने पवनतनय से पूछा—हे कपे, तुम किसके दूत बनकर आये हो ? इस राज्यसभा में सत्य बोलो। डरने की कोई बात नहीं। ब्रह्मसभा जैसी प्रभावशाली इस सभा को देखो।

यहाँ अनीति, अनृत, अधर्म आदि निषिद्ध कर्म नहीं होता।"

श्री रामचन्द्र और सीतादेवी के चरित्र-चित्रण में भी मनुष्यत्व के साथ देवत्व की उचित मात्रा का सम्मिश्रण करके अनुवाचकों की हृदय-वेदी पर उनकी शाश्वत प्रतिष्ठा करने का सफल प्रयत्न एड्डुत्तच्छन ने किया है। सीतादेवी के हृदयालुत्व के अनेक उदाहरणों में से एक को यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा। रावण-वध के पश्चात् अयोध्या को लौटते समय राम जब सीता और लक्ष्मण के साथ किष्किन्धा को पार करने लगते हैं तो सीता न केवल उन वानर-स्त्रियों से मिलने की इच्छा व्यक्त करती हैं, जिनके पति-पुत्रों ने राम के लिए अपने प्राणों को तुला पर चढ़ा दिया था, वरन् उन्हें अपने साथ ले भी जाती हैं, जिससे वे बिछुड़े हुए स्वजनों से मिल सकें और इसमें विलम्ब न हो।

'भाषा अध्यात्म रामायण' में सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण में आदर्श और व्यवहार साथ-साथ चलता दिखलाई पड़ता है। मूल अध्यात्म-रामायण के प्रसंग यदि अपनी उत्तम संस्कृति के प्रतिकूल दिखलाई पड़ते हैं तो उन्हें छोड़ देने में एड्डुत्तच्छन कोई संकोच नहीं करते। आवश्यकता के अनुसार वे नये प्रसंग भी जोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, मूल वाल्मीकि रामायण में अगस्त्य राम के पास आकर उन्हें आदित्य-हृदय मंत्र का उपदेश करते हैं। मूल अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग नहीं है। एड्डुत्तच्छन ने इसे छोड़ा नहीं। केरल के सूर्य-नमस्कार और रविवार-व्रत की परम्परा ने मानो उनका मार्ग-दर्शन किया है।

संक्षेप में, अनुवाद होते हुए भी यह स्वतन्त्र कृति है। आशयानु-करण में भी निजी विशेषताएँ, भक्ति और आध्यात्मिकता में भी मानव-हृदय के सरल माधुर्य, देवत्व तथा मनुष्यत्व का अपूर्व सम्मिश्रण आदि इस रामायण की विशेषताएँ अवर्णनीय तथा अतिगणनीय हैं।

इसी कवि की एक अन्य कृति 'महाभारत' है। विकस्वरावस्था में सौरभ वितरित करने वाली सरस्वती-लता इस कृति में फलभरनम्र

होकर ग्रानन्दास्वादन कराती दिखाई दे रही है। रामायण और महा-भारत का एक मुख्य अन्तर यह है कि रामायण में अध्यात्म तत्वा-विष्करण के लिए कथा-बन्धन किया गया है, भारत में यह परतन्त्रता नहीं मालूम होती। एडुत्तच्छन की कविता-निर्झरिणी आह्लादकारिणी होकर पूर्ण वेग से बहती है। प्रथम कृति में आदर्शात्मकत्व अधिक था। इसमें कला का पूर्ण विकास, सौन्दर्य-बोध का विशद आविष्करण और कोमल-सुन्दर शैली-विलास दृष्टिगोचर होता है।

मलयालम् महाभारत 'पंचम वेद' कहलाने वाले अति विस्तृत महाभारत का संक्षिप्त भाषान्तर है। परन्तु इस संक्षिप्त संस्करण में मूल ग्रन्थ का कोई महत्वपूर्ण प्रसंग छूटा नहीं है। उसकी अनुस्यूत धारा का भंग कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। इस में एडुत्तच्छन ने अपनी अनु-सन्धान-बुद्धि और तीव्र समालोचन दृष्टि का यथोचित्त उपयोग किया है।

कवि अपनी कृति में पाण्डवों की कथा को ही मुख्य रूप देकर आगे बढ़े हैं। उन्होंने प्रक्षिप्त तथा अनावश्यक आख्यानों को निस्संकोच छोड़-कर प्रकृत कथा पर अपना ध्यान जमाया है। सम्भवपर्व तक की कहानी यथार्थ कथा की पीठ-भूमिका मात्र है। यह एडुत्तच्छन ने भुलाया नहीं। उस विभाग का संक्षिप्त अनुवाद करके वे कथा-बीज में पहुँचते हैं। उनकी काटछाँट की मनोवृत्ति यहाँ तक प्रबल दिखाई पड़ती है कि उन्होंने भीष्मपर्व में गीतोपदेश को चार पंक्तियों में बताकर समाप्त कर दिया है। शायद उन्होंने इसलिए इस प्रसंग को छोड़ दिया कि कथा-प्रसंग के बीच में गहनतम अध्यात्म-तत्वों का कोई स्थान नहीं है। फिर भी एक वाक्य में उन्होंने गीता का सार तो दे ही दिया है:

"उस समय जो उपदेश किया गया वह सब उपनिषद् है, इसलिए ज्ञानीजनों ने उसे गीता कहा है। उसका संक्षेप है—"हे कुरुनृवर, भय छोड़ दो और युद्ध करो। कुण्ठित मत हो। जो-कुछ दिखाई देता है, सब मैं ही हूँ।"

श्रीकृष्ण के कृपा-प्रकाश में पाण्डव-विजय की कथा का वर्णन करके

कवि उस कृति में 'दैवाधीनं जगत्सर्वं' तत्व को स्थापित करता है। यदि भगवान् की सहायता न होती तो पाण्डव कहाँ होते ? भाषा-भारत पढ़ने के बाद यही प्रश्न मन में बार-बार उठता है।

रामायण और महाभारत की भाषा-शैली में उतना ही अन्तर दिखाई पड़ता है जितना कि उनके नायकों में है। श्रीराम हैं त्याग-मूर्ति, कर्तव्यनिष्ठ, मर्यादापुरुषोत्तम; श्रीकृष्ण हैं प्रेममूर्ति, समस्त लोकाकर्षक, साक्षात् सर्वभूतान्तस्थित परमात्मा। श्रीराम गाम्भीर्य-समुद्र हैं. उनके सामने हमारा हृदय भय-भक्त्यादर संयुक्त एक विशिष्ट भावना से भर जाता है। उनके और पाठकों के बीच एक महासमुद्र है। परन्तु श्रीकृष्ण हमारे अपने ही हैं। उनका प्रेमार्द्र मुरली-गान और मन्द स्मित-सुन्दर मुखचन्द्र हमें उनके निकटतम पहुँचा देता है। उनके सान्निध्य में हमें न भय है, न शोक है, न गाम्भीर्य है। प्रेम ! केवल आनन्दकन्द, मधुर, आत्मविस्मृतिकारी, आत्म-समर्पण-प्रेरक, निर्मल प्रेम ! यही एकमात्र विकार श्रीकृष्ण की स्मृति से हृदय को आन्दोलित करता है। इसी कृष्ण का दर्शन महाभारत में हमें मिलता है। सामने आये-न-आये, भारत-कथा का सूत्रधार वही प्रपंच का कपट-नाटक-सूत्रधार, नर-सखा नारायण है। यही सत्य स्त्री-पर्व में गांधारी के मुख से एड्डुत्तच्छन स्पष्टतया कहलाते हैं—"यह सब तुम्हारा काम है। मैं जानती हूँ, तुम सब को मृत्यु के मुख में भेजना ही चाहते हो।" परन्तु श्रीकृष्ण का भक्त-प्रेम अन्याय, विवेकहीनता या पक्षपात से मलिन नहीं होता। उनका न्याय सभी के लिए है। प्रेम तथा कर्तव्यनिष्ठा में बाध्य-बाधक भाव नहीं होता। यह कृष्णार्जुन-युद्ध, सुभद्रा-हरण, सन्तानगोपाल आदि प्रसंगों से स्पष्ट है। आदर्शमय और गम्भीर कथा-प्रवृत्त रामायण की भाषा प्रौढ़ तथा गम्भीर है। परन्तु भारत की भाषा ललित-कोमल तथा प्रसन्न-मधुर है। क्षण-मात्र में ही अर्थ-बोध देने की शक्ति उसमें पर्याप्त मात्रा में है। एड्डुत्तच्छन की सर्वतोमुखी कल्पना का उन्मेष, कथा-विष्करण का अपार नैपुण्य भाषा-संस्कृत शब्दों को क्षीर-नीरवत्

संमिश्रित करने की क्षमता तथा तूलिका चित्रण-चातुर्य भारत में विशेष प्रकाशित है। यथार्थ में इस कवि के कवित्व का पूर्ण विकास भारत में ही दिखाई देता है।

एड़ुत्तच्छन की सब कृतियाँ किलिप्पाट्टु (सारिका-गीत) के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सभी ग्रन्थ सरस्वती देवी के हस्त में विराजमान सारिका के द्वारा कहलाई गई कहानी के रूप में आविष्कृत हैं। वे सारिका को आमन्त्रित करके, आदर-सत्कार के साथ बैठा कर उससे प्रश्न करते हैं। उत्तर में वह सब कहानी पुराण-ऋषियों से सुने अनुसार कहती है। उनमें कवि ने काकली, कलकांची, मणिकांची, मात्राकाकली, द्रुतकाकली, केका, अन्ननड, आदि मात्रावृत्तों का प्रयोग किया है। ये सभी प्राचीनतम साहित्यकाल से मलयाल भाषा में प्रचलित थे। इन गीतिवृत्तों की सरलता और माधुर्य का अनुभव ही किया जा सकता है। इन वृत्तों में एड़ुत्तच्छन ने रसानुगुण, पद-प्रौढ़ता, आशय-सारल्य, प्रयोग-चातुर्य तथा अनाडम्बर शब्द-विन्यास के साथ सन्मार्गबोध, सदाचार तथा आदर्श-शुद्धि की अन्तर्वाहिनी के प्रवाह का अपूर्ण सम्मिलन किया है। साधारण कविता भावात्मक, वर्णनात्मक तथा वस्तु-प्रतिपादक इस प्रकार तीन शाखाओं में विभाजित है। इन तीनों शाखाओं में एड़ुत्तच्छन की शारिका अद्वितीया ही है। पौरस्त्य साहित्य में सर्वोत्कृष्ट माने गये रस-ध्वनि काव्य के सिद्धान्त पर ही एड़ुत्तच्छन की काव्य-सरिता प्रवाहित होती है। शास्त्र-प्रसिद्ध नवरसों के अतिरिक्त उन्होंने भक्ति को भी एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रवृत्त किया है।

रामायण और भारत की कविता की पृष्ठभूमि पर कवि एक ऋषि जैसे दृष्टिगत होते हैं। 'नानृषिः कविः'—जो ऋषि नहीं है वह कवि नहीं हो सकता। यह कथन एड़ुत्तच्छन के विषय में सत्य सिद्ध हुआ है। उनकी कविता बारी-बारी से आदर्शमय कल्पनालोक में और सत्यमय व्यावहारिक जगत में विचरण करती है। युद्ध-वर्णनों में वीर-रस, कभी-कभी वीभत्स-रस, गांधारी-विलाप आदि स्थलों में करुण-रस तथा आपाद-

चूड़ भक्ति-रस में तल्लीन होकर उनकी भारती स्वर्लोक मन्दाकिनी के समान बहती है।

रामायण, भारत तथा भागवत से अपरिचित कोई भी केरलीय परिवार समीपकाल तक नहीं था। ऐसा एक भी घर नहीं था, जिसमें प्रति दिन प्रदोष-संध्या में रामायण का पारायण न होता हो। उत्तर भारत में जो स्थान तुलसी-रामायण का है वैसा ही या उससे भी अधिक प्रिय स्थान केरल में एडुत्तच्छन की भाषा अध्यात्म रामायण का है। भारत को पारायण के लिए उपयुक्त नहीं माना गया, परन्तु जनता के हृदय पर उसका कितना प्रभाव है इसका अनुमान इस मान्यता से किया जा सकता है कि उसके नित्य पारायण से घर में कलह का भय है। सुना है, उतर भारत में भी भारत के विषय में इसी प्रकार की मान्यता है।

संस्कृत प्रभाव काल के अन्तिम चरण में जिन तीन कवि-कोकिलों—कण्णश्शन्, चेरुश्शेरि और एडुत्तच्छन—के मधुर गान ने केरल साहित्य-वाटिका को मुखरित किया। उनमें महाकवि, तत्वचिन्तक और संस्कृति-पोषक आदि की सभी दृष्टियों से एडुत्तच्छन ही प्रथम-स्थानार्ह मालूम होते हैं। इस महाकवि का शारिका-कल-रव सह्याद्रि से भारत समुद्र की अतलोर्मि तक सदा गूँजता रहता है और भविष्य में भी उसके मंद पड़ जाने की कोई आशंका दिखलाई नहीं पड़ती।

एडुत्तच्छन की 'श्री महाभागवत' भागवतपुराण का स्वतन्त्र अनुवाद है, और इसके कृतित्व के बारे में मतभेद होने पर भी अधिकतर विद्वान इसे एडुत्तच्छन की ही कृति मानते हैं। इसमें भी महाकवि ने अपनी उसी प्रतिभा और भक्ति का परिचय दिया है, जो उनके उपर्युक्त दो ग्रन्थों में परिलक्षित होती है।

उपर्युक्त तीनों पुराणों के अतिरिक्त कई अप्रधान कृतियाँ भी अनिश्चित ग्रन्थ-कर्तृत्व के कारण, या किसी भी अन्य कारण से, एडुत्तच्छन की मानी जाती हैं। उनके अनेक काव्य-गुणों और आशय-पौष्कल्यादि से

इस निष्कर्ष की पुष्टि भी होती है। सम्भव है कि कुछ उनके हों और कुछ उनके शिष्यों और अन्य भक्त कवियों ने लिखे हों। इस प्रकार के ग्रन्थ ये हैं--'ब्रह्माण्ड पुराणं', 'उत्तर रामायणं', 'देवी माहात्म्यं भाषा' 'चिन्तारत्नं', 'हरिनाम कीर्तनं', 'मुकुन्दाष्टकं', 'केरलोत्पत्ति' आदि।

एडुत्तच्छन की कृतियों में दो व्यक्तियों का विशेष निर्देश दिखाई देता है—एक हैं उनके 'अग्रजन मम सतां विदुषांमग्रेसरन राम नामनां आचार्य' और दूसरे 'नेत्रनारायण' नाम से प्रख्यात एक अड्वंचेरि तम्प्राकल्। इनके अतिरिक्त, मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि और पून्तानम् नम्पूतिरि भी इनके समकालीन माने जाते हैं।

कुछ समय पूर्व कुछ प्राचीन लेखों में एक श्लोक प्राप्त हुआ है, जिससे मालूम होता है कि एडुत्तच्छन की मृत्यु-तिथि २४, धनुमास, कोल्ल संवत् ७३२, तदनुसार ईसवी सन् १५५७ में हुई। श्लोक इस प्रकार है :

भास्वत्तुंचाख्यसत्मन्यखिलगुणगण श्रेणि पूर्णोवतीर्ण :
श्रीमन्नीलाद्यकण्ठाद्विदित बहुपथस्सर्व शास्त्रागमानां।
योऽन्ते त्यक्त्वा च चिट्टूर पुरवरसविधे सूर्यनारायणं मां
हंसं प्राप्यन्नु सौम्यं पदमगमदहो मद्गुरू रामनामा।

अर्थात्—प्रकाशमय "तुञ्चत्तु" नाम के घर में अखिल गुण-गण-श्रेणी पूर्ण होकर, श्री नीलकण्ठ गुरु से सर्वशास्त्रों और आगमों का ज्ञान प्राप्त करके, अन्तकाल में चिट्टूर नगर के सामने मुझे (सूर्य नारायण नामक मुझे) छोड़कर मेरे रामनामा गुरुने दुःखहीन हंस पद को प्राप्त किया।

: ७ :

अन्य कवि

मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि सामूतिरि की राजसभा के कवियों में एक थे। वे संस्कृत कवि थे और अपने संस्कृत-ज्ञान के कारण अहंमन्य भी थे। उनके विषय में ऐतिह्य है कि वे कुष्ठ रोग से आक्रांत हो गये थे। किसी प्रकार भी उससे मुक्ति न पाने पर गुरुवायूर क्षेत्र में भजन करते हुए जीवन व्यतीत करने लगे। वहाँ मण्डल-(४१ दिन के)-भजन के साथ उनका रोग शान्त होने लगा। वहाँ उन्होंने 'भागवतं दशमं स्कंधं' की कथा दस-दस पद्यों के सौ सर्गों में निबद्ध की। यह काव्य "नारायणीयं" के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि काव्य के पूर्ण होते होते वे स्वस्थ हो गये थे। अन्तिम सर्ग में 'अग्रे पश्यामि तेजो निबिडतर कलायावली दीप्यमाने' आदि श्लोक उन्होंने सचमुच ही भगवान् श्री गुरुवायूर मन्दिरेश्वर को सामने देखकर रचे मालूम होते हैं। कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक अनुपम काव्य-तल्लज है। एडुत्तच्छन और भट्टतिरि का सौहृद भगवद्भक्ति रूपी समान धर्म पर प्रतिष्ठित था।

इनके ही समानकालीन हैं 'सन्तानगोपालं', 'ज्ञानपानं' आदि भक्ति-रसायन-पर काव्यों के रचयिता पून्तानम् नम्पूतिरि। शारीरिक यातना ने मेल्पत्तूर को भक्त बनाया, पारिवारिक यातनाओं ने पून्तानम् को भगवत्पादारविन्दों में ले जाकर समर्पित किया। परन्तु दोनों कवियों में जो मुख्य अन्तर दिखाई देता है वह यह है कि पून्तानम् इहलोक के सुखों के लिए प्रार्थना न करके भव-बन्धन से सदा के लिए मुक्ति मांगते हैं,

जब कि मेल्पत्तूर अपनी रोग-शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। इस वेदान्त तत्वज्ञान और मोक्ष-कामना ने ही पून्तानम् और एडुत्तच्छन को समानधर्मा बनाया है।

मेल्पत्तूर और पून्तानम् का सम्बन्ध ऐतिह्यकारों ने जोड़ दिया है। कहा जाता है कि एक बार पूतानम् अपनी भाषा-कृति 'श्रीकृष्णकर्णामृतं' विद्वत् शिरोमणि मेल्पत्तूर भट्टतिरि को दिखाने ले गये। भट्टतिरि ने भाषा-कृति के प्रति अवज्ञा के साथ कहा—"मुझे समय नहीं है।" इस अपमान से व्यथित होकर पून्तानम् मन्दिर के बाहर बरामदे में जाकर लेट गये। रात को भट्टतिरि की वातव्याधि बढ़ गई और जब वे अपने कष्ट से अत्यन्त व्याकुल थे, तब 'मोरपंख-जटित, मेघश्यामवर्ण, चिकुर-बन्धनयुक्त, सुवर्ण किंकिणियों से अलंकृत, कटि में मंजुल-सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए, किसलय-मृदु करकमलों में मुरली लिये हुए, व्रज के मृदल-मनोहर शिशु' ने उन्हें दर्शन देकर घंटा-ध्वनि को भी फीका कर देने वाले स्वर में कहा—"मेल्पत्तूर की विभक्ति से पून्तानम् की भक्ति ही मुझे अधिक इष्ट है। उस शुद्ध ब्राह्मण का दुःख मिटाओ। उससे क्षमा माँगो। इसके अतिरिक्त अब तुम्हारे रोग की कोई औषधि नहीं है।" इस प्रकार स्वयं भगवान् के मुख से भक्ति-दृढ़ता का साक्षी-पत्र मिल जाने पर पून्तानम् के भक्ति-काव्यों के बारे में और कोई क्या कहे !

'ज्ञानपानं' के उद्भाव के सम्बन्ध में भी एक ऐतिह्य है। पून्तानम् भक्ति-मार्ग पर आगे बढ़ते जाने वाले एक शुद्ध ब्राह्मण थे। वृद्धावस्था में अनेक प्रार्थनाओं के फलस्वरूप उन्हें पुत्र का मुख देखने को मिला। उसके जन्म के बाद उनका और उनकी पत्नी का ध्यान उत्तरोत्तर उसकी ओर खिंचता गया। एक वर्ष बाद शिशु का अन्नप्राशन समारम्भ हुआ। उस दिन सोये हुए शिशु के ऊपर धोखे से अतिथियों के वस्त्र पड़ते गये और शिशु श्वास अवरुद्ध हो जाने से अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी माता ने उसके दुःख से कुएँ में गिरकर प्राण दे दिये। घर असा-

वधानी के कारण अग्नि देवता का ग्रास हो गया। पून्तानम् एक चटाई और एक पानदान लेकर रास्ते पर चल दिये। वहाँ अन्न-प्राशन के लिए आमन्त्रित एक अतिथि को आता हुआ देखकर उन्होंने कहा : "अब कुछ शान्ति मिली। आइए, बैठकर आराम से पान खायें।" उसी समय एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर उन्होंने 'पाना' वृत्त में 'ज्ञानपानं' नामक तत्वज्ञान-भण्डागार का आरम्भ इन शब्दों में किया :

"कल तक क्या था यह भी नहीं मालूम, आगामी कल क्या होगा यह भी नहीं मालूम।"

बाद में उन्होंने 'ज्ञानपानं' द्वारा स्थापित किया कि 'अपना कर्म ही अपना भाग्य है और इस कर्ममय संसार में भक्ति तथा ईश्वर नाम संकीर्तन से मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही मनुष्य-धर्म है।' तर्क पर तर्क लगाकर वे पूछते हैं :

"जन्म लेते समय हम साथ नहीं होते, मृत्यु के समय भी अकेले ही रहते हैं, तो जब बीच मार्ग में थोड़े समय के लिए मिलते हैं तब क्यों आपस में झगड़ते हैं?"

इस प्रकार प्रश्न करके वे मानव की बुद्धिहीनता का उपहास करते हैं और दूसरी ओर अपनी ही आत्मा को उलाहना देने के बहाने मनुष्य को उसके मोह के बारे में चेतावनी देते हुए कहते हैं :

"जब प्यारा बालकृष्ण हृदयवेदी पर नृत्य कर रहा है तब पुत्र के रूप में और शिशुओं की क्या आवश्यकता है?"

वेदान्त के लिए जिस प्रकार 'ज्ञानपानं' उच्चतम कोटि का ग्रन्थ है उसी प्रकार काव्य की दृष्टि से 'सन्तानगोपालम्' प्रथम-स्थानार्ह है। अर्जुन की साहसमय किन्तु विचारहीन प्रतिज्ञा को पूर्ण कराने के लिए भगवान् उसे वैकुण्ठ में ले जाकर ब्राह्मण के मरे हुए पुत्र प्राप्त कराते हैं। 'भगवत पुराण' की यही कहानी इस काव्य का इतिवृत्त है। काव्य-सौन्दर्य, कला-नैपुण्य तथा भक्ति-वैवश्य का उत्तम उदाहरण है यह ग्रन्थ।

इनके 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

यह एक स्तोत्र-कृति है और इसके अनेक श्लोक केरल के जन-जन की जिह्वा पर हैं।

भक्ति-प्रस्थान में उपर्युक्त कवियों के प्रयत्नों को स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त है। इनकी कृतियाँ केरल के कोने-कोने में पण्डित-पामर भेद के बिना गाई जाती हैं। 'अध्यात्म रामायणं' के अनेक स्तोत्र, 'भारतं' के 'निरन्नपीलिकल निरक्कवेकुत्ति' आदि कृष्ण-वर्णन के पद्य पाँच-पाँच वर्ष के बालकों के भी जिह्वाग्र में हैं। यह भक्ति-लहरी आज भी कैरली देवी के लिए पुलकोद्गमकारी है।

एडुत्तच्छन के शारिका-कल-कूजन के पश्चात् केरलीय साहित्य का अन्तरिक्ष कुछ अन्धकारावृत्त दिखलाई पड़ने लगा था। इस समय गान-वृत्तों में 'ब्रह्माण्डपुराणं', 'स्कन्दपुराणं' आदि अनेक भाषान्तरित ग्रन्थ विरचित हुए, किन्तु साहित्य की कोटि में गिने जानेवाले ग्रन्थों की संख्या बहुत कम रही। ऐसी कृतियों में कोट्टयं के केरलवर्मा नामक राजकेसरी के द्वारा विरचित 'वाल्मीकि रामायणं किलिप्पाट्टु' और 'पाताल रामायणं' प्रमुख हैं।

प्रथम कृति वाल्मीकि रामायण आदि-काव्य का अनुवाद है, और केरल में 'केरलवर्म रामायणं' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी कृति 'पाताल रामायणं' में रावण की वह कथा है जिसमें उसने अंगदादि वानरों से पराजित होकर पाताल-रावण को सहायता के लिए बुलाया है। लंकेश की सहायता-याचना के उत्तर में पाताल रावण कहता है:

"यदि सब बात पहले ही मुझसे कही होती तो क्या यह सब कुछ होता? खैर, अब तुरन्त ही इन पराक्रमी मानुषों को बाँधकर अपने राज्य में ले जाऊँगा और भद्रकाली पर बलि चढ़ा दूँगा।"

लंकेश्वर को इस प्रकार का आश्वासन देकर वह श्रीरामचन्द्र की सेना में जाकर छिप जाता है। विभीषण के मुख से पाताल-रावण की प्रतिज्ञा का समाचार सुनकर सुग्रीवादि वीर भी आशंका-ग्रस्त हो जाते हैं और हनुमान अपनी पूँछ का किला बनाकर और राम-लक्ष्मण तथा

सब वानरों को उसके अन्दर करके स्वयं प्रहरी बनते हैं। परन्तु पाताल-रावण विभीषण का वेश बनाकर किले के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है और राम-लक्ष्मण को हर कर पाताल ले जाता है। अरुणोदय होने पर इस अत्याहित के कारण कोप, अनुताप और लज्जादि मे विह्वल मारुति अपने स्वामी की रक्षा की प्रतिज्ञा करके निकलते हैं। उनके प्रस्थान के पूर्व सुग्रीव उन्हें बताता है कि पाताल रावण के पेट में आठ षट्पद हैं और उनको मारने के पूर्व उसका हनन नहीं किया जा सकता। हनुमान सूर्योपासना करके और सूर्य का वरदान प्राप्त करने के बाद पाताल में पहुँचते हैं। वहाँ उन्हें अपना सामना करनेवाले मत्स्य (मकरध्वज) नामक पुत्र से युद्ध करना पड़ता है। वहाँ हनुमान उसका परिचय पूछते हैं और उसे अपना ही स्वेद-पुत्र जानकर अत्यानन्दित होते हैं। तत्पश्चात् शत्रु की गुहा में पहुँचकर एक छोटे से वानर के रूप में उसे प्रलुब्ध करते हैं। जब वह उन्हें पकड़ने आता है तो उसे अपनी पूँछ से बाँधकर यमपुरी को प्रस्थान कराते हैं और विजयी होकर राम-लक्ष्मण को लेकर वापस लौट आते हैं। इस काव्य में कवि की प्रतिभा और काव्य-वासना का उत्तम परिचय मिलता है।

इन दोनों के अतिरिक्त केरलवर्मा की एक तीसरी कृति 'बाण-युद्धं' भी उपलब्ध है। वह इसी नाम की पुराण-कथा के आधार पर रची गई स्वतंत्र कृति है।

इसी काल की एक कृति 'मोक्षदायकं' है, जिसके कर्ता के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं है। इसका इतिवृत्त 'प्रबोधचन्द्रोदयं' नामक संस्कृत नाटक से लिया गया है और यह किलिप्पाट्टु शैली में रचित अत्यन्त सुन्दर तथा प्रौढ़ शब्दविन्यास की स्वतन्त्र काव्य-कृति है। इसमें अति गहन वेदान्त तत्व को सरल तथा सुबोध शैली में प्रतिपादित किया गया है। भाषा-शैली, काव्य-गुण और प्रसाद आदि की दृष्टि से यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। ग्रन्थान्त का एक अंश इस प्रकार है:

"जब निवृत्ति माता की सन्तानों—भक्ति, श्रद्धा आदि ने प्रवृत्ति

देवी के महामोहादि पुत्रों को नष्ट कर दिया और स्वयं निवृत्ति से प्रवृत्ति भी नष्ट हो गई तब मनोराजा ने क्रोधाक्रान्त होकर 'मौन रूपी दीपोपाधि' यंत्र को उन सब के नाश के लिए प्रयुक्त किया। वंश का ही नाश करने के लिए जलते हुए महाबाण को आता देखकर विवेकादि भयग्रस्त होकर भागे और आनन्दाब्धि में जाकर छिप गये। महाबाण वहाँ भी पहुँच गया तो विवेक-राजकुमार वहाँ से भी भागे। बाण ने तीनों जीवोपाधियों और तीनों ईशोपाधियों को जला दिया। इस पर भी उसे शान्त न देखकर विवेक अपने पितामह सर्वेश्वर के घर पहुँचा। जलता हुआ शर वहाँ भी पीछे-पीछे पहुँचा। विवेक यह प्रार्थना करता हुआ कि 'मां मायादेवी, धोखा मत देना !' कूद कर तुर्यातीत पद में प्रवेश करके स्वयं-प्रकाश परब्रह्म में विलीन हो गया। इस पर जलता हुआ बाण भी स्वयंप्रकाश चिद्रूप में समा गया।

"इधर मनोराजा अपनी माता माया में विलीन हुआ, तो इससे प्रचण्ड आदित्यों का उदय हुआ। प्रचंड अग्नि से सचराचर पृथ्वी जल गई। बाद में वह अग्नि जाकर आदिशेष को जलाने लगी। किन्तु ब्रह्माण्डाधार शेषनाग की विषाग्नि में सूर्य स्वयं भस्म हो गया। तब पृथ्वी तथा जल अग्नि में, अग्नि अनिल में और अनिल आकाश में विलीन हो गये। स्थूलभूत सूक्ष्मभूत में अन्तर्हित हुआ। प्रकृति सात्विक में निमग्न हो गई—पाप कर्म तमोगुण में, मिश्रकर्म रजोगुण में और पुण्यकर्म सतोगुण में। सभी प्रकृति गुण-त्रय में विलीन होकर जल के तुर्य में एकरूप हो गई।"

अद्वैत वेदान्त तत्वों का इस प्रकार प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनोखा है। आजकल यह लुप्त-प्रचार है।

'वैराग्यचन्द्रोदयं' नाम का एक अन्य वेदान्त-पर गान-काव्य है, जिसके उपक्रम से ज्ञात होता है कि इसका कर्ता भी वही राजा केरलवर्मा है। इस महान् राजा के सम्बन्ध में, जो समर-कौशल और काव्यकला दोनों में ही अद्वितीय था, एक तमिलकाव्य पाया गया है, जिसका

नाम 'तम्पुरान पाट्टु' है।

यह काल केरल के लिए अत्यन्त भीषण एवं विनाशकारी था। परस्पर वैर और ईर्ष्या-द्वेष ने राज्य के वीरों को छिन्न-भिन्न कर दिया था। जनता के प्राणों और सम्पत्ति की रक्षा का कोई भरोसा नहीं रह गया था। बाहर से आये हुए डच, पुर्तगीज़ और फ्रांसीसी लोगों ने इस अन्त:छिद्राग्नि को भड़काने में कोई कमी नहीं की। केरल की एकता नामावशेष हो गई। छोटे-छोटे कई राज्य बन गये और उनके शासक एक-दूसरे का नाश करने के लिए बद्धपरिकर हो उठे। इस प्रकार के अन्त:छिद्र में देश की शान्ति तथा प्रगति दोनों का शेषप्राय हो जाना स्वाभाविक था। इसी देशावस्था के परिणामस्वरूप इस समय के इतिहास में साहित्य का पृष्ठ कोरा और अन्धकारमय दिखलाई पड़ता है।

यह काल-रात्रि कोल्लं संवत्सर की आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रही। इस समय में सामूतिरि राजाओं और पुर्तगीज़ों के बीच जो शतवर्षीय युद्ध हुआ उसका वर्णन 'पटप्पाट्टु' में किया गया है और यही इस काल की गणनीय कृति मालूम होती है। इसमें भी कल्पवृक्ष की सुन्दर शाखा में बैठने वाली शारिका से ही कहानी कहलाई गई है। कवि अज्ञात है। परन्तु वह कल्पनाशक्ति और शब्द-भण्डार का दारिद्रय अनुभव नहीं करता। इतना ही नहीं, वह अच्छा विद्वान् और देश के इतिहास का ज्ञाता मालूम होता है। वह केरल देश को समराग्नि में जलानेवाले परस्पर वैर की कहानी ग्रन्थ-ग्रथित करने के उद्देश्य में सफल भी हुआ है।

कोल्लवर्ष ८६९ और ८७० में हुए महामघों के आधार पर एक 'मामांक पाट्टु' भी इस काल में रचा गया। 'महामघ' अथवा 'मामांक' भी केरल का राष्ट्रीय उत्सव था, जिसमें केरल-सम्राट् अपने समस्त वैभव के साथ 'तिरुनावाय' नदी के तट पर खड़े होते थे और सब सामन्त तथा अधीन प्रभुजन आकर उनके प्रति अपना आदर प्रकट करते थे। जब से केरल की एकता नष्ट हुई और देश छिन्न-भिन्न हो गया, तब

से उनके बदले सामूतिरि राजा उस स्थान पर खड़े होने लगे। तब से ही उनकी अधीनता न स्वीकार करने वाले राजाओं की ओर से सौ चुने हुए वीर विरोध प्रकट करने के लिए वहाँ जाते थे और सामूतिरि पर आक्रमण करके उनको मारने के प्रयत्न में प्राण-त्याग करते थे। प्रारम्भ में जो एक उत्सव था बाद में वह एक भीषण दृश्य मात्र रह गया और अन्त में बन्द कर दिया गया। 'मामांक पाट्टु' में दो 'मामांकों' का वर्णन है। इसमें 'चावेर' सेना के बारे में कुछ नहीं कहा गया, इसलिए माना जा सकता है कि यह कृति 'चावेर' नियम प्रारम्भ होने से पहले की है।

'केरल पड़मा' नाम का एक गद्य-ग्रन्थ भी इस समय के साहित्य के रूप में उपलब्ध है। यह भी सन् १४९८ के बाद से सौ वर्ष तक चलने वाले युद्ध को लक्ष्य करके एक दैनंदिनी के रूप में लिखा गया मालूम होता है। इसकी भाषा तथा शैली में विदेशी छाप दीख पड़ती है, जिससे यह अनुमान होता है कि इसका रचयिता मलयाल भाषा सीखा हुआ कोई पुर्तगीज़ है।

धीर-धीरे यह काल-रात्रि अपने अन्तिम याम में पहुँचने लगी।

: ८ :

कथकलि का साहित्य—आट्टकथा

केरल के जिस दृश्य-श्रव्य काव्य से अब समस्त भारत परिचित हो गया है, उसका मलयालम् साहित्य में अत्यन्त उच्च स्थान है। संस्कृत अध्ययन के परिणामस्वरूप केरल की नृत्य तथा नाट्यकला जब अपनी निजी स्वरूप-रेखा बनाकर बढ़ने लगी और 'चाक्यार-कूत्तु' तथा 'कूड़ियाट्टं' के रूप में वह बहुजन-प्रिय बन गई तब उसका 'कथकलि' के रूप में विकास हुआ।

कथकलि के उद्भव के बारे में अनेक विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी ऐतिह्य प्रसिद्ध हैं। उन सबसे इतना निश्चित मालूम होता है कि यह भी मन्दिरों के साथ सम्बन्ध रखता था और पुराण-कथाओं के आधार पर आरम्भ हुआ था। बहुत प्राचीनकाल में 'अष्टपदीयाट्टं' नाम की एक नृत्य-कला केरल में प्रचलित थी। ऐतिह्य के अनुसार, जयदेव कवि कृत 'अष्टपदी' के आधार पर अभिनीत उस कला के अनुकरण में 'कृष्ण-नाट्टं' का विकास किया गया। दूसरे ऐतिह्य के अनुसार, कोड़िकोड़ (कालीकट) के राजा सामूतिरि ने कोट्टारकरा के राजा के अनुरोध पर अपने आदमियों को वहाँ 'कृष्णनाट्टं' करने के लिए नहीं भेजा, इसलिए कोट्टारकरा के राजा ने 'कृष्णनाट्टं' की स्पर्धा में 'रामनाट्टं' की रचना की। परन्तु इन ऐतिह्यों में विशेष तथ्य नहीं मालूम होता। राम-नाट्टं के काल-निर्णय के लिए जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे मालूम होता है कि उसकी रचना कोल-संवत्, ६५९ और ६६७ के बीच, अर्थात् ईसवी पन्द्रहवीं शताब्दी में, 'कृष्णनाट्टं' के लगभग १५० वर्ष बाद हुई।

यह मान लेने में कोई असांगत्य प्रतीत नहीं होता कि वर्तमान रूप में विकसित होने के पूर्व कथकलि को अनेक रूपों से गुजरना पड़ा होगा और कूत्तु आदि की कला का उस पर असर पड़े विना न रहा होगा। उपर्युक्त 'कृष्णन्-आट्टं' और 'रामन्-आट्टं' उसके प्रथम रूप हैं।

कथकलि शब्द का अर्थ है 'कथा का खेल अथवा अभिनय।' उसके कथा या साहित्य-भाग को 'आट्टकथा', और खेल या अभिनय-भाग को कथकलि अथवा 'आट्टं' कहते हैं। (आट्टं का शाब्दिक अर्थ : झूमना)।

कथकलि का साहित्य एक विशिष्ट शैली का है। अधिकतर आट्ट-कथाएँ श्लोकों और पदों में विभक्त होती हैं, किन्तु कुछ में कहीं-कहीं 'दण्डक' नाम की रचना-विशेष पाई जाती है। पुरानी आट्टकथाओं के सब श्लोक संस्कृत में और 'पद' मणि-प्रवाल मलयालम् भाषा में हैं। 'दण्डक' को एक प्रकार की गद्य-रचना कहना अनुचित न होगा। श्लोक नाटकों के विष्कंभक और प्रवेशक आदि का काम करते हैं। प्राचीन काल के जीवन की कथा का अभिनय करते समय कुछ भागों को संक्षेप में बता देना ही सम्भव होता है, जो बीच-बीच में श्लोकों द्वारा किया जाता है। नटों का सम्भाषण 'पद' नामक गीतों में होता है। 'दण्डकों' में बीच की कहानी कही जाती है।

आट्टकथा-साहित्य में अन्त्यनुप्रास, अनुप्रास, यमक आदि शब्दा-लंकारों का प्रयोग अति प्रचुरता के साथ किया गया है। शब्दाडंबर तथा रसानुकूल शब्द-प्रयोग आट्टकथाओं की विशेषता है। अर्थालंकारों के बारे में तो कहना ही क्या? किन्तु यथार्थ साहित्य-गुणों से परिपूर्ण और रंगमंच पर सफल अभिनय के योग्य आट्टकथाएँ कुछ ही कवियों ने लिखी हैं, जिनमें प्रमुख हैं—कोट्टयं तम्पुरान, उण्णाई वारियर, अश्वति तिरुनाल तम्पुरान और इरयिम्मन् तम्पि। शेष कवियों की रचनाओं में से किसी में साहित्य-गुण है तो किसी में अभिनय-योग्यता। सर्वगुणसम्पन्न कथाएँ बिरली ही हैं।

कथकलि साहित्य का आदि रूप माने जाने वाले 'कृष्णनाट्टं' में

आठ दिन की कथा है, जो अवतारं, कालियमर्दनं, रासक्रीडा, कंसबधं, स्वयंवरं, बाणयुद्धं, विविदबधं और स्वर्गारोहणं के आठ खण्डों में विभक्त है। उसके सभी श्लोक कठिन संस्कृत प्रयोगों से परिपूर्ण हैं, और संस्कृत साहित्य को केरलीय दान के रूप में माने जा सकते हैं। कथकलि का दूसरा अधिष्ठान 'रामनाट्टं' भी आठ ही भागों में है, जो इस प्रकार हैं—पुत्रकामेष्टि, अवतारं, स्वयंवरं, विच्छिन्नाभिषेकं, खरवधं, बालीवधं तोरणयुद्धं, और राम-रावण युद्धं। वाच्य का निबन्धन श्लोकों, पदों और बीच-बीच में दण्डकों दारा होता है। इन आठ विभागों में से आजकल केवल बालीबधं और तोरणयुद्धं ही प्रचलित हैं। साहित्य की दृष्टि से रामनाट्टं बहुत उच्चकोटि की कृति नहीं है, फिर भी उसके कुछ पदों का काव्य-वैभव अनुपम है। एक उदाहरण लीजिए :

कलय सदा रघुनायकं
बिबुधनिकरकर विगलित सुमकुल—
विलसित नवमणिगण चूडं। ॥ कलय० ॥
समरधरोपरि गत मृड शेखर लस—
दुरुतर शिशु शशि भालं
विधु हृद र्मर्षित मानस नलिनी कनक—
सरोरुह दल नयनं। ॥ कलय० ॥

आट्टकथाओं को भाषा-साहित्य में जो प्रतिष्ठा मिली उसका मुख्य श्रेय श्री कोट्टयं तंपुरान को है। उनकी 'बकवधं, 'कल्याण-सौगन्धिकं', 'कालकेय वधं' तथा 'किर्मीर वधं' नामक चार कृतियाँ उपलब्ध हैं।

'बकवधं' में वारणावत वासं, जतुगेह दहनं, हिडिम्ब वधं, एकचक्रावासं और बकवधं प्रकरण निहित हैं। सब श्लोक संस्कृत में और पद मलयालम्मिश्रित संस्कृत में हैं। कवि ने महाभारत की कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं किया। कथा का निर्माण शृङ्गार, वीर आदि रसों को यथोचित यथाप्रसंग निविष्ट करके, नृत्यकला के अनुसार पात्र-वैचित्र्य और कथापात्रों के चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान देते हुए किया है।

'किर्मीर वधं' बकवधं से एक पग आगे है। इसके श्लोक तथा पद एक समान ओजपूर्ण और मनोहर हैं। द्यूतक्रीड़ा के बाद युधिष्ठिर का पत्नी समेत वनवास तथा उस समय भीम के द्वारा किर्मीरासुर का वध इसका इतिवृत्त है। इस कवि की विशेषत: बाद की कृतियों के शृङ्गार-चित्रण में काम-केलि-लोलुपता कहीं दिखलाई नहीं पड़ती। इन्होंने कथा-संगठन के लिए नायक-नायिका के बीच सम्भाषण का आविष्कार तो किया है, किन्तु उसको शृङ्गार कैसे कहा जाये ? एक उदाहरण लीजिये :

"हे बाले ! कल्याणी ! मेरी बात सुनो। मधुर भाषिणियों का कुल-तिलक, पांचालराज के सुकृतों की मूर्ति-स्वरूपे, मेरी कामिनि ! कालाम्बुद जैसे गहन विपिन में तुमको आना पड़ा, इसलिए मेरा हृदय दोलायित हो गया है। हे लोकोत्तर गुणशालिनि ! राजमहल के आंगन में घूमने से ही तुम्हारे पल्लवतुल्य चरणयुगल थक जाते थे; ऐसे चरण कानन-संचार कैसे सहन करते हैं ? सूर्य-किरणों से सब इतर सरोरुह विकसित होते हैं; परन्तु हे शुकभाषिणि ! तुम्हारा मुखकमल तो मुरझा जाता है। मणिमय प्रासाद में मोहन-शैया के सुगन्ध-पुष्पास्तरण पर सुखशयन करनेवाली तुम, हे मधुवाणी ! इस घोर विपिन में कैसे रहोगी ?"

इस प्रकार पत्नी के दुःख से दुःखी होकर करुणार्द्र हृदय से बोलने वाले युधिष्ठिर को उत्तर देते हुए पांचाली कहती है :

"महीपालों के शिरोलंकार ! मेरे स्वामि ! सामन्त-राजाओं के मुकुट-मणियों से आराधित आपके चरणों को मार्ग की तप्त बालुका में इस प्रकार संचरण करते देखकर मेरा शरीर कांपता है, हृदय विदीर्ण होता है ! हाय ! मैं क्या कहूँ ! इतना ही नहीं, अपना दुःख तो सहा जा सकता है, परन्तु अन्न न मिलने से ये आबालवृद्ध अवनी-देव इस अरण्य में भूख और प्यास कैसे सहेंगे ? इस अग्निसम ग्रीष्म में दिन कैसे बितायँगे ? और उनके ये सब कष्ट आप कैसे सह सकेंगे ?"

अक्षय-पात्र लाभ के प्रसंग श्लोकों में समाप्त होते हैं। इस प्रकार कथा आगे बढ़ती है और किर्मीर-वध के साथ समंगल समाप्त होती है।

दुर्वासा महर्षि के आगमन पर उन्हें भोजन देने में असमर्थ होने के कारण जब द्रौपदी ने कृष्ण को स्मरण किया उस समय 'पाण्डवानां पालनलोलं' कृष्ण के आगमन का वर्णन है :

विधुराविरभूत् पुरोभुवि द्रुपदेन्द्रप्रभवाचकोरिकां
स्मितचन्द्रिकया प्रहर्षयन् चलदृक् चञ्चुपुटां तमोपहा

अर्थात्—द्रुपद-राजपुत्री द्रौपदी रूपी चकोरिका को स्मित-चन्द्रिका से प्रसन्न करता हुआ श्रीकृष्ण रूपी चन्द्र प्रत्यक्ष हुआ।

शब्दाडम्बर तथा अर्थानुसार शब्द-प्रयोग का एक उत्तम उदाहरण सिंहिका के वर्णन से लीजिए :

क्ष्वेला घोषातिभीति प्रचलदनिमिषा सिंहिका भाष्य पुष्यद्-
द्वेषा दोषाचरीत्थं खलु निज वपुषा भीषयन्ती प्रदोषे
ईषा कूलंकषेण प्रपरुषपरुषा जोषमादाय दोषा-
योषा भूषामनैषीत् प्रियवध रुषिता पार्षतीन्दूरमेषा।

अर्थात्—विषमय हृदय वाली सिंहिका राक्षसी, अपने प्रियतम के वध से रुष्ट होकर उस सन्ध्या समय में अपने भीषण रूप से भयभीत करती हुई, पार्षती (द्रौपदी) को बहुत दूर ले गई।

'कल्याण-सौगन्धिकं' : पाशुपतास्त्र लेने के लिए शिव को तपस्या से प्रसन्न करने को गया हुआ अर्जुन उद्देश्य-सिद्धि के बाद देवेन्द्र के इच्छानुसार देवलोक को जाता है। इस बीच शेष पाण्डव द्रौपदी समेत वनों में भ्रमण करते हैं। मार्ग में एक स्थान पर कल्हारपुष्प की सुगन्ध से मोहित होकर द्रौपदी भीमसेन से उन पुष्पों को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करती है। भीमसेन पुष्प की सुगन्ध का अनुसरण करते हुए जाते हैं और मार्ग में अपने अग्रज हनुमान से मिलते हैं। उनसे लड़कर और बाद में उनके कृपापात्र बनकर वे उनसे मार्ग-निर्देश तथा उपाय-दर्शन प्राप्त करते हैं और बाद में धनद के सरोवर से पुष्प प्राप्त करके द्रौपदी

को उपहार देते हैं। इसका साहित्य-गुण दोनों पूर्व-कथाओं से आगे है।

'कालकेय-वधं' : अर्जुन ने अपने स्वर्ग-भ्रमण के अनुभवों से और देवों को त्रस्त करके मदमत्त होकर घूमने वाले निवातकवच कालकेयों का वध करके अपना यश बहुत बढ़ा लिया। इसे ही भारत की इस चौथी कथा का इतिवृत्त बनाया गया है।

कोट्टयं तंपुरान के बाद दो-तीन और आट्टकथा रचयिता हुए हैं; परन्तु यथार्थ नृत्यकथाकार, जिन्होंने कथकलि को पुनरुज्जीवित किया, उण्णाई वारियर थे। इस कवि के बारे में भी हमें पूर्ण तथा निश्चित ज्ञान नहीं है। इनकी कविताओं और प्रसिद्ध ऐतिह्यों से इतना अनुमान कर सकते हैं कि ये असामान्य कवि और प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी मुख्य कृति **'नलचरितं'** आट्टकथा चार दिन के लिए चार भागों में विभाजित की गई है।

प्रथम दिवस की कथा नल और दमयन्ती के बीच परस्पर श्रवण द्वारा अनुरागोत्पत्ति से लेकर हंस-दौत्य, देवेन्द्रादि के दूत के रूप में आये हुए नल से दमयन्ती के मिलन, स्वयंवर आदि का चित्रण करती हुई उनके विवाह के साथ पूर्ण होती है।

दूसरे दिन की कथा का आरम्भ नैषध के पत्नी समेत कुण्डिनपुर पहुँच जाने से होता है। आगे नव-दम्पत्ति के उद्यान-विहार, कलि की प्रेरणा से पुष्कर और नल की द्यूत-क्रीडा, नल की पराजय, वनवास आदि का वर्णन है। नल वन में दमयन्ती को सोती हुई छोड़कर चले जाते हैं। दमयन्ती अकेली वन में इधर-उधर भटकती फिरती है और अनेक कष्ट सहन करके अन्त में चेदिराज्य में अपनी मौसी के घर पहुँच जाती है। वहाँ वह अपने-आपको छिपा कर सैरंध्री के रूप में रहने लगती है। इसी बीच, राजा भीम की आज्ञा से नल-दमयन्ती की खोज करने वाला सुदेव नाम का ब्राह्मण दमयन्ती को पहचान लेता है और दमयन्ती को विवश होकर पितृगृह में लौटना पड़ता है। राजा भीम किसी भी प्रकार नल को खोज निकालने का आश्वासन देकर पुत्री को

सान्त्वना देते हैं ।

तीसरे दिन की कथा में नल के अनन्तर अनुभवों का वर्णन है। उसमें राजा के भ्रान्त हो कर वन में घूमने, कार्कोटक नाग को अग्नि से बचाने, उसके दर्शन से विकृत रूप होने और अन्त में साकेत में राजा ऋतुपर्ण के यहाँ सारथी बन कर रहने की कथा कही गई है। इसी भाग में दमयन्ती नल को खोज निकालने का एक उपाय करती है। वह ब्राह्मण सुदेव को सब राजाओं की सभा में जाकर एक प्रश्न पूछने का आदेश देती है। प्रश्न यह है :

"हमारे सह-जीवन का रस तोड़कर तुम कहाँ चले गये हो ? वस्त्र भंग हुआ, इसका मुझे दुःख नहीं; परन्तु तुम कहाँ गये और कैसे हो यह न जानने से मैं विवश हूँ। और हे क्रूर! तुम्हें मेरी रक्षा का भी विचार नहीं हुआ ! मेरे जीवन का भी कोई ठिकाना नहीं है। तुम्हें इसकी परवाह ही क्या ?"

इस प्रश्न का उत्तर कौन देता ? स्वाभाविक था कि वह केवल ऋतुपर्ण के सारथी के पास से आया। सारथी 'बाहुक' ने उत्तर दिया :

"उत्तम नियम-निष्ठा, चारित्र्य रूपी कवच और पातिव्रत्य, ये ही तीन स्त्रियों की रक्षा करने वाले दुर्ग हैं। अथवा, स्त्री अपनी रक्षा स्वयं करती है; पुरुष के आधार की उसे आवश्यकता नहीं है।"

इस उत्तर से दमयन्ती अपने पति को पहचान लेती है। तुरन्त दमयन्ती के द्वितीय स्वयंवर का मिथ्या आयोजन किया जाता है और ब्राह्मण सुदेव उसका आमन्त्रण लेकर साकेत पहुँचता है। अश्वहृदय-मन्त्र जानने वाले 'सारथी' बाहुक की सहायता से ऋतुपर्ण दूसरे ही दिन विदर्भ पहुँच जाता है। किन्तु वहाँ स्वयंवर का कोई प्रबन्ध न देखकर वह असमंजस में पड़ता है।

चौथे दिन की कथा में विदर्भपुरी की अनन्तर घटनाओं का वर्णन है। दमयन्ती केशिनी द्वारा नल की परीक्षा करवाती है और बाहुक कार्कोटक के दिये हुए वस्त्र पहनकर अपना स्वरूप प्रकट करता है।

दमयन्ती के चारित्र्य की साक्षी देवगण देते हैं और दोनों के पुनर्मिलन तथा निषधराज्य की प्राप्ति के साथ कथा समाप्त होती है।

कथा में किंचिन्मात्र परिवर्तन न होने पर भी कवि की प्रतिभा, भाषा पर अधिकार और कवित्व शक्ति के उदाहरण पद-पद में मिलते हैं। नल-चरितं के गीत आज भी केरलीय जनता के हृदयों में सुप्रतिष्ठित हैं। उद्यान-वर्णन, नल-विलाप और नल-दमयन्ती प्रश्नोत्तर आदि के पद केरल की ललनाएँ गाते नहीं अघातीं। अर्थ-गाम्भीर्य, आशय-समृद्धि, काव्य-गुण आदि जितने इस कृति में दिखाई देते हैं उतने किसी दूसरी कृति में नहीं हैं। नल विलाप करता है :

"द्यूतक्रीड़ा करनी चाहिए ऐसा मुझे लगा। प्रजा को मुझसे चिढ़ हुई। पत्नी से अलग होकर वन में बैठ जाना पड़ा। ये तीनों ही अपरि-हरणीय विधि के यन्त्र-संचालन के परिणाम हैं।"

भाषा-भंडागार की निधियों में मणि-प्रवाल कृतियों को रत्नमाला-समूह माना जाना चाहिए। इनमें आज भी 'कलिशमनं नैषध रसमय चरितम्'—'नलचरितं' का ही आसन सर्वोच्च है। इसके विषय में 'केरल पाणिनी' के नाम से सुप्रसिद्ध प्रोफेसर श्री राजराज वर्मा तंपुरान कहते हैं—"संगीत तथा साहित्य दोनों का इच्छानुसार प्रयोग करने की क्षमता से उत्पन्न सर्वतोमुखता, प्रकृतिसिद्ध गाम्भीर्य, उदार पदबन्ध, स्वकपोलकल्पित नव-नव सौन्दर्य, जितना सोचें उतना ही अधिक समझ में आने वाले व्यंग्यार्थों का बाहुल्य, प्रयोग-वैचित्र्य की विपुलता से होने वाली व्युत्पादकता, सब विषयों में प्रकट क्षोदक्षमता आदि गुणों ने 'नलचरितं' को मणि-प्रवाल कृतियों में अग्रगण्य बना दिया है।"

परन्तु इसमें संस्कृत-प्रचुरिमा इतनी है, मानो कवि ने प्रकाण्ड पंडितों को ही रसास्वादन कराने के लिए इसकी रचना की है। शब्द-प्रयोगों के औचित्य और प्रसन्नता के साथ एक प्रकार की निरंकुशता भी इसमें प्रकट है। वनचरों के लिए भी भयावह गहन वन में अजगर के मुख में पड़ी हुई दमयन्ती का विलाप सुनकर किरातराज वहाँ पहुँचता

है और कहता है :

वनत्तिनिड़यिल् काणामे सुन्दरत्तिनुड़े सादृश्येयं
अकृत्रिमद्युतिरनवद्येयं अडुत्तु चेन्निनि अनुपश्येयं
आकृति कण्डालतिरंभेयं आरालिवल् तन् अधरं पेयं ।

अर्थात्—वन के बीच में सुन्दरता का यह दृश्य दिखाई देता है । यह अकृत्रिम द्युति अनवद्य है । इसलिए इसके पास जाकर देखना चाहिए । इसकी आकृति रंभा के रूप को भी फीका कर देने वाली है । अवश्य ही इसका अधर पान करना चाहिए ।

संस्कृत और मलयालम् के निरंकुश मिश्रण का यह प्रयोग 'अकृत्रिमद्युतिरनवद्येयं' नहीं है । फिर भी नाटक के सब लक्षणों से यह सम्पन्न है और देखने तथा सुनने दोनों में एकसमान आनन्दकारी है ।

कथकलि-साहित्य के एक दूसरे स्रष्टा तिरुवितांकूर-राज्य के राजा श्री रामवर्मा हैं । ये सन् १७५८ में सिंहासनारूढ़ हुए थे । उत्तम सेनापति और नयनिपुण होते हुए ये संगीत, नृत्य आदि कलाओं के प्रेमी और स्वयं कवि एवं साहित्य-स्रष्टा थे । इनका शासन-काल कलाकारों और कवियों के लिए एक स्वर्ण-युग था । इन्होंने कवियों को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त स्वयं अनेक कथाओं का निर्माण किया । 'सुभद्राहरणं', 'राजसूयं', 'बकवधं', 'गन्धर्वविजयं', 'पांचालीस्वयंवरं', कल्याणसौगन्धिकं' आदि कथाओं के कर्ता यही हैं ।

विभिन्न कवियों द्वारा निर्मित 'एड़पत्तिरंडु दिवसत्ते आट्टकथा' (बहत्तर दिन की आट्टकथा) बहुत प्रसिद्ध है और उसका प्रचार भी बहुत है । इसमें बहत्तर रात्रियों को प्रदर्शित करने के लिए बहत्तर कथाएँ हैं, जिनमें से सोलह विशेष उच्च कोटि की और अधिक लोकप्रिय हैं । इनमें रविवर्मन तंपि अथवा इरयिम्मन तंपि के लिखे हुए 'कीचकवधं', 'उत्तरा स्वयंवरं' तथा 'दक्ष-यागं' का स्थान 'नलचरितं' के समीप है ।

कीचक-वधं : विराटपुरी में पाण्डवों के अज्ञातवास के समय सैरंध्री

वेशधारिणी द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करने वाले कीचक को भीमसेन कालगेह का मार्ग दिखाते हैं—यही कीचक-वध का इतिवृत्त है। तंपि का वर्णन-चातुर्य और शब्द-प्रयोग-नैपुण्य बताने के लिए कीचक-वध का एक प्रसंग यहाँ उद्धृत करना उचित ही होगा। जब सैरंध्री को वश में करने के कीचक के सब प्रयत्न निष्फल हो गये तो कीचक की बहन रानी सुदेष्णा ने उसे मधु और ओदन ले आने के बहाने कीचक के गृह में भेजा। सैरंध्री के संकोच व्यक्त करने पर उसने उसे कटु वचन कहे। उस समय की सैरंध्री की अवस्था और प्रयाण का वर्णन जिस दण्डक में किया गया है, उसका अनुवाद यह है :

"राजपत्नी की आज्ञा सुनकर वह हरिणाक्षी चौंकी। आँखें भर आईं। विवशता में निमग्न हो गई। बार-बार रानी से विनती करने पर परुष वचन सुनकर चुप हो जाना पड़ा। तब समस्त जनों को हास्या-स्पद बनानेवाले अपने दासीत्व को स्मरण कर मुख अवनत कर लिया। इस प्रकार सुर-युवतियों को भी जीतने वाली पार्षती (द्रौपदी) विषाद-मग्न होकर, परिभव और पराभव से निकले स्वेदसलिल और अश्रु-सलिल में मज्जन करती हुई, परिश्रम से चलने लगी। शरीर कम्पित था। हाथ में पात्र लेकर, वेपथु-शरीरिणी होकर, थोड़ा चल कर, थोड़ा रुक कर, हरिण-शत्रु की गुफ़ा में जाने को बाध्य की गई हरिणी के समान त्रस्त होकर, दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई, विश्व के नाथ पर अटल विश्वास वाली उस कुलीन ललना ने भीति और दुःख से परिभूत होकर, धैर्यहीन हृदय के साथ सूतपुत्र कीचक के मणि-सदन में प्रवेश किया।"

इतना सुन्दर, सुललित, प्रवाहमय दण्डक 'आट्टकथा' साहित्य में अति विरल ही मिलता है।

उत्तरा स्वयंवरं : यह तंपि की दूसरी कृति है। इसका इतिवृत्त भी प्रसिद्ध है। कीचक-वध से राजधानी में गन्धर्व-वास होने की शंका फैल जाती है। एक दूत यह समाचार लेकर दुर्योधन के पास जाता है और बताता है कि कीचक का वध किसी गन्धर्व ने किया है। दुर्योधन इस

निर्णय पर पहुँचता है कि कीचक को मारने वाला भीमसेन ही है। वह पाण्डवों का अज्ञातवास भंग करने के इरादे से विराट् के गोधन पर आक्रमण कर देता है। कामिनियों के बीच विलासोल्लासपूर्वक विहरण करने वाला राजकुमार उत्तर बहिन उत्तरा की प्रेरणा से बृहन्नला को सारथी बनाकर समरांगण के लिए प्रस्थान करता है। स्वभाव-भीरु उत्तर दुर्योधन की सेना का सामना कैसे कर पाता? वह रो पड़ा— 'मुझे मेरी मां के पास पहुँचा दो!' और बृहन्नलारूपी अर्जुन ने उसे अपना यथार्थ रूप बताकर कौरव-सेना को परास्त किया। बाद में समय पूर्ण हो जाने से पाण्डव प्रकट हो गये। विराटराज ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ कर देना चाहा; किन्तु अर्जुन ने गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्मरण करके उत्तरा को स्नुषा के रूप में स्वीकार किया और इस प्रकार अपनी धर्म-परायणता का परिचय दिया। अभिमन्यु और उत्तरा के विवाह के साथ कथा पूर्ण होती है।

दक्ष-यागं : इस तीसरी कथा का आधार भी इसी नाम की पौराणिक कथा है। एक दिन दक्ष-प्रजापति सपत्नीक यमुना में विहार कर रहे थे, तब क्या हुआ?

"पाप प्रक्षालन करनेवाली यमुना नदी में स्नान करते समय समीपस्थ कमल-पुष्प में एक शंख दिखाई दिया। दक्ष ने कौतुक से उसे हाथ में लिया तो उसकी एक बालिका बन गई। उसे पत्नी की गोद में देकर उन्होंने कहा—

"यह विधि के द्वारा दी गई हमारी नन्दिनी (पुत्री) है। भविष्य में हमारी विविध इच्छाएँ पूरी करने वाली नन्दिनी (कामधेनु की पुत्री) है। अब से हमारा भाग्य सुधरा है। यह विधुमुखी सर्व लोकों को आनन्द-दायिनी है।"

और वे उस शिशु को अपनी पुत्री के समान पालने लगे। बड़ी होने और अपना शिक्षण-काल समाप्त कर लेने पर उस बालिका ने भगवान् शंकर को पाने के लिए तपस्या आरम्भ की। एक असुर उसके

सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसका अपहरण करने के लिए आया तो उसने अपने तप के प्रभाव से उसे भस्म कर दिया। अनन्तर वटु-वेशधारी शंकर परीक्षा के लिए आये और उसकी निष्ठा-भक्ति से प्रसन्न होकर स्व-स्वरूप में उसके सम्मुख प्रकट हुए। दक्ष-प्रजापति ने समुचित विधि के अनुसार पुत्री का विवाह कर दिया। परन्तु गर्विष्ठ दक्ष का गर्व-गंजन किये बिना मुक्तिदाता शंकर कैसे उनकी पुत्री को स्वीकार करते? विवाह के अन्त में ही भगवान् अन्तर्हित हो गए। देवी सती ने दुःखी होकर वन का आश्रय लिया। परन्तु दक्ष ने कुपित होकर अपने जामाता को बहुत-कुछ भला-बुरा कहा। इस बीच शिव सती को लेकर कैलास चले गये। दक्ष क्रोधावेश में कैलास पहुँचे। किन्तु शिव-पार्षद नन्दिकेश्वर ने गर्विष्ठ प्रजापति को अपमान करके लौटा दिया। क्रोधान्ध दक्ष ने ईश्वर का ईश्वरत्व न समझकर उनको याग में भाग न देने का निश्चय किया। उसके पश्चात् उन्होंने याग करने का विचार किया, किन्तु शिव के भय से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि सभी देवगण ने और वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि सभी ऋषिगण ने उसमें आने से इनकार कर दिया। फिर भी दक्ष आगे बढ़ते ही गए। नारद से दक्ष-याग का समाचार सुन कर सतीदेवी ने इस शुभ अवसर पर अपने माता-पिता और भ्रातृ-भगिनियों से मिलने की इच्छा प्रकट की। भगवान् शंकर ने बहुत सम-झाया कि वहाँ जाने से तुम्हारा अपमान होगा, क्योंकि आज तुम दक्ष की पुत्री नहीं, शिव की सती हो; किन्तु सती अपने आग्रह पर दृढ़ रहीं—और अन्त में पति की बात को अमान्य करके चली गईं। यागशाला में देवी का अपमान हुआ ही। दक्ष ने यहाँ तक कह डाला कि "तुम्हारे पति गतनीति धूर्ज्जटि से मुझे कोई भय नहीं। न तुमसे मेरी कोई प्रीति है। तुम मेरी पुत्री भी नहीं हो। चली जाओ यहाँ से।" इस अपमान के कारण लज्जा और दुःख से विवश सती पति से क्षमा-प्रार्थना करती हैं:

"तिंकलमौले ! केल्का वाचं, देव देव ! मे......"

सतीदेवी की प्रार्थना का यह पद इतना ललित, कोमल तथा भाव-नामय है कि हृदय विह्वल हो उठता है। देवी कहती हैं :

"मुझे उन्होंने धिक्कारा इसका मुझे दुःख नहीं; किन्तु सकल जगदीश्वर, तुम्हारा उन्होंने अपमान किया, यह मुझे सह्य नहीं है। इसलिए स्वामी, चन्द्रशेखर, तामसशील दक्ष को मारने में अब विलम्ब न कीजिए। आज से वे मेरे पिता नहीं हैं।"

श्री शिव ने देवी को सान्त्वना दी और अपने निटिलेक्षण से वीरभद्र को उत्पन्न करके याग-विध्वंस के लिए भेज दिया। उन्होंने दक्ष का शिर काटकर यज्ञ का विध्वंस कर दिया। तब तक श्रीपरमेश्वर वृषभारूढ़ होकर वहाँ प्रकट हो गए। उन्होंने सब देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर एक बकरे का सिर लगाकर दक्ष को फिर जिला दिया। दक्ष ने भगवान् की स्तुति की और फिर उनका अनुग्रह प्राप्त करके अपने पुर को प्रस्थान किया। भगवान् की कैलास-प्राप्ति के साथ कथा भी समाप्त हो जाती है।

संगीत, साहित्य और अभिनय तीनों की दृष्टि से इस कवि की कृतियाँ उच्च कोटि की मानी जाती हैं। वृत्ति के अनुगुण, माधुर्य, भाव-प्रवणता आदि में इनकी समानता करने योग्य कृतियाँ इस साहित्य-विभाग में अधिक नहीं हैं। संगीतात्मक साहित्य और साहित्य-गुण-विशिष्ट संगीत से तंपि की कृतियाँ मानो लोकोत्तर और गुणोत्तर हो उठी हैं।

'बहत्तर दिन की आट्टकथाओं' में जो सोलह अति प्रसिद्ध हैं उनके नाम ये हैं—कोट्टयं तंपुरान की चार कृतियाँ—बकवधं, निवात-कवचं किर्मीरवधं, तथा कालकेयवधं; श्री वंचीश्वर की चार कृतियाँ—रुक्मिणी स्वयंवरं, अम्बरीष चरितं, पौंड्रक वधं तथा पूतना मोक्षं; तम्पि की उपर्युक्त तीन; उण्णाई वार्यर के नलचरितं की चार दिन की कथा और विद्वान् कोयित्त पुरान का रावण-विजयं।

विद्वान् तंपुरान का नाम रवि वर्मा था। कहा जाता है कि निम्न-लिखित संस्कृत श्लोक उन्होंने अपनी दस वर्ष की आयु में बनाया था :

वितत कुटिल केशं विद्यमानेन्दु लेशं
कमल शर विनाशं कालमेघ प्रकाशं
वनचरतनुमीशं वैरिणां काल पाशं
शुक हरिण पुरेशं भावये पार्वतीशं ।

इन्हें बाल्यकाल से ही सुप्रसिद्ध कवि-सम्राट् स्वाति नक्षत्रजात महाराजा और इरयिम्मन तंपि के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त था। इससे इनके वैदुष्य तथा रसिकता और कवि-हृदय को विकसित होने का पूरा अवसर मिला।

एक बार महाराजा और तंपुरान तिरुअनन्तपूर नगर के किसी महोत्सव में साथ-साथ जा रहे थे। मार्ग के दोनों पार्श्वों के प्रासादों में एकत्र सुन्दरियों को देखकर महाराजा ने कहा :

राकाशशांक कलितायतमालिकेव
सीमन्तिनी वदन-पंक्तिरिहाविभाति ।

अर्थात्—यहाँ स्त्रियों की मुख-पंक्ति शरदपूर्णिमा के चन्द्रों से आकलित माला जैसी दिखलाई पड़ती है।

उन्होंने साथी तंपुरान को आज्ञा दी कि उस श्लोक का उत्तरार्ध बनायें। तंपुरान ने तत्काल इस प्रकार आज्ञा का पालन किया :

किंचात्र पंकजधिया मधुपावलीव
दूरात्समापतति कामिजनाक्षि पंक्ति ।

अर्थात्—और, वहाँ पंकज समझ कर आये हुए भ्रमरों के झुंड के समान कामी-जनों की नयन-पंक्ति भी दूर से पहुँचती है।

महाराजा ने प्रसन्न होकर उन्हें 'विद्वान्' पदवी प्रदान की। तब से वे 'विद्वान कोयित्तंपुरान' नाम से प्रसिद्ध हो गये। परन्तु रूप और रंग के कारण महाराजा उन्हें 'करीन्द्र' भी कहा करते थे।

साहित्य-गुण और संगीत-माधुर्य की दृष्टि से **'रावण-विजयं'** अत्युत्तम स्थान के योग्य है। अभिनय और रंग-प्रयोग के लिए भी यदि इतनी उपयोगी कथा कोई दूसरी हो तो कदाचित् 'नल-चरितं' ही है।

श्री नीलकण्ठ में दत्तचित्त होकर धर्मनिष्ठा से राज्य करनेवाले कुबेर के पास जाकर नारदजी रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और उसे युद्ध में हराकर भगा देने की सलाह देते हैं। परन्तु कुबेर अपने भाई से युद्ध करना अनुचित समझते हैं और उसे दुष्कर्मों से निवृत्त करने के लिए उसके पास एक दूत भेजते हैं। रावण उस दूत की हत्या कर डालता है और सैन्य लेकर अलकापुरी पर आक्रमण कर देता है। युद्ध में कुबेर को हराकर वह लंका लौटता है और मार्ग में कैलासपर्वत को देखकर अपनी शक्ति आजमाने के लिए उसे उठा लेता है। पर्वत के हिलने से भयभीत होकर गिरिसुता शंकर को उपालम्भ देती हैं और शंकरजी अपने पादांगुष्ठ से पर्वत को दबाकर स्थिर कर देते हैं। रावण के सब हाथ घानी के अन्दर पड़े हुए दण्ड के समान कुचल जाते हैं। और वह व्याकुल होकर भगवत्-स्तुति करता है। स्तुति से सन्तुष्ट परमेश्वर उसे चन्द्रहास नाम का खड्ग प्रदान करते हैं और यह आशीर्वाद देकर घर भेजते हैं कि "संगर-चातुर्य वाले चतुरंग बल के साथ तुम तुंगमोदेन लंका में रहो। तुम्हारा उत्तरोत्तर मंगल हो।"

यही 'रावण-विजय' का इतिवृत्त है। इसमें शृङ्गार, वीर, भय आदि सभी रसों का उचित सन्निवेश किया गया है और प्रत्येक रस की अभिनय-भंगी अनुभवैकवेद्य है।

प्रत्येक कथा और कवि के बारे में विस्तार से वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है। इतना कहना पर्याप्त है कि इस साहित्य-शाखा का परिपोषण गतानुगतिक न्याय से सुगण्य मात्रा में हुआ है। आधुनिक कवियों ने भी इस प्रकार की रचनाएँ की हैं। उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध **'दुर्योधन वधं'** है, जिसके रचयिता हैं प्रसिद्ध भिषग्वर 'वयस्कर मूस्सतु'।

साहित्य और संगीत में कैरली की प्रगति का निकषोपल है कथकलि। प्राचीन काल में इस साहित्य-शाखा को परिलालित करके आस्वादन, अभिनन्दन आदि से प्रोत्साहन देने वाले विद्वत्तंस बिरले नहीं थे। एक कथा के अभिनय में **'कनकरुचिरुचिरांगिमारे'** का भाव

हस्तमुद्राओं द्वारा व्यक्त करने में एक नर्तक गलती कर गया। उसके दर्शक एक विद्वन्मणि ने दूसरे दिन अपने शिष्य से पूछा कि अभिनय ठीक था अथवा नहीं? शिष्य ने तुरन्त उत्तर दिया—'उन्होंने जो अभिनय किया वह **'कनक रुचि रुच्यंगिमारे'**(सुवर्णकी प्रभा जैसे प्रभामयअंगोंवाली) का था, **'कनक रुचि रुचिरां-गिमारे'** (सुवर्ण के जैसे सुन्दर अंगोंवाली) का नहीं। स्पष्ट है कि उस समय शब्दों को यथार्थ रूप में मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित करने का सूक्ष्म भेद समझने वाले द्रष्टागण विद्यमान थे। कथकलि साहित्य को प्रोत्साहन देनेवाले राजा-महाराजाओं और पंडितों की संख्या अनवधि थी। परन्तु आजकल इसकी अवस्था असूयार्ह नहीं है। इसका मुख्य कारण परिवर्तनशील रुचि है। कम समय और कम परिश्रम से आनन्द देनेवाले नाटक-सिनेमा की अभिवृद्धि से कथकलि का मन्द प्रकाश में विलीन हो जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि गीत और श्लोकों का अर्थ श्रवणमात्र से समझकर उसके अनुसार रंगस्थली में किये जानेवाले नृत्याभिनय को समझने योग्य ज्ञान अद्यतन लोगों में साधारण नहीं है। प्रोत्साहन कम होने से अभ्यास करने की इच्छा भी कम होने लगी है। इस अभिनय-कला को देखकर आनन्दास्वादन करने के लिए पूर्व-तैयारी की आवश्यकता बहुत है। एक तो उस कथा के साहित्य से पहले परिचय कर लेना आवश्यक होता है, दूसरे संगीत-ज्ञान और मुद्रा तथा अभिनय की रीति का ज्ञान भी अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त नाट्य के सभी अंगों का परिचय भी होना चाहिए। वर्तमान समय में मनोरंजन के लिए इतना समय व्यय करने को कितने लोग तैयार होते हैं? ऐसी स्थिति में उस कथकली का प्रचार, जो पहले विद्वत्सभाओं के मनोरंजन का साधन था, यदि मन्द पड़ गया तो इसमें आश्चर्य क्या?

कैरली और केरलीय जनता के ऊपर से संस्कृत का उन्माद घट जाने के कारण भी कथकलि का प्रचार घटने लगा है। यदि केरलीयों के पाश्चात्यानुकरण और अभ्यास-पराङ्मुखता के कारण यह मनोहर कला

काल-यवनिका में अन्तर्हित हो जाये तो अति शोचनीय होगा। परन्तु, यह स्मरणीय है कि महाकवि वल्लतोल नारायण मेनोन के प्रयत्नों से इस नृत्यकला का पुनरुज्जीवन हो रहा है। आशा करना अनुचित न होगा कि उनके प्रयत्न से केरल के प्रसिद्ध नट अपनी इस नाट्यकला को लेकर साहित्य में पुनः अपना स्थान बना लेंगे।

: ९ :

हास्य-साहित्य के उपज्ञाता कुञ्चन् नम्पियार

मोहन प्रभात की अरुण किरण के पहले लम्बी रात होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार तुञ्चत्तु गुरुवर्य (रामानुजन् एड्डुतच्छन्) की स्वर्गति के बाद केरल के साहित्य-अन्तरिक्ष में जो अन्धकार छाया वह भी लम्बा था। इस अन्तराल निशाकाल में टिमटिमाते कई नक्षत्र पाये जाते हैं। संस्कृत के प्रभावाधिक्य के कारण इस समय में केरल भाषा का भाषात्व संस्कृत पद-प्राचुर्य में अन्तर्हित हो गया और कथकलि साहित्य की वर्धना से साहित्यमय संगीतकला का नृत्यकला से अनिन्द्य-सुन्दर सम्बन्ध जुड़ गया था; परन्तु इस सब के फलों का आस्वादन तो सौभाग्य-मंदिरों और उच्च अट्टालिकाओं में ही सम्भव था। पांडित्य और हस्त-मुद्राओं का ज्ञान आदि जिनको सिद्ध नहीं था, उनको कथकलि का रसास्वादन सुलभ नहीं था। और उसका रंगमंच भी पण्डितों-ब्राह्मण-वरेण्यों के मठों या राजमहलों के आँगनों में ही बनता था। फलतः साधारण जनता इस प्रकार की विनोद-कलाओं से दूर ही रह गई। उसकी कला-तृष्णा को शान्त करने योग्य कोई भी प्रस्थान नहीं रहा। कथकलि-साहित्य के उत्कर्ष-बोध के साथ-साथ ही इतर साधारण विनोद-कलाओं का अपकर्ष-बोध भी बढ़ता गया। इससे जो संघर्ष अवश्यंभावी था सो हुआ। इस संघर्षरूपी क्षीराब्धि-मथन से निकला अमृत है 'तुल्लल' नाम का साहित्य-कलामय प्रस्थान। इसके उपनेता थे रसिक-वरेण्य 'कलक्कत्तु कुञ्चन नम्पियार'।

नम्पियार के जीवन के सम्बन्ध में जो थोड़ी-बहुत निश्चित जान-

कारी प्राप्त है उससे ही हमें सन्तोष मान लेना होगा। इनका जन्मस्थान श्री विल्वाद्रि के समीप 'किल्लिक्कुरिश्शि' (अथवा शुकपुरं) नामक ग्राम था। वहाँ एक साधारण अन्तराल वर्ग के परिवार में एक नंङियार के (नंपियार की स्त्री नंङियार कहलाती है) एक नम्पूतिरि ब्राह्मण से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ, जिसने आगे चलकर कुञ्चन् नम्पियार के नाम से प्रसिद्धि पाई। इनके जन्म के बारे में अनेक ऐतिह्य प्रसिद्ध हैं। उन सब का सार इतना ही है कि कुञ्चन् नम्पियार किसी पंडित ब्राह्मण के अनुग्रह से उत्पन्न हुए किसी एक नंङियार के पुत्र थे। कुञ्चन् नम्पियार का असाधारण वाग्विलास और प्रतिभा इन ऐतिह्यों को सार्थक बनाती है। बाल्यकाल में योग्य गुरुजनों से विद्या प्राप्त करने के पश्चात् नम्पियार अपने देश के राजा श्री देवनारायण के आश्रय में राजकवि बनकर प्रख्यात होने लगे। कोलस्वरूपं तथा वेणाट्टुस्वरूपं नामक दो राजाओं के आश्रय में भी इन्होंने कुछ वर्ष बिताये थे। इनकी कविताओं में 'द्रोणंपल्लि आचार्य', 'उण्णि रवि कुरुप्पु' और एक ब्राह्मण गुरु, इस प्रकार तीन गुरुवर्यों की वन्दना पाई जाती है। इसी प्रकार समय-समय पर ये जिन-जिन राजाओं की प्रसाद-छाया में रहे उनकी स्तुति भी इनकी तत्कालीन रचनाओं में मिलती है।

कुञ्चन् की कृतियों से जो प्रमाण मिलते हैं उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्य तिरुवितांकूर में चेम्पकशेरी राज्य की केन्द्र नगरी 'अम्पलप्पुड़ा' उनके जीवन-मध्याह्न की आश्रय-स्थली थी और वे अपनी सायाह्न-दशा वेणाट्टु राजा के आश्रय में व्यतीत करके अन्त्यकाल में स्वदेश को ही लौट आये थे।

परिहास-रसिकता नम्पियार का जन्मसिद्ध गुण था। उनके बारे में केरलीय जनता के बीच प्रसिद्ध कहानियाँ इसी निर्णय को प्रमाणित करती हैं। कुंचन की कविताओं का अध्ययन करने के पहले उनके अन्तर्गत गुण का अवलोकन कर लें। इस कविवर्य का बाल्यकाल अपने जन्मदेश में ही शास्त्राध्ययन में बीता था। युवावस्था में ये छोटी-मोटी

कविताएँ संस्कृत में रचा करते थे। किन्तु इनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा इससे सन्तुष्ट नहीं हुई। धीरे-धीरे इनकी कवनशक्ति और रसिकता आसपास के लोगों को ज्ञात होने लगी। इसी बीच एक ऐसी घटना हुई कि इनके कविता-पुष्पों का सौरभ राजमहल में प्रविष्ट हुआ। कहा जाता है कि उस समय अम्पलप्पुड़ा की राजसभा में एक परदेशी ब्राह्मण शास्त्री आ गये। उन्होंने केरलीय विद्वानों का आह्वान किया। राजा की विद्वत्सभा के अध्यक्ष कुञ्चन् के गुरु भट्टतिरि थे। अतएव भट्टतिरि को ही शास्त्री का आह्वान स्वीकार करना पड़ा। कई दिन के विवाद के पश्चात् भी किसी की जय-पराजय निश्चित नहीं हो पाई। राजा को शंका होने लगी कि कहीं हमारे विद्वानों को नीचा न देखना पड़े। उन्होंने प्रकाश्य रूप में कहा—"आप दोनों का निर्णय वादविवाद से होना सम्भव नहीं दीखता, इसलिए आप दोनों आज रात में ही बारह सर्ग वाला एक-एक काव्य मणि-प्रवाल भाषा में बनाकर कल प्रातःकाल प्रस्तुत कीजिए। इन काव्यों के गुण-दोष से आपकी अधरोत्तरता का निर्णय हो जायगा।" दोनों को राजाज्ञा स्वीकार करनी ही पड़ी।

शास्त्रीजी को काव्यकला की छाया भी न लगी थी। वे घर जाकर आराम से सो गये। परन्तु भट्टतिरि का मन आत्माभिमान की हानि के डर से भर गया। जब वे विषाद-मग्न होकर टहल रहे थे, उन्होंने देखा कि उनका प्रिय शिष्य कुञ्चन् नम्पियार आ रहा है। उनका हृदय खिल उठा और उन्होंने कहा—"वत्स, तेरा आना मेरी भाग्य-शक्ति और तेरी गुरुभक्ति का परिचायक है।" बाद में उन्होंने अपने ऊपर आये संकट का सारा विवरण सुनाया। कुञ्चन् का उत्तर इतना ही था—"बारह सर्ग में अकेला तो नहीं लिख पाऊँगा। आप ग्यारह लोगों को मेरे साथ दीजिए।" गुरु ने अपने शिष्यों में से ग्यारह समर्थ लेखकों को जगाकर कुञ्चन् के पास भेजा। कहा जाता है कि कुञ्चन् एक-एक सर्ग का एक-एक श्लोक उन ग्यारह लोगों को लिखवाते गये और एक सर्ग स्वयं लिखते गये। इस प्रकार प्रातःकाल, सूर्य की किरणों के निकलने से पूर्व

ही, 'श्रीकृष्णचरित मणि-प्रवाल काव्य' लिखकर तैयार हो गया। जागने पर गुरुवर्य के चरणों में वह पूर्ण काव्य समर्पित कर देने का आदेश दे कर कुञ्चन् वहाँ से चले भी गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट-तिरि की जीत हुई और शास्त्रीजी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए स्वधाम को लौट गये।

यह 'श्रीकृष्णचरितं' मलयाल साहित्य की काव्यशाखा की एक अनुपम निधि है। इसमें ऐसी अशुद्धियाँ और असावधानी के दोष भी मौजूद हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह द्रुत कविता है। श्रीकृष्ण की पवित्र जीवनी लेकर रचा हुआ यह काव्य तब से आज तक केरल के बच्चे-बच्चे के रसनाग्र में विलसित है। इसकी रचना से कुञ्चन् नम्पियार अम्पलप्पुड़ा-नरेश की विद्वत्सभा के सर्वमान्य अलंकार बन गये। जब तक चेंपकश्शेरी राज्य तिरुवितांकुर में विलीन नहीं हुआ तब तक वे वहीं रहे। उसके पश्चात् कुछ समय तिरुअनन्तपुरं में भी राजा के आश्रित होकर रहे थे।

अपने कवित्व-वैभव तथा सम्भाषण-चातुर्य से नम्पियार सर्वदा लोकप्रिय ही रहे। प्रत्येक स्थान पर 'हंसो-हंसाओ' इनकी नीति थी। जो इनके शत्रु बने उनकी कुशल नहीं रही। ये उनका परिहास कर-करके उन्हें विवश करके छोड़ते थे। इनके प्रतिभा-विलास और हास-रसि-कता के कारण राजसभा में इनको मुख्य स्थान ही मिलता था। इससे अन्य विद्वानों को ईर्ष्या होना स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध में कविकुलगुरु कालिदास और राजा भोज के समान कुञ्चन् तथा श्री देवनारायण महाराज के सम्बन्ध में भी अनेक कहानियां प्रसिद्ध हैं। एक यह है :

चम्पकश्शेरी राज्य की राजधानी अम्पलप्पुड़ा में श्रीकृष्ण का जो मन्दिर है वह समस्त केरल में प्रसिद्ध है। वहाँ का मुख्य नैवेद्य ३६० सेर दूध और ३६० सेर चीनी से बनाया हुआ पायस होता था। प्रतिदिन नैवेद्य होने के उपरान्त प्रसाद के रूप में इस पायस का थोड़ा-सा भाग राजमहल में भेजा जाता था। वह भोजन के समय महाराजा और उपस्थित विद्वानों को बाँटा जाता था। एक दिन राजा के मन में आया

कि कुञ्चन् की विशेषता इन अवसर-सेवी विद्वानों को भी बताई जाय। इसलिए जब पायस पत्ते में परोसा गया तो राजा ने मुँह बनाकर कहा—"यह कुछ खराब मालूम होता है, विचित्र कड़वापन है इस पायस में।" राजा के मुँह से यह निकला नहीं कि शेष सभी लोगों ने अपने-अपने हाथ खींच लिये और सब वही बात दुहराने लगे। परन्तु हमारे कुञ्चन् तो बिना कुछ कहे खाते गये। इस पर राजा ने पूछा—"कुञ्चन्, क्या इस पायस का कुछ विचित्र स्वाद नहीं है ?" कुञ्चन् शान्त भाव से विनय के साथ बोले—"जी महाराज, है तो सही; परन्तु यह विचित्र स्वाद मुझे तो पसन्द है, क्योंकि दूध और चीनी का है न ?" ये शब्द कह कर वे फिर स्वाद से खाने लगे। राजा हँस पड़े और शेष लोगों ने शरमाकर शिर नीचे कर लिये।

सच बोलने में इन्हें कहीं भी कोई संकोच नहीं होता था। इसी प्रकार की एक कहानी तिरुअनन्तपुरं के सम्बन्ध में भी मशहूर है। श्री वीर मार्तण्ड वर्मा के नाम से प्रख्यात वहाँ के अति पराक्रमी राजा ने वहाँ के पद्मनाभ महामन्दिर में एक दीप-स्तम्भ बनवाया। जिस दिन उस महान् दीपक का उद्घाटन हुआ, महाराज भी अपने विद्वत्-परिवार के साथ देव-दर्शन के लिए गये। वहाँ उन्होंने सभी कवियों से कहा कि इस दीपक के बारे में एक-एक श्लोक बनाएँ। सभी ने सुन्दर-सुन्दर अलंकारों से परिपूर्ण कविताएँ बनाईं। कुञ्चन् नम्पियार चपचाप खड़े थे। महाराज ने अन्त में उनसे हँसकर पूछा—"क्यों कुञ्चन्, कुछ बोलोगे नहीं ?" कुञ्चन् ने उत्तर दिया :

दीपस्तम्भं महाश्चर्यं, नमुक्कुं किट्टणं पणं,
इत्यर्थ एषां श्लोकानाम् अल्लतोनुं न विद्यते।

अर्थात्, दीपस्तम्भ महा आश्चर्यकारक है, यह बताने वाले इन सब श्लोकों का अर्थ केवल इतना ही है कि हमें भी पैसा मिले।

राजा ने इस स्पष्टवादिता से प्रसन्न होकर उनको सम्मानित किया। सम्भाषण-चतुर व्यक्तियों की वाक्-रसिकता उनके शब्दों में होती है।

मलय-भाषा के कवि-केसरी का वाग्वैशिष्ट्य समझने के लिए उन शब्दों का अर्थ-स्वारस्य समझना आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि नम्पियार ने अपना बहुत-सा जीवन भ्रमण में बिताया। कभी कोट्टयं, कभी अम्पलप्पुड़ा, कभी तिरुअनन्तपुरं—इस प्रकार वे घूमते ही रहते थे। एक बार वे तिरुअनन्तपुरं में आये और वहाँ मन्दिर में दर्शन के लिए गये। मन्दिर के पुजारी ने, जिसे भाषा में 'नम्पि' कहते हैं, उनसे पूछा—"आर ?" अर्थात्, "तुम कौन ?" उन्होंने उत्तर दिया—"नम्पिआर।" नम्पि ने समझा कि आगन्तुक मेरा अपमान कर रहा है। यह असम्भव भी नहीं था कि परिहासप्रिय कुञ्चन् ने कुछ विनोद करने की दृष्टि से ही यह उत्तर दिया, जिसका अर्थ यह भी हो सकता था कि "नम्पि कौन है ?" (नम्पि आर ?) पुजारी ने रुष्ट होकर महाराजा के पास शिकायत की। महाराजा ने कुञ्चन् को बुलाकर पूछा तो उत्तर मिला :

नम्पि आरेन्नु चोदिच्चु, नम्पिआरेन्नु चोल्लिनेन।
नम्पि केट्टुथ कोपिच्चु, तंपुराने ! क्षमिक्करणे॥

अर्थात्, नम्पि ने पूछा—"आर ?" (कौन ?) मैंने उत्तर दिया—"नम्पिआर।" नम्पि सुनकर रुष्ट हो गये। महाराज, क्षमा कीजिए !

तम्पुरान (महाराजा) ने यह सरल, सुन्दर, रसिक वाग्विलास सुनकर कुंचन् को उलटे पारितोषिक दिया।

राजभवन से विशेष सम्मानित कवियों, कलाकारों, पण्डितों आदि को नित्य व्यय के लिए निश्चित मात्रा में चावल-दाल आदि सामान मिलता था। नम्पियार के नाम भी सवा दो सेर चावल और तदनुसार अन्य सामान निश्चित था। एक दिन यह सब बांटने वाला 'पण्डाला' (भंडारी) कहने लगा—"सवा दो सेर नहीं, दो सेर ही चावल निश्चित है।" इस कलह में दुपहर के दो बज गये। जब देखा कि भंडारी टस-से-मस नहीं होता तो नम्पियार ने सीधे महाराजा-पार्श्व में अपनी शिकायत इस प्रकार पहुँचा दी :

रण्डे कालेन्नु कल्पिच्चु, रण्डे कालायि नेरवु ।
उण्डो कालेन्नु पण्डाल, उण्डिल्लिन्नित्रनेरवु ।

अर्थात्, आदेश मिला था कि 'रण्डे काल्' (सवा दो) मिले । आज समय भी 'रण्डे काल्' (पाव दो) हो गया । पण्डाल अब तक पूछ ही रहे हैं–'काल्' (पाव) कहाँ है ? अब तक खाना नहीं खा सका ।

कहना आवश्यक नहीं कि निर्णय नम्पियार के पक्ष में ही रहा ।

इस प्रकार उनकी वाग्मिता, सरस्वती-प्रसाद तथा परिहास-प्रियता के कितने ही उदाहरण सुनने को मिलते हैं । एक बार देश-पर्यटन करते कोलस्वरूप (कोल राज्य) में पहुँचे । वहाँ उनको बहुत कष्ट उठाना पड़ा । कहा जाता है कि उन्होंने यह श्लोक लिख कर राजा के पास भेज दिया :

कोल-भूपस्य नगरे वासरा हरिवासरा ।
मशकैर्मकुणैश्चात्र रात्रयः शिवरात्रयः ।

अर्थात्, कोल भूप के नगर में दिन तो हरिवासर हैं—उपवास से बीतते हैं, और रात्रियाँ मच्छरों और खटमलों के कारण शिवरात्रि हैं—जागरण में बितानी पड़ती हैं ।

राजा हो या कोई साधारण व्यक्ति, दोष दिखा तो सामने बोलने में ये संकोच नहीं करते थे ।

एक बार तिरुवितांकुर के महाराजा नम्पियार से किसी कारण-वश अप्रसन्न हो गये । उन्होंने इन्हें सामने आने से मना कर दिया । राजप्रसाद का आश्रय नष्ट हो जाने पर इनका जीवन भी कष्टमय हो गया । जब स्थिति असह्य होने लगी तो इन्होंने निम्न आशय का श्लोक लिखकर राजा को भेज दिया :

"तुम, हे राजन्, सज्जनों से पूज्य हो, मैं भी शत्रु लोगों के दण्डों से पूज्य हूँ । तुम्हारे लिए आरोहण करने को वारण (हाथी) है, मेरे लिए भी राजमन्दिर में आने को वारण (मनाही) है । तुम्हारा विश्व-भर में कोई अरि (शत्रु) नहीं है, मेरे घर में भी खाने के लिए अरि

(चावल) नहीं है। तुम्हारी सेवा करता-करता मैं भी तुम्हारे बराबर हो गया हूँ।"

यह श्लोक देखते ही राजा ने नम्पियार को फिर से राजसभा में स्थान दिया और वे इनका पूर्वाधिक आदर करने लगे।

यही सामर्थ्य नम्पियार की कविता में भी अनर्गल प्रवाहित होता दिखाई देता है। वे प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक घटना का इस तन्मयता के साथ चित्रण करते हैं कि पाठक या श्रोतागण उसे अपने सामने देखने लगते हैं।

नम्पियार ने संस्कृत तथा भाषा में अनेक रचनाएँ की हैं। 'चाणक्य-सूत्रं', 'कृष्णार्जुन-विजयं', 'श्रीकृष्ण-चरितं', 'पंचतन्त्रं', 'शिवपुराणं', 'एकादशी माहात्म्यं', 'विष्णु गीता', 'भारतं पतिन्नालु वृत्तं', 'पत्तुवृत्तं', 'शीलावती', 'सोमवार माहात्म्यं' आदि पद्य-कृतियों के अलावा स्त्रियों के लिए 'कैकोट्टिक्कली' नामक नृत्य-विशेष के उपयोगी असंख्य गीतों का भी निर्माण उन्होंने किया है। परन्तु उन्हें केरल-भाषा और केरलीय जनता के हृदय-पद्मासन पर विराजित कराने का गौरव उनके 'तुल्लल' को ही प्राप्त है।

यह 'तुल्लल' क्या है ? मलयाल भाषा में 'तुल्लल' शब्द का अर्थ है—'द्रुत गति से पाद-चालन व ताल के साथ किया जाने वाला नृत्य-विशेष।' इसकी उत्पत्ति के विषय में एक कहानी प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार अम्पलप्पुड़ा के श्रीकृष्ण-मन्दिर में 'चाक्यार-कूत्तु' हो रहा था। 'नम्पियार' जाति का काम है मन्दिरों में पाणि-वादन करना। इसी काम के कारण नम्पियार-वंश के पर्याय के रूप में 'पाणिवादन' शब्द भी प्रचलित है। जब मन्दिरों में चाक्यार 'कूत्तु' बोलने लगते हैं तब 'मिड़ावु' नाम का वाद्य बजाना भी नम्पियारों का काम होता है। उस दिन किसी कारण से रोज का वाद्यकार उपस्थित नहीं था। अतएव कुञ्चन् को उस दिन का काम निभाने का आदेश मिला। चाक्यार पहले गाकर सुनाता है बाद में नम्पियार वाद्य

बजाता है। उसके बाद चाक्यार अपना व्याख्यान और अभिनय शुरू करता है। जब वह समाप्त होता है तब दूसरा खण्ड गाता है और फिर अभिनय के साथ व्याख्यान होता है। गानों के बीच के समय में, जो बहुत ही लम्बा होता है, नम्पियार को चुपचाप बैठना पड़ता है। जिस दिन कुञ्चन् की बारी थी, वे इस बीच के समय में बैठे-बैठे सो गये। कथा के बीच में चाक्यार ने इस असावधानी के लिए नम्पियार का बहुत परिहास किया। 'कूत्तु' बोलने के समय चाक्यार को कुछ भी बोलने का अधिकार होता है। इसलिए यह परिहास सह लेने के सिवा नम्पियार को कोई चारा नहीं था। परन्तु इतना अपमान सह लेना भी कुञ्चन् के लिए सम्भव नहीं था। इसका फल दूसरे दिन जनता को दिखाई दिया। मन्दिर में जब चाक्यार का 'कूत्तु' आरम्भ होने का समय हुआ तब मन्दिर के पीछे के 'कलित्तट्टु' (जन-साधारण के बैठने के लिए एक प्रकार का मंच, जो प्रत्येक मन्दिर के पास होता है) के ऊपर एक विशेष कलाकार वेश-विधान के साथ खड़ा हुआ दिखाई दिया। शिर में किरीट, गले में स्फटिक मालाएँ, अंगों में पूग-पुष्पों से बने अलंकार, चन्दनादि का लेपन और पूग के पत्तों से बने वस्त्र आदि—इस प्रकार विचित्र रूप से विभूषित कुञ्चन् नम्पियार अभिनय के लिए सन्नद्ध होकर वहाँ खड़े थे। इस विचित्र रूप से आकर्षित होकर जन-समुदाय उसी ओर उमड़ पड़ा। जब सभा सज्जित हुई तो ताल तथा स्वरों के लय के साथ नया नर्तक गाने लगा :

"मत्त हाथियों के कुल को नष्ट करने वाले, महागिरि जैसे विशाल हाथी का रूप लेकर उमाकान्त श्री महादेव हथिनी का रूप धारण की हुई उमादेवी के साथ जब पर्वतों की छाया में केलि कर रहे थे, उस समय, सारे संसार के पुण्य-फलों के एकत्र होने से जो बालक—श्री गणेश्वर—उत्पन्न हुए थे, वे इस समय मेरी सहायता करें! मेरे इस खेल में जो बाधाएँ आयें उन्हें वे ही विघ्नेश्वर दूर करें। मैं नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ!"

इस प्रकार गणेश्वर, सरस्वती आदि देव-देवियों की वन्दना के बाद अपने गुरुजनों को प्रणाम और उनकी स्तुति आदि करके नम्पियार सौगन्धिका-हरण की कहानी स्वयं गाकर अभिनय करने लगे। कुञ्चन् की सरल-सुन्दर भाषा और उसके साथ सरलता से समझ में आनेवाला अभिनय, ताल-मेल आदि सब इतना आकर्षक और विनोदमय था कि जनता चाक्यार और उनकी कथा को भूल गई और मन्दिर में 'पाठकं' सुनने को एकत्र हुए लोग भीमसेन तथा हनुमान के वार्तालाप और कल्याण-सौगंधिक पुष्प के हरण की कथा को सोच-सोचकर, हँस-हँसकर अपने घरों को लौटे। यही कल्याण-सौगन्धिक तुल्लल-कथा 'तुल्लल' नाम के नये प्रस्थान का प्रथमोपहार थी। उस दिन से नम्पियार के 'तुल्लल' ने जन-समुदाय के हृदय में अपना स्थान बना लिया। सब मिलाकर उन्होंने चौंसठ 'तुल्लल'-कथाएँ रचीं। तुल्लल की रचना, वेशविधान, अभिनयरीति आदि सभी कुंचन की देन हैं। यह सब इतना मनोरंजक और प्रसादमय था कि थोड़े ही समय के अन्दर यह कला समस्त केरल में व्याप्त हो गई और आज तक उतनी ही आकर्षक तथा स्थिर बनी है।

सारांश यह है कि चाक्यार और नम्पियार के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप इस सुन्दर कला का जन्म हुआ। चाक्यार ने नम्पियार का मर्म-भेदी परिहास किया, और उनके 'पाठकं' को सुनने वाले लोग ही न रहें, ऐसा उपाय करके नम्पियार ने दूसरे ही दिन बदला चुका दिया। इस कहानी में तथ्य किस मात्रा में है यह निर्णय करना कठिन है। कदाचित् केवल इतना कहना असंगत नहीं होगा कि किसी चाक्यार के साथ कुञ्चन् नम्पियार का मत्सर 'तुल्लल-प्रस्थान' का तात्कालिक निमित्त बना। किन्तु यदि हम यह कहें कि एक दिन प्रातःकाल जब चाक्यार से अप्रसन्न होकर नम्पियार रंगमंच में चढ़कर खड़े हो गये तब वीरभद्र की जटा से कृत्तिका की उत्पत्ति के समान 'तुल्लल' के लिए सब आवश्यक साधन-सामग्री उपस्थित हो गई, तो यह ठीक

नहीं होगा। इसलिए 'तुल्लल'-प्रस्थान की उत्पत्ति की गवेषणा अन्य दिशाओं में करना आवश्यक है।

तुल्लल के बारे में सोचने पर तीन बातें मन में आती हैं—उसका वृत्त-बन्ध, उसकी कविता-रीति और उसका प्रचुर प्रचार। उसमें तीन वृत्त दिखाई देते है—शीतंकन्, परयन् और ओट्टन। पहले दोनों कुछ मन्द गाने योग्य और तीसरा शीघ्र गति में गाने योग्य मात्रा-वृत्त है। छन्दशास्त्र की कसौटी पर चढ़ाने पर स्पष्ट मालूम हो जायगा कि ओट्टन-तुल्लल के वृत्त संस्कृत के तरंगिणी वृत्त से भिन्न नहीं हैं। गाने की रीति से यह अक्षर-वृत्त नहीं, मात्रा-वृत्त मालूम होता है। इसी प्रकार शेष वृत्तों का अध्ययन करने से भी मालूम होता है कि तुल्लल में प्रयुक्त वृत्त नये नहीं हैं। केरल में प्रचलित वृत्तों को ही रसानुरूप स्वीकार करके नम्पियार काम में लाये हैं। सभी वृत्त केरलीय जनता के चिर-परिचित हैं। इतना ही नहीं, किसी-न-किसी रूप में सभी लोग उनको थोड़ा-बहुत गा भी लेते हैं।

कथा-वस्तु भी नम्पियार ने जनता का मन जानकर ही चुनी है। पण्डित तथा पामर, कुचेल तथा कुबेर आदि भेद को दूर करके सर्व-सामान्य को रुचिकर होने योग्य इतिवृत उन्होंने पुराण-कथाओं से ही चुन लिये। उनकी सब कथाएँ रामायण अथवा भारत से ली गई हैं। परन्तु वही कथाएँ जब नम्पियार के मुख से अनर्गल धारा बनकर प्रवाहित होती हैं तब उनके प्रसाद तथा माधुर्यमय गान के साथ जनता के हृदय ताल मिलाकर आनन्द-नर्तन करने लगते हैं। भाषा की सरलता, प्रवाह और सुगमता अनुभवैकवेद्य है। यही कारण है कि तुल्लल के गाने सभी को रुचिकर बन गये हैं। उस समय जो लोकगीत आदि रचे जाते थे वे साधारण लोगों को आकृष्ट करने योग्य नहीं थे। कथकलि आदि अभिनय-गीत पण्डित-वरेण्यों की ही समझ में आते थे। परन्तु तुल्लल में मध्यम रीति का अवलंबन किया गया और वह आशय-पौष्कल्य तथा भाषा-सौंदर्य आदि के कारण सब का लालना-पात्र बन गया।

पौराणिक इतिवृत्तों को सर्वसामान्य के आस्वादन के योग्य बनाने का प्रथम प्रयत्न "चाक्यार कूत्तु" में हुआ था। परन्तु वह मन्दिरों के अन्तर्गृहों तक ही सीमित रहा। कथकलि अपनी हस्त-मुद्रा और संस्कृत पद-निष्ठा से पण्डितों की सम्पति रह गई। इन दोनों की कमियों को निकालकर, गुणों को एकत्र करके, विनोद-रस में लपेटकर सहृदय हृदयाह्लादन करना ही नम्पियार का उद्देश्य था। उन्होंने अपना उद्देश्य अपनी ही भाषा में गाया है :

"भटजनों के बीच उनके पटयणि (विनोद-युद्ध) के लिए सुन्दर-सरल केरल भाषा ही योग्य है।"

"मलयाल भाषा और संस्कृत दोनों का मुझे अभ्यास है और दोनों में एक-सी प्रौढ़ भाषा में काव्य-रचना कर भी सकता हूँ। परन्तु इन भटों में, जो सर्वसामान्य के प्रतिनिधि हैं, संस्कृत समझने की शक्ति नहीं है। इसलिए कुछ कमी या दोष रह जाय तो भी भाषा में ही बोलूँगा।"

विनोद और विज्ञान को क्षीर-नीर न्यायेन मिलाकर पण्डित तथा साधारण जन दोनों के समझने योग्य एक नई शैली आरम्भ करने की हिम्मत नम्पियार ने प्रदर्शित की। इस नये प्रस्थान के शीघ्र और प्रचुर प्रचार का मुख्य कारण इन कविताओं में आपादचूड़ प्रत्यक्ष होने वाला हास्यरस है। नम्पियार या तुल्लल नाम सुनते ही प्रत्येक केरलीय का मन खुलकर हँसने के लिए तैयार हो जाता है। अपनी चारों ओर सदा दीख पड़ने के कारण सुपरिचित आचार, विचार, व्यवहार, व्यक्ति अथवा जनता का प्रतिबिम्ब हास्यरसमय भाषा में जब सामने आता है तब उसके प्रति आकर्षण होना अनिवार्य है। सामयिकता, जीवन-रीति और केरलीयता ही 'तुल्लल' की मुख्य विशेषताएँ हैं। उस समय तक जन-सामान्य के जितने भी साहित्य प्रस्थान थे उन सभी का एकीकरण है तुल्लल। नम्पियार ने कथकलि के वेश-विधान, अभिनय-रीति के सरल अंश, केरलीय गीतों के वृत्त, तथा गान-रीति आदि लेकर और उन्हें वीर-रस एवं भक्ति-सन्देश के साथ, जो केरलीय साहित्य के दो

विशेष स्वभाव है, मिलाकर, उनमें अपनी विनोदमय भाषा का पुटपाक देकर, जनता के आस्वादन के लिए प्रस्तुत किया। उनके विनोद-रस अथवा हास्यरस के दो अविभाज्य घटक हैं—परिहास तथा विमर्श। इन दोनों के सजीव होने के लिए समानकालीन जीवन की छाया ग्रहण करने की आवश्यकता है। इस सब को एक स्थान पर पाकर केरलीय जनता अपने को और अपने शत्रु-मित्र, परिचित-अपरिचित सभी को नम्पियार के कविता रूपी दर्पण में देखने लगी। यही कारण है कि तुल्लल-प्रस्थान तड़ित के समान अप्रतीक्षित रूप में आविर्भूत होने पर भी ध्रुव-नक्षत्र के समान स्थिर-प्रभा के साथ विद्यमान है।

नम्पियार का हास्य देखते ही हमें उनकी निरंकुशता का भी अनुभव होता है। कवित्व उनके हाथ में केवल एक खिलौना मालूम होता है। हास्यरस की आधारशिला है वैजात्य अथवा वैरूप्य का बोध। इसलिए साधारणतः परिहास की तह में विद्वेष या असहिष्णुता का भाव छिपा हुआ दिखलाई पड़ता है। किन्तु नम्पियार के हास्य का आस्वादन करते हुए हमें विद्वेष की भावना से अधिक मनुष्य-समुदाय की दुर्बलताओं के प्रति एक दयाभाव की अनुभूति होने लगती है। विमर्शन की रूक्षता के साथ ही हास्य की प्रसन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। सभी वैरूप्य और सभी दुर्बलता देखकर 'हाय बेचारा!' कहते हुए हंसकर उसे सुधारने का प्रयत्न करने का सजीव उदाहरण है नम्पियार का तुल्लल कथा-समूह। कवि का परिहास समुदाय के प्रति है, व्यक्ति के प्रति नहीं। प्रत्येकजाति और प्रत्येक मनुष्य को क्या करना चाहिए इसके विषय में नम्पियार का अभिप्राय निश्चित और सुव्यक्त है। उस धर्म से व्यतिचलित होनेवाला कोई भी हो, उनके हास्य का लक्ष्य बनने से बचता नहीं। केरल की दो मुख्य जातियाँ हैं, नायर तथा पट्टर (तमिल ब्राह्मण)। नायर का काम क्षत्रियोचित देश-रक्षा और वीरोचित जीवन है। उधर, ब्राह्मण को चाहिए वेद-शास्त्रादि का अध्ययन-अध्यापन और ब्रह्मज्ञान में विलीन-चित्त होकर रहना। नम्पियार के समय में ये दोनों जातियाँ अतिशय

अधःपतित हो चुकी थीं। इसलिए मौके-बेमौके इन दोनों को परिहास-शरों से विदीर्ण करने में नम्पियार ने कभी कमी नहीं की। किन्तु उनका परिहास किसी व्यक्ति के नहीं, व्यक्तियों में भरे हुए दोषों के प्रति है। उदाहरण के लिए धन-तृष्णा में निमग्न ब्राह्मणों की वर्णना देखिए :

"ब्राह्मणों को पैसे की याद आते ही ऐसा लगता है मानो स्वयं युवा बन गये हों। काशी के आगे भी एक पैसा मिले तो वहाँ तक दौड़ लगाने को तैयार हैं। अठत्तर वर्ष पूरे किये हुए एक बूढ़ा यह जा रहा है। थाल जैसा चमचमाता इसका गंजा शिर सूर्य की किरणों से ऐसा गर्म हो गया है कि अब भड़भूँजा के भाड़ के समान उस पर एक मुट्ठी धान की लाई भून सकते हैं। छाता तो है नहीं, एक लाठी है; उस पर बल देकर, झुक-झुककर, खाँस-खाँसकर, धूल में स्नान करके, आखिर यहाँ तक पहुँचा है। यदि इसको बिना एक पैसा पाये चला जाना पड़ा तो इसके जलते दिल से निकलनेवाली शाप-वाणी कोसल राज्य को ही भस्म कर डालेगी।"

दूसरे स्थान पर कहते हैं :

"प्रतिग्रह शब्द सुनते ही नंपूतिरि एक दिन में पचास मील चलने के लिए तैयार हो जाता है। 'वारं' नाम का मंत्र-जाप पूरा होने पर जैसे ही कलश का समय आया, कि तीन सौ नंपूतिरि वहाँ छाता-थैली समेत पहुँच जाते हैं।"

इसी प्रकार नायर जाति को भी भीरुता, स्वार्थपरता, निर्लज्जता आदि दुर्गुणों के आगार बनने के लिए कुञ्चन् ने मन भर के सुनाया है। मापिला (ईसाई), अम्पलवासी (वारियर, पुतुआल आदि जातियाँ) इत्यादि भी इस महान् कवि की रसना के आक्रमण से बचे नहीं। जहाँ-जहाँ अवसर मिला, इन्होंने अपने हृदय में भरा रोष प्रकट कर दिया। इन्होंने स्वयं ही अपने इस तीव्र परिहास का स्पष्टीकरण किया है। कहते हैं :

"किसी को नीचा दिखाने का मेरा विचार बिलकुल नहीं है। न

किसी की खुशामद करने की ही मेरी वृत्ति है।" और--

"जब कथोपकथन के रूप में कहानी कहते हैं तब कभी-कभी, प्रसंगवश, कई हास्यमय व्यंग्यादि भी बीच-बीच में पुष्टि के लिए करने पड़ते हैं। उनसे आप लोग बुरा न मानें। वह सब हितकारी है ऐसा समझकर विद्वज्जन क्षमा करें। मैं प्रणाम करता हूँ।"

इस प्रकार हास-परिहास भरकर हँसाने के तरीके से ही क्यों कहते हैं? इसका भी उत्तर कवि ने दिया है :

"हँसने योग्य कोई कथा सुनने को मिले तो बैठेंगे, नहीं तो चले जायेंगे—इस भावना के साथ आये हुए इन सर्वसामान्य श्रोताओं का यहाँ मन लगे इसलिए हँसाना ही एकमात्र उपाय है।"

परन्तु हँसा कर तात्कालिक मनोरंजन करना ही नम्पियार का उद्देश्य नहीं है। तुल्लल कथा-समूह की प्रत्येक कथा में परिहास की आड़ में खड़े होकर कवि सदाचार का मार्ग-दर्शन कराते दिखाई देते हैं।

नम्पियारका काल अठारहवीं शताब्दी है। तब तक केरल की अवरोहण गति आरम्भ हो चुकी थी। समाज और राष्ट्र के अधःपतन के लक्षण पूर्ण हो रहे थे। समाज के बन्धन शिथिल होने लगे थे। साधारण जनता में रूढ़मूल हुए दोषों को खोद कर, उन्हें सबके सामने रखकर, कवि उन पर ताली बजाकर हँसने के लिए श्रोताओं को आमंत्रित करता है। उस समय के केरल की स्थिति को समझने का प्रयत्न किया जाये तो कुञ्चन् के आविर्भाव का औचित्य भी समझ में आ जायगा।

बाहर से पाश्चात्य शक्तियाँ आकर जगह-जगह अधिकार जमा चुकी थीं। नायर, जिनका जन्मसिद्ध कर्तव्य युद्ध और देश-रक्षा था, शक्तिहीन हो चुके थे। वे आयुध-विद्या छोड़कर जीविका के हेतु अन्य मार्ग खोजने के लिए बाध्य हो गये थे। गण-तंत्र शासन नष्ट हो गया था। सरकारी कर्मचारी निरंकुश होकर जनता का शोषण करने लगे थे। गाँव-गाँव में जो सेनानिवेश और अभ्यास-शालाएँ थीं वे सब प्रयो-

जनहीन होने लगी थीं। अपने आभिजात्य दर्प के कारण दूसरे उद्योगों को स्वीकार न करके नायर प्रभुजन 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' का न्याय स्वीकार करके अधोगति के मार्ग पर दौड़ पड़े थे। विदेशी ब्राह्मणों ने, जिन्हें केरल में 'पट्टर' कहते हैं, इस सुअवसर का आनन्द से स्वागत किया। वे नायर रईसों को ब्याज पर ऋण दे-देकर उनकी जमीन-जायदाद हड़प कर प्रमुख बनने लगे। व्यापार भी उन्होंने अपने हाथों में कर लिया था। ऐसे समय पर कुञ्चन् का आविर्भाव हुआ था। ब्राह्मण का दुराग्रह और धन-तृष्णा, नायर की भीरुता और दयनीयता, सरकारी कर्मचारियों की जड़ता और अपनी अधीनता में रहने वाले लोगों को कष्ट देने की तत्परता आदि मनुष्य-मात्र के जो-जो दोष उनकी दृष्टि में खटके उन सभी का गिन-गिन करके उन्होंने अपनी सरस कविता में चित्रण किया है। परन्तु वे केवल दोषैकद्रष्टा नहीं थे। उन्होंने जहाँ भीरु नायर का परिहास किया वहाँ वे वीर सेनानी की प्रशंसा करने में भी चूके नहीं। उदाहरणार्थ :

"पौ फटते ही स्नान करके, श्वेत वस्त्र पहन कर, भस्म लेपन करके, प्रार्थना का ढोंग रचने के बाद ठंढा चावल पेट भर खाकर, बरामदे में पड़ा सोने वाला नायर युद्ध में जाकर क्या करेगा? भागकर घर में छिप जायेगा।"

परन्तु नम्पियार कहते हैं कि ऐसे लोगों के बीच में ऐसे भी लोग हैं :

"बाल रुई जैसे सफेद हो गये हैं। घर में खाने के लिए कुछ भी नहीं है। मुँह में दाढ़ी और नाक के एक साथ मिल जाने की तैयारी हो रही है। पचास वर्ष से ऊपर की आयु भी हुई। इन बूढ़ों को आज भी समरांगण में जाने के लिए कोई संकोच नहीं है। तोप भी कन्धे पर चढ़ाकर चलते हैं। मानो इन्हें मृत्यु जैसी वस्तु कभी प्राप्त होगी ही नहीं!"

नम्पियार की कविता की एक विशेषता उसमें निहित और व्याप्त दृढ़ भक्ति-रस है। उनका कहना है :

"जो कुछ जनता की सभा में बोलते हैं वह सब ईश्वर-स्तुति होनी चाहिए। तभी अच्छा होगा।" दूसरे स्थान पर वे कहते हैं :

"याग, योग, मन्त्र, तन्त्र, उपासना, आसन, प्राणायाम आदि कुछ भी साधारण प्रापंचिक जनों के लिए उपयोगी नहीं है। भक्तवत्सल भगवान् के चरणों में भक्ति उत्पन्न करने योग्य बातें बतायें और लोगों को भक्ति-मान बनायें तभी मुक्ति-लाभ होगा।"

इस आदर्श को समक्ष रखकर, साधारण जनता का हृदय-मालिन्य धो कर, उसमें ईश्वर-भक्ति, सन्मार्ग-बोध और कर्तव्य-निष्ठा उत्पन्न करना कवि का चरम लक्ष्य प्रतीत होता है। जहाँ भी अधर्म दिखलाई दे वहाँ उसकी कटु शब्दों में निन्दा करने में और जहाँ गुण है वहाँ उसकी प्रशंसा करने में वे कभी नहीं चूके। उनके परिहास से श्रीकृष्ण भगवान् भी नहीं बचे। भीम, अर्जुन आदि सभी की हंसी उड़ा कर कवि खूब खिलखिलाकर हँसते हैं।

'कल्याण-सौगन्धिक' कथा में जब हनुमान अपने छोटे भाई भीम की शक्ति-परीक्षा करने के लिए मार्ग पर जाकर पड़ गये तो मार्ग-बाधा बने बूढ़े मर्कट को देखकर भीमसेन क्रोध से कहते हैं—"रास्ते से हट जाओ।" उन दोनों के बीच का संभाषण यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

"उद्धत भीमसेन अपने मार्ग में बाधा बनकर लेटे हुए वृद्ध बलीमुख को देखकर क्रुद्ध होकर कहने लगा :

"देख रे, मर्कट ! हमारे मार्ग में आकर पड़े मूर्ख, यहाँ से उठ कर दूसरी जगह जाकर लेट जा। इस दुर्गम स्थान पर आकर पड़ने की तुझे क्या सूझी है ? देश के प्रभुजनों को देख कर पहचान नहीं सकता तू ? तू तो जंगल में रहने वाला मूढ़ बन्दर है। तुझमें तनिक भी विवेक नहीं है। ऐसी जाति में पैदा हुए तुझसे क्या आशा की जा सकती है ? क्यों ? अकेला क्यों पड़ा है ? कूदने से पैर में मोच आ गई क्या ? अब जल्दी से उठकर भाग जा, नहीं तो खैर नहीं है।"

इस प्रकार भीम के दुर्वचनों को सुनकर वृद्ध हनुमान ने जरा हँस कर धीरे से उत्तर दिया :

"तुम, भाई, इतने क्रुद्ध होकर क्यों बोलते हैं ? उठ कर हटने की मुझमें बिलकुल शक्ति नहीं है। तुम जरा दूसरी ओर से चले जाओ। इसमें कोई दोष नहीं है। इस बूढ़े बन्दर को देखो तो सही। आँखों से दीखता नहीं, शरीर काँप रहा है, बहुत ही कष्ट है। सच, हाथ-पैर तो चलते नहीं, शरीर भी शिथिल हो रहा है। कोई झूठ तो मैं बोल नहीं रहा हूँ। हे मानव ! सच बात न जान कर क्यों इस प्रकार हठ करते हो ? भाई, कष्ट में पड़े बूढ़ों से कोई अच्छे पुरुष इस प्रकार का झगड़ा नहीं करते। ठीक रास्ते से एक या दो कदम इधर या उधर हट कर चले जाओ तो उसमें तुम्हारा क्या बिगड़ जायगा ?"

'वायु-पुत्र' कपि की ये बातें सुनकर 'वायु-पुत्र' भीमसेन और भी क्रोधित होकर बोले :

"रे बन्दर, क्या समझ कर बोलता है ? असभ्यता की कोई सीमा नहीं है ? पुरुवंश में पैदा हुए महावीर वृकोदर का यशोगान तूने सुना है ? वही वीर है यह तेरे समक्ष आया हुआ देह ! सीधा मार्ग छोड़कर हम नहीं चलते हैं। न हम किसी से हारते हैं। जो मूढ़ "रास्ते से हटो" कहने का दुस्साहस करता है उसके वक्षःस्थल पर तुरन्त ही गदा पड़ जाती है। अधिक बकवास न करके उठ और रास्ते से हट जा। सज्जनों के आचार की गन्ध भी न पाये हुए दुर्जन यदि हमारी निन्दा करके रास्ता रोकें तो अर्जुन का अग्रज सहेगा नहीं। याद रख, धर्मपुत्र का अनुज धर्म से कभी व्यतिचलित नहीं होता।"

इतना सुनने की देर ही थी कि बूढ़ा ठहाका मारकर हँस पड़ा और वैसे ही पड़े-पड़े बोलने लगा :

"यह भीम ! तुमने तो खूब सुनाया !! तुम अपने को नीतिज्ञ और धार्मिक बता रहे हो ? वाह भाई, वाह ! धर्मज आदि तुम लोग धर्म छोड़कर कुछ करते ही नहीं ! पांचाली नाम की एक स्त्री को देखकर

पाँच-के-पाँचों ने मिलकर उसका हाथ पकड़ लिया। यही तो तुम्हारा धर्म है ! और वह जो कहती है वही तुमको शिरोधार्य है। वह जैसा नचाती है वैसा तुम लोग नाचते हो। एक स्त्री के चार-पाँच पति ! यह चारों में से किसी वर्ण के योग्य नहीं है। चार लोगों को ठीक न लगने वाली बात हम पूँछवाले बन्दरों को भी उचित नहीं मालूम होती।"

इस प्रकार उनके बीच का सम्वाद आगे बढ़ता-बढ़ता भीमसेन और हनुमान के युद्ध में परिणत हो जाता है। अन्त में जब अपने बड़े भाई को पहचान कर भीम विनम्र बनता है तब कथा आगे बढ़ती है। इस प्रसंग के परिहास-प्राचुर्य को अनुभव से ही समझा जा सकता है। इस प्रकार का प्रसंग बनाने और उसका यथोचित उपयोग करने की शक्ति नम्पियार की विशेषता है। उनकी चौंसठ तुल्लल कथाओं में से एक भी इससे रहित नहीं है। दूसरा गुण है चित्रण की तन्मयता। जब भीमसेन हनुमान से पालित कदली-वन में प्रवेश करके हनुमान को देखता है तब का वर्णन देखिए :

"भीमसेन ने गन्धमादन पर्वत की अधित्यका को देखा तो उन्हें श्यामल रंग का कोमल, सुन्दर कदली वन सामने दिखाई दिया। श्री रामचन्द्र के दास, महावीर, वायुपुत्र हनुमान का वह निवासस्थान था। हरे-हरे कदली-फलों के बीच पके फलों के सम्मिश्रण से वहाँ के कदली-द्रुम ऐसे मालूम होते थे मानो हरे रत्नों और प्रवाल-मणिमों से जटित मालिकाओं का तोरण बँधा हो। मन्द वायु के आकर हिलाने से आनन्द-नृत्य करने वाले कदली-द्रुमों के पत्ते मानो दल-मर्मर के रूप में ताल बजा रहे थे ! इस प्रकार के लीला-विलास के साथ उस उद्यान में कदली-द्रुम निबिड़तया खड़े थे। यह सब कालानुज वीर वृकोदर विस्मित होकर देखने लगे······

"नीचे गिरे हुए कदली-फलों से सारी भूमि पर ऐसी शोभा छाई हुई थी मानो सुन्दर रेशम की बिछायत की गई हो। वहाँ तरह-तरह

के फलाहारी पक्षी—शुक, सारिका, कपोत आदि उड़ते-चहकते थे। परन्तु कोई इन पके फलों के पास भी आने का साहस नहीं कर रहा था। इस वन की रक्षा करने वाला कौन है, इस प्रश्न का उत्तर मन में ढूँढ़ते हुए वृकोदर चारों ओर सावधानी से देखने लगे।"

चित्रण की सुन्दरता और यथार्थता का किंचित् आस्वादन पाठक इस अनुवाद से कर सकते हैं, किन्तु जिन्हें मलयालम् भाषा का ज्ञान है वे देखेंगे कि यह चित्र ललित, कोमल-कान्त पदावलियों से कितना समलंकृत है। मानो, भाषा-कल्लोलिनी अपनी लहरों से ताल बजाती-बजाती नृत्य करती-करती, चली जा रही है।

नम्पियार की कविता में नवरसों को समान स्थान मिला है। और प्रत्येक रस के अनुकूल शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। उनका शब्द भाण्डार कभी रिक्त होता दिखाई नहीं देता। प्रत्येक रस को विकसित करती हुई भी नम्पियार की सरस्वती मानो हँसने-हँसाने का अवसर ही देखती रहती है। गम्भीरतम प्रसंग में भी कवि मानो तटस्थ खड़ा होकर निष्पक्षता से, या साक्षित्वेन, सारा दृश्य कौतूहल के साथ देख रहा है। "अपरिहार्यर्थे न त्वं शौचितुमर्हसि" (अपरिहार्य घटनाओं पर व्यर्थ शोक नहीं करना चाहिए)—इस भगवद्वचन का तथ्य और संसार का मिथ्यात्व जान कर, अनुभव करके भी, जीवन में सुख और दुःख आदि द्वन्द्व-भावों को महत्व देने वाले लोगों की अज्ञता से मानो कवि को दया-सम्मिश्रित हँसी आ रही है।

दुष्ट और अशक्त राजाओं के शासन में देश के भयानक अधःपतन का चित्र बताने वाली लेखनी से ही उन्होंने बताया है कि उत्तम राजाओं के शासन में कैसा होता है :

"महाराजा पेरुमाल के शासन-काल में दारिद्रय नहीं है। चारित्र्य-शुद्धि सभी जगह है। कहीं भी दुर्मद नहीं, दूषण नहीं। दुर्मुखवाली जनता भी नहीं। एषणी नहीं, ईर्ष्या, राग-द्वेषादि कुछ भी नहीं। व्याकुलता नहीं। व्याधि नहीं। बाल-मृत्यु नहीं। स्त्रियों के लिए कोई भय

नहीं। ब्राह्मण शास्त्रार्थ आदि में रत हैं। नायर आयोधन-विद्या में निपुण हैं। सभी जनता दानशील है। कृषक लोग अपनी खेती-बाड़ी में काम करके सन्तुष्ट रहते हैं। राजा प्रजावत्सल हैं। अपराधी से पैसा लेकर अपराध छिपाने वाले लोग नहीं हैं। उपकार के बदले अपकार नहीं किया जाता। किसी की बात में आकर कोई किसी से बिगड़ता नहीं। अपनी-अपनी जाति का धर्म छोड़कर परधर्म को कोई नहीं मानता।"

नम्पियार का हास सर्वकालीन और सार्वजनीन है। एक नायर से वे प्रश्न पुछवाते हैं—"आयुध लिये बिना शिकार खेलने क्यों चले हो?" और फिर उत्तर दिलाते हैं—"यदि व्याघ्र मुँह बा कर खाने के लिए दौड़े तो हाथ में आयुध होने से भागने में कठिनता होगी।" ऐसा उत्तर दिलवाकर हँसाने वाला कवि केवल एक नायर को दोष नहीं दे रहा है, उस सर्वकालीन मनोभाव का, जो मनुष्य को भीरु बनाता है, परिहास कर रहा है।

परन्तु उनकी कविता सर्वदेशीय नहीं है। देवलोक, भूलोक, स्वर्ग, पाताल, लंका, किष्किन्धा आदि सभी देशों की कहानी वे कहते हैं, परन्तु वहाँ के निवासी नायर, पट्टर, कम्मल, मारान् आदि केरलीय ही हैं। उनका रहन-सहन, आचार-विचार, बातचीत, व्यवहार सब केरलीय है। नम्पियार इन सभी प्रसंगों में पट्टर की भोजन-प्रियता नम्पूतिरि की प्रतिग्रह-तृष्णा, नायर की भीरुता तथा संसार भर के पैसे के प्रति लालच आदि को सभासदों के सामने बार-बार लाकर लज्जा उत्पन्न करना चाहते हैं। इसके साथ-साथ, चीनी में लिपटी हुई कुनैन के समान नीति का उपदेश करने में भी कभी चूकते नहीं। स्यमन्तक मणि की चोरी के बारे में जब कृष्ण के विरुद्ध लोकापवाद फैलने लगा तो लोग आपस में बातें करते-करते यह भी कहते सुनाई देते हैं :

"मालिक ही चोरी करने लगा तो दूसरे लोगों को संकोच ही किसलिए? यदि यांप्रान् (मन्दिर की देखभाल करने और नैवेद्य बनाने वाला) भोग चढ़ाने की मिठाई छिपाकर खाने लगे तो अंपलवासी (मन्दिर

के परिकर्मी लोग) चोरी करके खायँगे ही। गुरु का एक अक्षर गलत हुआ तो शिष्यों के इक्कावन अक्षर भी गलत होंगे।"

सबकी भलाई-बुराई समदृष्टि से देखने वाले नम्पियार में, मालूम नहीं क्यों, स्त्रियों के प्रति एक प्रकार का विद्वेष दिखाई देता है। जहाँ-कहीं भी अवसर मिला, उन्होंने स्त्री पर कलहशीलता, वंचकत्व, लोभ आदि दुर्गुणों का स्पष्ट शब्दों में आरोप किया है।

"स्त्री को धन के प्रति ही मोह है। आदमी के पास पैसा हो तो वह खूब आदर करेगी। परन्तु गुण से उसको कोई मतलब नहीं। जिस दिन पैसा समाप्त हो जायगा उस दिन वह पुरुष को तृण के समान त्याग देगी। धोखा देने में स्त्री पटु होती है। वह चंचल और चपल है।"

संक्षेप में, स्त्रियों की निन्दा में कुञ्चन् भी हिन्दी के कविकुलगुरु तुलसीदासजी के साथ सहमत मालूम होते हैं।

नम्पियार की कविता रसभरे उपदेशों द्वारा मनुष्य समाज को सन्मार्ग पर चलाने का प्रयत्न आदि से अन्त तक करती चली जाती है। इस साध्य के लिए उपयोग में लाये गए साधनों और रीति में निरंकुशता अवश्य दिखाई देती है, परन्तु उसके पीछे खड़े-खड़े प्रेमपूर्वक, वात्सल्यमय नेत्रों से देखनेवाले, वरद हस्त के साथ खुलकर हँसनेवाले नम्पियार का चित्र उस निरंकुशता को भुला कर आदर के साथ प्रणाम करने को हमें बाध्य करता है। हास्य-साहित्य के क्षेत्र में, विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य के साथ समत्व पाने योग्य सम्पत्ति कैरली को उपलब्ध है और उसके उपज्ञाता कुञ्चन् नम्पियार ही हैं। उनके पहले या बाद इस शाखा में प्रयत्न करके इतनी उन्नति किसी ने नहीं की।

नम्पियार की अन्य कृतियों की संख्या भी बड़ी है। शीलावती पत्तुवृत्तं, पतिन्नालु वृत्तं आदि उच्चकोटि की अनेक कृतियों से उन्होंने कैरली को अलंकृत किया है। इनकी सरलता, गान-योग्यता, कोमल-कान्त-पदावली विन्यास और नर्म-रसिकता के कारण केरल के कोने-कोने में आज भी इन कविताओं की प्रतिध्वनि गूँजती है।

: १० :

आधुनिक युग का उषःकाल

आधुनिक काल के पूर्वाह्न में कैरली को नवजीवन देकर स्फुरद्-चेतना बनाने वाले तीन महानुभाव स्मरणीय हैं—आनन्द गोपकुमार की जीवन-लीला गाकर उसे सुप्रभात के लिए जगाने वाले चेरुश्शेरि; रामायण, महाभारत, भागवतादि पुराण कथा-रूपी सारिका-कल-कूजन से रोमाञ्च-कञ्चुकित करने वाले श्रीरामानुजन् एडुत्तच्छन् और सुप्रभात की अरुण किरणों के आनन्दमय अन्तरिक्ष में 'तुल्लल' से आनन्द-नृत्य करा-कर, हँसा-हँसाकर, कर्मपथ पर अग्रसर कराने वाले कुञ्चन् नम्पियार। इन तीनों महानुभावों ने समान प्रेम से कैरली का लालन किया। परन्तु तीनों की रीतियाँ तीन थीं। चेरुश्शेरि का उद्देश्य मोहन वाग्विलास-वैचित्र्य रूपी खेती में सौन्दर्य की उपज बढ़ाना था। वीर्य और पराक्रम की भूमिका पर भक्तिपारम्य का उन्नयन और उन्नमन एडुत्तच्छन् का लक्ष्य था और धीरोपहास एवं यथार्थ चित्रण के द्वारा मानसिक उन्नयन करना कुञ्चन् का साध्य था। तीनों ने अपना-अपना उद्देश्य पूर्णतया सिद्ध किया।

इन तीनों का अपना-अपना व्यक्तित्व और समान धर्मित्व भी था। भक्तिपारम्य, सन्मार्गबोध-प्रचार, वीर्य-प्रशंसा और संस्कृति-पुनरुज्जीवन तीनों कवियों के लक्ष्य थे। संस्कृत के दृढ़ बन्धनों से भाषा को मुक्त करने के भगीरथ प्रयत्न में भी अपनी-अपनी रीति से इन तीनों ने अपना हिस्सा बँटाया। जब चेरुश्शेरि ने शुद्ध केरल-भाषा का निर्बन्ध रखा, तब श्री तुञ्चत्तुगुरुवर्य (रामानुजन् एडुत्तच्छन्) ने सरल संस्कृत

शब्दों को उचित स्निग्ध मलयाल पदों के साथ मिलाकर सरल-सुन्दर मणि-प्रवाल रीति को प्रोत्साहन दिया और आधुनिक मलयाल भाषा का राजपथ प्रशस्त कर दिया। कुञ्चन् ने प्रसंग और रसविशेष के अनुकूल भाषा स्वीकार करके एक नई ही सरणी चलाई। लेकिन उससे कैरली का शब्दभण्डार इतना वर्धमान हुआ, मानो वह सूर्य का दिया हुआ अक्षयपात्र ही बन गया हो।

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक के तीन सौ वर्षों में विशेष श्रद्धेय इन तीन ही कवियों का दर्शन मिलता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि केरलीय साहित्य का क्षेत्र ऊसर रहा हो। साधारण गीतिवृत्त की अगणित गान-कृतियाँ इस समय की विशेष सम्पत्ति रहीं। किलिप्पाट्टु, तुल्ललप्पाट्टु, पाना, वञ्चिप्पाट्टु (नौकागान), ऊञ्जालप्पाट्टु (झूलागान) मारन्पाट्टु, कम्पटिकलिपाट्टु, अम्मानप्पाट्टु, कैकोट्टिकलिप्पाट्टु आदि विविध रीति के गीतों की असीम उपज इस काल में हुई। इस समय जो गीत बने, उनमें से पंचानबे प्रतिशत महिलाओं की आवश्यकता के लिए विरचित किये गये। ब्राह्मण-गृहों और राजमहलों में तथा त्योहारों के अवसरों पर तरह-तरह के गीतों की आवश्यकता होती थी। इसलिए प्रभुजनों के आश्रित विद्वानों को आदेश मिलता था और समय तथा प्रसंग के अनुसार गीतों का निर्माण हो जाता था। आजकल भी उन गीतों की कई-कई आवृत्तियाँ बिक जाती हैं और प्रकाशकों को पर्याप्त प्रतिफल भी मिलता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि ये गीत केवल वृत्तबद्ध शब्द-संग्रह ही हैं। पुराण-कथाओं से इतिवृत्त चुनकर सुन्दर, सुकोमल कविता बनाने के प्रयत्न में कभी कमी नहीं होती थी। जीवन को ही एक क्षणभंगुर विनोद-रंग समझने वाले उन पण्डितों की दृष्टि में खेल भी शास्त्रचर्चा के जितने ही महत्त्वपूर्ण थे। इसलिए इन गानों में भी साहित्यदेवी की नूपुर-झंकार हमारे कर्ण-पुटों को आनन्दमग्न करती ही है।

अंग्रेजों के आधिपत्य में पूर्णतया दब जाने तक केरलीय जनता की

विद्याभ्यास रीति कुछ अनोखी ही थी। केरल न तो कभी अनन्त धन-सम्पत्ति में मदमत्त होने वाले करोड़पतियों का धाम रहा, और न एक समय की क्षुधातृप्ति के लिए भी पराश्रित रहने वाले भिक्षुओं का प्रदेश रहा। स्वपरिश्रम से, अपनी खेती में उगने वाले धान्य-सस्यादि के परस्पर विनिमय से, एक प्रकार का सुभिक्ष-सुन्दर जीवन व्यतीत किया जाता था। केरलीयों की दृष्टि में शस्त्र तथा शास्त्र का अभ्यास एक-सा आवश्यक था। इसलिए प्रत्येक परिवार की एक व्यवस्थित शिक्षा-रीति समस्त प्रदेश में प्रचलित थी। जब बालक-बालिका तीन साल के होते तो उनका कर्ण-वेध करवाकर विद्यारम्भ कराया जाता। विद्याभ्यास का अर्थ होता था संस्कृत का रूढ़ अध्ययन। अमरकोश, सिद्धरूप आदि बहुत छोटी आयु में ही कण्ठस्थ करवा दिए जाते थे। उनके बाद काव्य सिखाना शुरू होता था। श्रीरामोदन्त, श्रीकृष्णविलास, कुमारसंभव, रघुवंश, माघ, नैषध, इस क्रम से काव्याध्ययन कराया जाता था। इसके साथ-साथ व्याकरण, अलंकार आदि का सामान्य ज्ञान भी दिया जाता था। काव्यशाखा के बाद विद्यार्थी का प्रवेश शास्त्राध्ययन में कराया जाता था। नाटक, अलंकार आदि का विद्वान बनने के बाद तर्क, ज्योतिष, न्याय आदि विशेष शाखाओं में अध्ययन आगे बढ़ता था। इतना तो सर्वसामान्य के लिए आवश्यक सामान्य ज्ञान था। इसके बाद जिसको जिस शाखा में विशेष ज्ञान सम्पादन करने की इच्छा होती, उसे उस शाखा में बढ़ाया जाता था।

इसके साथ-साथ नायर बालकों को युद्ध-विद्या भी सिखाई जाती थी। आधुनिक समय तक केरल की 'कलरी' (आयुध-विद्या-मंडप) और वहाँ का पयट्टु (आयुधाभ्यास) प्रसिद्ध रहा है। जो युद्ध-विद्या में परिपक्व न होता, उसे 'नायर' कहलाने योग्य नहीं माना जाता था। ब्राह्मणों का प्रभाव और उनके द्वारा संस्कृत का प्रचार केरल में बढ़ने से सरस्वती प्रसाद भी उतना ही आवश्यक माना जाने लगा। संस्कृत प्रभावाधिक्य का परिणाम तो हमने पूर्व के अध्यायों में देख लिया।

उसकी प्रतिक्रिया के रूप में शुद्ध भाषाकृतियों का पुनरुज्जीवन भी पन्द्रहवीं शताब्दी से हमारे सामने है। मणि-प्रवाल प्रस्थान, भाषा-गीतों और गीतिकावृत्तों का प्रचार भी इसी परिवर्तन का द्योतक है।

इस सबसे ज्ञात होता है कि केरल में साहित्य का पोषण करने योग्य विद्वानों की समृद्धि कितनी स्वाभाविक थी। सभी लोग अभ्यस्त-विद्य हुए। साथ-साथ, प्रभुजन, राजा-महाराजा आदि धनाढ्य तथा स्थानाढ्य लोग विद्वानों को तथा कलाकारों को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया करते थे। अच्छे कवियों और विद्वानों को पुरस्कार देने में, उनका सम्मान करने में, समय-समय पर वादविवाद, शास्त्रचर्चा आदि करवाकर उनको प्रोत्साहित करने में, सभी सम्पन्न व्यक्ति सन्नद्ध रहते थे। शिक्षा का अधिकार केवल पुरुषों को ही नहीं था, स्त्रियाँ भी वैदुष्य-सिन्धु में तैरने की शक्ति और योग्यता रखती थीं। इसलिए उनके उपयोग के लिए लिखे जाने वाले गीत अर्थ-पौष्कल्य अथवा शब्द-सौन्दर्य में कम रह जायँ तो परिहास्य बन जाने का भय भी इन विद्वानों के हृदय में रहता था। यह स्मरण करने पर कि बड़े-बड़े विद्वत्केसरी भी इस प्रकार के गीतों के निर्माण में प्रवृत्त हुए, इन गीतों को भी साहित्य में स्थान मिलने का औचित्य समझ में आ सकता है।

इन दो-ढाई सौ वर्षों के अन्दर-ही-अन्दर निर्मित समस्त गीतों का एकदेशावलोकन भी इस छोटी सी पुस्तक में सम्भव नहीं है। इनमें से विशेष प्रशंसनीय एक-दो का अध्ययन करके ही सन्तोष मानना पड़ेगा।

पहले कहा जा चुका है कि इन कविताओं के इत्तिवृत्त पुराण-कथाओं से लिये गये हैं। संस्कृत कृतियों से ऋण भी लिया गया है। जैसे बृहत्-कथामञ्जरी की वेताल कथाओं को 'वेतालपुराणं' नाम से 'किलिप्पाट्टु' की शैली में रचा गया। इस ग्रन्थ के रचयिता थे श्री राघवप्पिषारोड़ी। इन्होंने और भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, तथा कथकलि-साहित्य को भी अपनी देन दी है। इनकी 'सेतुमाहात्म्यं' नाम की एक कृति विशेष स्मरणीय है।

इस कृति में भी रामायण के जैसे छः काण्ड हैं—चक्रकाण्डं, वेताल काण्डं, श्रीरामकाण्डं, साध्यकाण्डं, कल्याणकाण्डं तथा रामनाथकाण्डं। चक्रकाण्डं में सेतुबन्ध में स्नान करने का फल बताकर सेतुबन्ध के हेतु का वर्णन किया गया है। इसमें रामायण की सीतापहरण पर्यन्त की कथा संक्षेप में कहकर सुग्रीव-सख्य, बाली-वध आदि स्वल्प विस्तार के साथ कहते हुए आगे बढ़ा गया है। श्रीराम के वानर-सेना के साथ समुद्र-तट पर पहुँचने, सेतुबन्धनोद्योग, वरुण के प्रति तपस्या, सेतुबन्ध-कथा आदि रामायण का अनुसरण करके कही गई हैं। सेतुबन्धन और रामेश्वर-प्रतिष्ठा आदि के बाद उसका माहात्म्य वर्णन शुरू होता है। रास्ते में चौबीस तीर्थ-स्थानों का विवरण, माहात्म्य और तत्सम्बन्धी कथाएँ हैं। अन्त में चक्रतीर्थ की उत्पत्ति की कहानी है।

गालव नाम के ऋषि महाविष्णु की तपस्या करते हैं। पाँच हजार वर्षों की तपस्या के बाद भगवान् प्रसन्न होकर उनको दर्शन देते हैं। गालव ऋषि के प्रार्थनानुसार भगवान उन्हें अचञ्चल भक्ति का वरदान देकर सुदर्शन चक्र को उनकी रक्षा में नियुक्त करके अन्तर्धान हो जाते हैं। गालव वहीं तपोमग्न होकर रह जाते हैं। इस समय महाविष्णु उस स्थल के माहात्म्य का भी वर्णन करते हैं। इसी जगह पर धर्मदेव ने शिव की तपस्या की थी और शिव ने प्रत्यक्ष होकर उन्हें वरदान दिया था। इस सम्बन्ध में कथोपकथन के रूप में कई कहानियाँ संघटित हैं। गालव को मारने के लिए आने वाले दुर्मद नाम के राक्षस की पूर्व कहानी, उसका शाप-मोक्ष आदि अनेक उपाख्यान अति मनोहर भाषा में निबद्ध हैं। इनकी भाषा-रीति का परिचय अनुवाद द्वारा देना सम्भव नहीं है; फिर भी एक-दो अंशों का अनुवाद दे देना अनुपयोगी न होगा।

जब शंकरजी प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष हुए तब धर्मदेव ने स्तुति की :

"प्रणव ही जिसका आत्मा है उस विश्व के हे नाथ ! तुम्हारे चरण-सरसिज को निरन्तर प्रणाम करता हूँ। आप सभी देवताओं के

रूप में विलसित हैं। चाहे जो रूप धारण कर सकते हैं। हे ऊर्ध्वरेता, भालदेश में आँखवाले और कामदेव को भस्म करनेवाले स्वामिन ! तुमको मैं प्रणाम करता हूँ। हे समस्तेश्वर ! तुम समस्त जगत् के आधारभूत हो, समस्त कर्मों के साक्षी हो, विश्व के आत्मा हो। ऐसे हे देव ! मैं तुम्हारे चरणों में प्रणाम करता हूँ। हे दनुजों के अन्तक ! शम्भो ! तुम्हारा न जन्म है, न मरण है। मुनियों के हृदय में तुम निरन्तर वास करते हो। तुमको हृदय में धारण करने वाले लोगों को सन्तोष देने वाले भगवन् ! मै तुम्हारे चरणों में प्रणाम करता हूँ। श्याम रंग से द्वन्द्व करने वाले, कण्ठ में नागों की माला पहननेवाले, समस्त दुरितों का निवारण करने वाले, हे नाथ ! निरुत्तम ! तुम्हारे चरणों में प्रणाम हो। शूल, पिनाक आदि धारण किये हुए, हे संहार रुद्र वेषधारिन् ! यमधर्म को भी भयभीत करनेवाले भगवन ! पुष्पसायक को भस्म करने वाले विश्वेश्वर! मैं तुम्हारे चरणों में प्रणाम करता हूँ।"

चक्रतीर्थ को 'देवीपुरं' भी कहा जाता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि देवी महिषासुरमर्दिनी ने इसी जगह पर महिषासुर का वध किया था। उस कथा को भी इसी 'चक्रकाण्ड' में कहा गया है। जब महिषासुर के दुर्दान्त पराक्रम से समस्त विश्व काँपने लगा और देवादि ने तापसादि के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पास जाकर अपना दुःख बताया, तब सबके मुख-तेज से चण्डिका देवी का जन्म हुआ। वह दृश्य चित्रित करता हुआ कवि कहता है :

"ब्रह्मा का इस प्रकार का भाषण सुनकर भगवान् महाविष्णु और श्री महादेव दोनों ही कोप-कलुषित नयन होकर, भृकुटी चढ़ाते हुए दिखाई दिये। क्रोधाग्नि इतनी तेजी से उभड़ने लगी कि उनकी ओर देखना भी असम्भव हो गया। उस समय विष्णु के मुख से एक तेज-समूह निकलकर मूर्तिमान होने लगा। उसी समय ब्रह्मा और महेश्वर के मुखों से भी तेजोराशि निकलकर विष्णु-तेज में सम्मिलित हो गई। इसके बाद इन्द्र, यम आदि देवताओं के शरीरों से भी तेज निकलकर

इस नये तेजपुञ्ज में विलीन होने लगा। और—"

"ज्वाला-मालाओं से दिक्-दिगन्तर को व्याप्त करनेवाली वह तेजोराशि एकत्रित होकर उन देवगण के देखते-देखते एक दिव्य नारी के रूप में परिणत हो गई। श्री शंकर भगवान् के तेज से उसका मुख, वैष्णव तेज से उस सुन्दरांगी के भुजद्वय, ब्राह्म तेज से दोनों चरण, इन्द्र के तेज से शरीर का मध्य भाग, यम के तेज से केशराशि, चन्द्र के तेज-समूह से दोनों स्तन, अश्विनी देवों के तेज से नासिका, पृथ्वी के तेज से नितम्ब, सूर्य-तेज से पादों की अंगुलियाँ, दोनों सन्ध्याओं से दोनों भृकुटी, वायु के तेज से कर्णरन्ध्र—इस प्रकार प्रत्येक देवता के तेज से उस शरीर का एक-एक अंग बना और सब देवताओं के तेज-संघात से वह सर्वांग सुन्दरी, सर्वशक्तिमयी, तेजोरूपिणी दुर्गा बनकर उनके सामने खड़ी हो गई।"

इस प्रकार किलिप्पाट्टु निर्माण से अपनी प्रतिष्ठा पाये हुए कवियों में कुटियंकुड़ शुप्पुमेनवन्, पुन्नश्शेरि श्रीधरन् नंपि, ण्डुपत्तु नाणुकुट्टि मेनवन्, परयन्नूर भास्करन् नम्पूतिरिप्पाड्डु आदि विशेष स्मरणीय हैं। इन सभी गान-कृतियों के इतिवृत्त पुराण-इतिहासों के आख्यान और उपाख्यान ही हैं। पुराण-इतिहास अथवा वेदान्त-तत्व को ही आधार बनाकर उस समय के सभी कवियों ने साधारण-से-साधारण गीत भी रचे हैं। इसी समय में, ईश्वर-स्तुति पर अनेक कीर्तनों, अष्टकों, पानाओं, तुल्लल कथाओं, आट्टकथाओं आदि से साहित्य की पद्य-शाखा अत्यधिक फुल्ल-कुसुमिता तथा फल-भार-नमिता बनी है।

संस्कृत के बन्धन और शासन से मोचित कैरली पुनर्लब्ध स्वतन्त्रता से, वन में एक वृक्ष की शाखाओं से दूसरे वृक्ष की शाखाओं पर और एक लता से दूसरी लता पर उड़-उड़कर कलकूजन करती हुई आनन्द मनाने वाली सारिका के समान, कैरलीय गीति-वृत्त रूपी पंख फैलाकर साहित्य-गगन में विहरण करने लगी। प्राचीनतम गीतों की रागिनियाँ नवीनतम भाषा और आशय को लेकर

केरल के कोमल कण्ठों से निर्गलित होकर दिगन्तरालों को रोमाञ्चित करने लगीं। कैकोट्टिकलिप्पाट्टु, तीय्याट्टुपाट्टु, वातिलतुरप्पाट्टु, मारन्पाट्टु, कुत्तियोट्टपाट्टु, मण्णारपाट्टु, वेलनपाट्टु, मण्णुनीरपाट्टु, सर्पप्पाट्टु, कप्पलपाट्टु, वञ्चिप्पाट्टु, विल्लटिञ्ञान्पाट्टु, आट्टुवेल-प्पाट्टु इत्यादि अनेक सहस्र सुन्दर कृतियाँ इस समय में रची गईं। एक प्रकार के पाट्टु की रीति में अनेक कृतियाँ बनीं। जैसे सुभद्राहरणं पाना, कृष्णार्जुनविजयं पाना, वेदान्तप्पाना आदि कृतियाँ पाट्टु शीर्षक में आ जाती हैं। इसी प्रकार मारन्पाट्टु नाम से प्रसिद्ध कृतियों में कामदेव की पूजा-विधि और उनकी शक्ति के उदाहरणस्वरूप कोई-कोई कहानी निबद्ध है। यह पूजा बंगाल में प्रचलित वसन्तपूजा का एक भेद है और उसके समय उपयोग में लाये जाने वाले गानों को 'मारन्-पाट्टु' कहते हैं। विवाह आदि में तरह-तरह के संस्कार-विशेषों के समय गाने के लिए कल्याणप्पाट्टु, ब्राह्मणीप्पाट्टु, मण्णुनीरकोरुन्न-पाट्टु, वातिलतुरप्पाट्टु आदि की रचना की गई है।

केरल जल-विपुल प्रदेश है और एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए प्राचीन काल में नौकाओं का उपयोग अधिक मात्रा में हुआ करता था। नदी और जलाशय अधिक होने से जलयानों में विनोद-यात्रा भी विरल नहीं थी। इस समय विनोद और उत्साह बढ़ाने के लिए तरह-तरह के नौकागान गाये जाते थे। इनको गाने की रीति के आधार पर कप्पलपाट्टु, वञ्चिप्पाट्टु, केवुवलप्पाट्टु आदि विभिन्न नाम भी दिये गए हैं। इन गानों से भी भाषादेवी का भण्डार समृद्ध हुआ है। इस वञ्चिप्पाट्टु समूह का एक गीत विशेष उल्लेखनीय है। 'कुचेल-गोपालं' (सुदामा-कृष्ण) कथा पर आधृत करके बनाई गई इस कृति की पृष्ठ-भूमि और परिणाम दोनों उसकी अनिन्द्य सुन्दरता के अनुकूल ही हैं। यह गीत 'कुचेलवृत्तं वञ्चिप्पाट्टु' नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता 'रामपुरत्तु वारियर' नाम के सुगृहीतनामा कवि हैं। इनकी जीवनी के बारे में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। इतना मालूम है कि वे अति

निर्धन थे और ईश्वर-प्रसाद से राज-प्रसाद के पात्र बनने के पश्चात् सुखी हुए। कहा जाता है कि दरिद्रता के कारण या किसी रोग-शान्ति के लिए रामपुरत्तु वारियर वय्कं नाम के प्रसिद्ध शिवक्षेत्र में भजन कर रहे थे। उस समय तिरुवितांकूर राज्य के संस्थापक श्री वीर मार्तण्डवर्मा महाराज दर्शन के लिए वहाँ पधारे। दर्शनादि के बाद महाराजा वापस जाने लगे तब किन्हीं शिष्यों की प्रेरणा से हमारे कवि भी नौकास्थान पर पहुँच गए। दरिद्र होने पर भी महाराजा के सामने भिक्षा के लिए हाथ फैलाना इस भक्त-शिरोमणि को स्वीकार नहीं था। परन्तु शिष्य-वत्सल गुरु शिष्यों का आग्रह टाल न सकने के कारण मार्तण्डवर्मा महाराजा की प्रशंसा में दो-तीन श्लोक विरचित करके साथ ले गये थे। महाराजा नाव में चढ़ ही रहे थे तब उनके श्रीहस्तों में ये श्लोक उपस्थित किये गये। उन्होंने इनको एक बार पढ़ लिया और कवि को देखकर कहा, "साथ हो लो।" राजाज्ञा थी। वारियर भी नाव में सवार होकर महाराजा के साथ तिरुअनन्तपुरं के लिए रवाना हो गये।

जब नाव चलने लगी तो महाराजा ने वारियर को आज्ञा दी कि एक नौका-गान बनाकर गायें। कवि वारियर मन्दिरवासी भगवान् शंकर को और प्रत्यक्ष दैवत महाराजा को प्रणाम करके 'कुचेलवृत्तं' कथा ही गाने लगे। नाव तिरुअनन्तपुरं पहुँची और गाना भी संपूर्ण हुआ। जैसे महाराजा ने कवि की परीक्षा लेनी चाही वैसे ही शायद कवि ने भी महाराजा की परीक्षा लेनी चाही। यदि ऐसा हो तो अनन्तर घटनाएँ प्रमाणित करती हैं कि महाराजा भी करुणा की कसौटी में खरे उतरे। महाराजा की आज्ञा से वारियर कुछ दिन तिरुअनन्तपुरं में राजमन्दिर के एक कोने में रहे। साधारण खाने-पीने का प्रबन्ध कर दिया गया था। इस समय में महाराजा की आज्ञा से जयदेव की अष्टपदी का भी उन्होंने भाषा में अनुवाद किया। जब वह पूर्ण हुआ तो कवि ने स्वदेश लौटने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिल भी गई। विशेष कोई पारितोषिक आदि नहीं मिला। वे कुछ कुण्ठित होकर स्वदेश को

जाने लगे। परन्तु महाराजा की कृपा का नौका-स्थान से ही उनको अनुभव होने लगा। जाने की सारी तैयारी राजोचित रूप में की गई थी। वारियर को स्वदेश पहुँचाने के लिए महाराजा की ही नाव तैयार थी। जहाँ-जहाँ नाव तट पर लगती थी, वहाँ-वहाँ वारियर का आदरपूर्वक सत्कार करने के लिए सरकारी कर्मचारी तैयार रहते थे। अन्त में जब वे अपने गाँव पहुँचे तो देखा कि श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार कुचेल (सुदामा) को कृतार्थ किया था, वैसे ही महाराजा ने भी अपने आश्रित कवि को सुन्दर महल और आवश्यक सम्पत्ति, जमीन-जायदाद प्रदान करके अपनी प्रसन्नता का महान् प्रमाण उपस्थित कर रखा था। हमारे कवि ने भी उस समय स्ववर्णित कुचेल के अवस्थान्तर का अनुभव किया।

इस काव्य का विस्तृत परिचय दिया जा सकता तो पाठकों को नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित' से भी कहीं अधिक आनन्द प्राप्त होता। किन्तु स्थान की मर्यादा तो है ही, साथ ही मूलकाव्य का हिन्दी में अनुवाद करके उसका पूरा-पूरा रस प्रकट कर देना किसी महाकवि का ही काम है। अतएव उसके दो-चार अंशों का भावानुवाद देकर ही सन्तोष मान लेना एकमात्र उपाय दीख पड़ता है।

कवि अपने काव्य का आरम्भ मन्दिरवासी भगवान् शंकर की और प्रत्यक्ष नरेश मार्तण्ड वर्मा की स्तुति से करते हैं :

"मनुष्य रूप में भूमि पर अवतार ग्रहण करने वाले इस वञ्चि-राज्य के इन्द्र की कृपा का अधिष्ठान बनने का सौभाग्य मुझे मिले, इस आशा से मैं इनके पास आया था, परन्तु इनकी आज्ञा है कि 'वञ्चिप्पाट्टु' (नौका-गीत) बनाओ !·········इस समय कुचेल की कथा याद आती है; उसे ही यहाँ गाता हूँ। देवगण को भरपूर अमृत देने वाले भगवान् को जिस प्रकार सुदामा के तन्दुलों ने प्रसन्न किया था, उसी प्रकार अपने वाणी-गुण से सबका प्रीणन करनेवाले महाराजा—वञ्चिराज्य के वज्रपाणि, इन्द्र—को मेरा विनम्र गीत पसन्द आये, इसी के लिए मैं प्रार्थना करता हूँ।"

तिरुअनन्तपुरम् के श्री पद्मनाभ मन्दिर का मुख-मण्डप एक ही शिला से बना हुआ है। उसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है :

"एक शिला अपने-आप दौड़कर आई और अपने-आप मुख-मण्डप बन गया। इससे भी अधिक कोई राजा अपनी आज्ञा-शक्ति से करा सकता है ?"

और स्वयं मन्दिर के सम्बन्ध में उसकी भावना है :

"समस्त वर्णित वस्तु—सारा मन्दिर ऐसा दमक रहा है, जैसे स्वर्ण और रत्नों से बना हो। पापियों की आँखों में ही यह मिट्टी और पत्थर से बना दिखलाई पड़ेगा।"

भगवान् कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करती हुई कवि की वाणी भक्ति-सागर में गोते लगाने लगती है। वह कहता है :

"यह कपट-गोपाल धर्मपुत्र का कार्यपाल है, या इष्टदेव है, या दूत है, मेरी समझ में नहीं आता ! और अर्जुन का यह कौन है ? सखा है, गुरुदेव है या सूत है—यह भी मुझे ज्ञात नहीं।"

दूसरे स्थान पर :

"सुर, असुर और नर—सभी को पराजित करने वाले अर्जुन को जरा और 'नरा' (श्वेतकेश) से आक्रान्त नदी-पुत्र भीष्म ने युद्ध में हराया, यह देखकर सर्वचराचर प्रपंच के पति क्रुद्ध हो उठे। 'बूढ़े का यह खेल ठीक नहीं है' सोचते हुए उन्होंने अपनी आयुध ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा को तोड़ डाला और अपने हाथ में चक्र लेकर, सभी राजाओं के समक्ष, वे देवव्रत पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो गये।"

दारिद्रय के कष्टों से अत्यन्त पीड़ित होकर सुदामा की पत्नी ने अपने पति से कहा :

"चित्स्वरूप में मन को विलीन किये हे स्वामी ! चिरन्तन भगवान् की कृपा की एक बूँद हमारे ऊपर भी आये, ऐसा कुछ उपाय कीजिए।"

भक्त सुदामा तरह-तरह के तर्क-वितर्क करते हुए भगवान् के दर्शनों के लिए आतुर होकर द्वारिकाधीश के मन्दिर के सामने पहुँचे। त्रिभुवन-

पति ने अन्दर बैठे-बैठे ही अपने दारिद्र्य-मूर्ति, थके-माँदे बाल-सखा को देखा और :

"उस ब्राह्मण के दर्शन मिलने के आनन्द से अथवा उसकी दयनीयता देखने पर हृदय में उमड़े आवेग से, कौन जाने किस कारण से, भगवान् शौरि की आँखों में आँसू भर आये। धीर और वीर भगवान् कृष्ण क्या इसके पहले भी कभी रोये थे ?"

सुदामा सोच रहे थे कि भगवान् को स्मरण भी होगा या नहीं ? भगवान् बोले :

"कितने दिनों से मैं तुमसे मिलने के लिए व्यग्र हो रहा हूँ ! आज तुम स्वयं आ गये, यह मेरा अहोभाग्य है ! वहाँ जाकर स्नान करने योग्य महातीर्थ यहीं आ गया। कितना सौभाग्य है मेरा !"

अन्तत: भगवान् ने 'भाभी' के भेजे हुए तन्दुलों की पोटली स्वयं सुदामा से ले ली और उसमें से दो मुट्ठी तंदुल निकालकर वे खा गये। तीसरी मुट्ठी भरते देखकर श्री भगवती घबड़ाकर बोल उठीं :

"बस करो ! बस करो ! भगवन् ! अब मूल्य आँकने और उचित मूल्य देने की शक्ति मुझमें नहीं रही। जन्म से साथ रहने वाली मुझ को क्या आप भूल गये ? अब क्या मुझे इस ब्राह्मण की पत्नी की दासी बनाकर ही छोड़ेंगे ?"

भगवान् संभल गये। उन्होंने अपना हाथ खींचते हुए कहा :

"घबड़ाओ मत ! तुमने कहा सो ठीक किया; क्योंकि परम भक्तों के साथ बैठते समय मैं अपने-आपको भी भूल जाता हूँ। यह तुम नहीं जानतीं क्या ?"

उन्होंने सुदामा से कहा :

"एक ही मुट्ठी में पेट भर गया। मुझे जीवन में दो ही बार इतना सन्तोष हुआ है—एक बार जब पाण्डव-महिषी के पात्र में लगे हुए शाक का भोजन किया था और दूसरी बार आज, जब मैंने आपका यह पृथुक खाया है।"

सुदामा जब प्रभु के पास से विदा हुए तो प्रभु ने उन्हें प्रत्यक्ष रूप में कोई भेंट नहीं दी। इससे उस भगवद्भक्त को भी निराशा हुई। वे अनुतप्त होकर सोचने लगे :

"पतिव्रता को क्षुधाग्नि में होम करने वाले पापी को मुक्त होने पर भी मुक्ति कहाँ?"

अन्त में जब वे घर पहुँचे और उन्होंने वहाँ सब-कुछ बदला पाया तो पहले विश्वास नहीं हुआ, फिर चकित हुए और फिर प्रभु की प्रभुता का गुण-गान करते हुए धर्म-कर्म और भक्तिपूर्वक जीवन-यापन करने लगे :

"समृद्धि होने पर भगवान् पर उनकी और उनकी पत्नी की भक्ति दसगुनी बढ़ गई। अन्त में भगवान् ने उन्हें सायुज्य भी दिया। तब भी भगवान् पर उनका ऋण बहुत बाकी ही रहा।"

साहित्य और संगीत के गुणों से परिपूर्ण अनेक काव्य 'वञ्चिप्पाट्टु' की शैली में रचे गये, किन्तु जो स्थान "कुचेल-वृत्तं" को प्राप्त है, वह अनन्य-सुलभ है।

कुरत्तिप्पाट्टु नाम का एक दूसरे प्रकार का गीत है। हस्त-रेखा देखकर भविष्य बताने वाली एक जाति के लोग केरल-भर में इधर-उधर घूमते हुए मिलते हैं। इनको 'कुरवर' कहते हैं। ये किसी एक जगह ठहरते नहीं, घूमते रहते हैं। जो-कुछ इनका सामान होता है उसे साथ ही रखते हैं। इनकी स्त्रियों को 'कुरत्ति' कहा जाता है। उनके गाने की रीति को 'कुरत्तिप्पाट्टु' कहते हैं। इस रीति में, कई विद्वान् कवियों ने **"रामायणं कुरत्तिप्पाट्टु"**, **"भागवतं कुरत्तिप्पाट्टु"** आदि रचे हैं।

मण्णान जाति के लोग जो गाते हैं उसको 'मण्णानपाट्टु' और वेलन जाति के लोगों के गाने को 'वेलनपाट्टु' कहा जाता है। इस प्रकार तरह-तरह की गान-रीतियाँ केरल में प्रचलित हैं। इन सभी रीतियों में रचे हुए गीत भी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। इन सभी गीतों

का साहित्य में अपना-अपना स्थान भी है। विद्वद्विरचित और पुराणेतिहास कथाओं पर आधृत होने से जनता के हृदय में इनको शाश्वत स्थान प्राप्त है।

एक और विशेष शाखा स्मरणीय है, जिसको हम 'कीर्तन' नाम से जानते हैं। जैसे भजन संस्कृत में स्तोत्र-रत्नाकर और हिन्दी में भजनावली आदि में संग्रहीत हैं, इसी प्रकार के असंख्य 'कीर्तन' मलयालम् में उपलब्ध हैं। इनमें से किसी के भी रचयिता के नाम से हम परिचित नहीं हैं। सरल, स्निग्ध, सुन्दर भाषा में भगवान् कृष्ण की पादादिकेश-वर्णना, प्रभात-स्तुति, परब्रह्म-कीर्तन, शिव-स्तुति, गणपति-स्तुति आदि 'कीर्तन' सर्वत्र पाये जाते हैं। इनका माधुर्य और माहात्म्य तभी जाना जा सकता है जब ब्राह्ममुहूर्त में केरल के वन-कल्लोलिनीमय शान्त अन्तरिक्ष में ये गाने मुखरित होते हैं। इन गीतों में गहनतम उपनिषद्-तत्वों को स्पष्ट और सरल भाषा में गाया गया है। सभी कीर्तनों में कुछ-न-कुछ विशेषता तो है ही। एक-दो कीर्तनों का अनुवाद उदाहरण के लिए यहाँ दिया जाता है।

वेदान्त कीर्तन :

"विवेक छोड़कर एक क्षण भी किसी को व्यर्थ नहीं करना चाहिए। मृत्यु अवश्यंभावी है। इस तत्व को कभी भूलना नहीं चाहिए।"

"कई लोग तरह-तरह के उपाय देखते हैं। परन्तु यह कोई नहीं देखता कि अनिवार्यरूप से मृत्यु आ रही है। यदि देखते हैं तो भी मान लेते हैं—हाँ एक सौ वर्ष के अन्दर होगा।"

"तनिक सोचो, तो मुक्ति मनुष्य-जन्म में ही प्राप्त कर सकते हो; विषयसुख कृमि-कीटों के जन्म में भी हो सकता है।"

"किये हुए शुभ तथा अशुभ कर्म ही आगे सुख तथा दुःख के कारण बनते हैं। सुख और दुःख का अनुभव न किया हुआ कोई भी व्यक्ति इस संसार में है?"

"पहाड़ जैसी धन-राशि होने पर भी, इन्द्र के समान प्रभावशाली

होने पर भी, यमदूत जब आजायँगे तब एक शब्द बोलने का भी समय नहीं मिलेगा।"

"जैसे हम कूड़े में गिरकर घबड़ाते हैं वैसे ही जीव देह-बन्धन में पड़कर घबड़ाते हैं। उनकी विपत्तियों को दूर करने के लिए मुनिवरों के उपदेश मैं यहाँ बताऊंगा—

"मनुष्य का बन्धन उसके कर्म ही हैं। वे बन्धन टूटने के बाद ही मुक्ति हो सकती है। फलों को भोग लेने से वे बन्धन टूट जाते हैं। आगे इतना तो खयाल रखो, और प्रयत्न करो कि नये बन्धनों में न पड़ें।

"एक रहस्य सुनो! एक सीधा-सादा उपाय! अपना दुष्कृत तथा सुकृत सभी साष्टाँग प्रणाम करके मुकुन्द के चरणों में समर्पित कर दो। बस।

"हाथ में जो आता है उसीसे दिन चलाओ। अधिक की इच्छा मत करो। इन्द्र का पद यदि मिल जाय तो भी किस काम का? वह तुच्छ है। क्षुद्र है।

"भयानक तपस्या करके वरदान पाने की इच्छा करोगे, तो मुक्ति नहीं मिलेगी। परन्तु बिना किसी इच्छा के चरणों में प्रणाम करोगे तो अपने-आप मुक्त हो जाओगे।

"क्रोध में आकर किसी को शाप मत देना। याद रखो! समस्त चराचर भगवन्मय है। और चाहे सुख हो, चाहे दुःख, भोग का समय बीत जाने पर बराबर ही हो जाता है।

"किसी वस्तु में विशेष कौतुक नहीं है। मन से किसी वस्तु में लिप्तता नहीं है। भगवत्भक्तों के साथ भगवान के गुणगान करना और सुनना इसी में मन लगा रहे।

"करुणामय श्रीनारायण प्रसन्न होकर अपना सायुज्य देने ही वाले हैं, तो उन्हीं के चरणों में स्वयं क्यों न अर्पित हो? दस हजार बार जन्म और मरण के चक्र में घूमते रहने से क्या लाभ?" अतएव—

"बहुत से जन्मों के समार्जित और संचित कर्म सब-के-सब तुम्हारे

सम्मुख उपहार के रूप में रख दिये। अब मुझे न जन्म चाहिए, न मृत्यु चाहिए। भगवन्, तुम्हीं मेरी रक्षा करो !"

इस प्रकार के अनेकानेक कीर्तनों से कैरली अनुगृहीत है। बच्चों को सुलाने के लिए जो लोरियाँ गाई जाती हैं, उनमें भी अवतार-पुरुषों की कहानियों का साहित्यमय भाषा में वर्णन किया गया है। ऐसे गीत भी मलयालम् में बहुत उपलब्ध हैं। पण्डित कवियों ने इस प्रकार स्त्री-जनोचित गीतों को निर्मित करके शिशु-हृदयों को भी विकास का अवसर दिया है। देव-कथाओं के अतिरिक्त, साधारण काव्यमय गीत भी उपलब्ध हैं। केरल के बच्चे-बच्चे के मुँह से आज भी सुनाई देने वाले एक गीत की कुछ पंक्तियाँ सुनिए। माँ गाती है :

"यह मेरा वात्सल्य-विधान ! कोमल शिशु ! यह क्या है ? मोहन चन्द्र-शिशु है ? या कोमल कमल-पुष्प है ? या पुष्प में भरा मधु-विन्दु है ? अथवा पूर्ण चन्द्र से निकलकर आई चन्द्रिका है ? नई प्रवाल-लतिका तो नहीं ? या सारिका का कलकूजन है ? चंचलता से नाचता-झूमता मोर है यह, अथवा पंचम गान करने वाली कोयल ? कूदते-फाँदते खेलनेवाला हिरन का शिशु है, या शोभामय हंस-शिशु है ?"

सुन्दर उपमानों की कल्पना करते-करते, माँ के दिल में यह भी आता है :

"भगवान् की प्रसन्न होकर दान दी हुई निधि है, या परमेश्वरी सर्वमंगला देवी के हाथ की शुकी है ? या यह वात्सल्य-रूपी रत्न को सँभाल कर रखने के लिए निर्माण किया हुआ काँचन-पेटक है ?"

इस तरह व्यक्त होती है मातृ-हृदय की भावना। इस प्रकार मलयाल भाषा के गान-साहित्य में संगीत तथा साहित्य, भक्ति तथा विवेक, कला तथा काव्य सम्मिश्रित हैं, और उसमें जन-हृदयों को आनन्द-नृत्य कराने की समस्त सामग्री एकत्रित हुई दिखाई देती है। काव्य-तटिनी कल-कल करती, लहराती, धीरे-धीरे प्रवाहित होकर परिपुष्ट होती है, और आनेवाली मलयाल महाकाव्य शाखा का स्रोत बनती हुई आगे बढ़ती है।

: ११ :

महाकाव्य शाखा

कोलम्ब संवत् की दसवीं शताब्दी अथवा ईसा की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केरलीय इतिहास में एक परिवर्तन-युग का आरम्भ हुआ। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना से लोगों का ध्यान पश्चिमी जीवन-पद्धति और अंग्रेजी शिक्षा की ओर खिंचा और इसके अनिवार्य परिणामस्वरूप जनता की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भावनाएँ बदलने लगीं।

साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में संस्कृत के अध्ययन का स्थान अंग्रेजी के अध्ययन ने ले लिया और पहले जो लोग संस्कृत-पाण्डित्य को अनिवार्य समझते थे वे ही अब अंग्रेजी के अध्ययन और पश्चिमी रीति-रिवाजों के वशीभूत होने लगे। किन्तु कोई भी परिवर्तन केवल दोषमय अथवा केवल गुणमय नहीं होता। इसी नियम के अनुसार, आंग्ल-सम्पर्क से जहाँ हानियाँ हुईं वहाँ निश्चित लाभ भी हुए।

इस काल में केरल में सर्वप्रथम छापाखाने का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे समाचार-पत्रों का निकलना और पुस्तकों का बड़ी संख्या में प्रचार सम्भव हो सका। पश्चिमी ढंग की शालाओं की स्थापना से पुस्तकों की आवश्यकता बढ़ी और गद्य-रचनाओं की अभिवृद्धि होने लगी। इस काल को गद्य-शाखा की उत्पत्ति का काल कहना अनुचित न होगा। उपन्यासों, प्रबन्धों और लघु-लेखों आदि सभी का आरम्भ इस काल में हो गया। पद्य-शाखा में महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों और गद्य-पद्य-मिश्र शाखा में संगीत-नाटकों, प्रहसनों आदि की रचना की गई।

केरल वर्मा कोइत्तम्पुरान : इन तीनों शाखाओं के उपज्ञाता के रूप में केरलीय जनता की श्रद्धापुष्पाञ्जली से संपूज्य होने के अधिकारी 'केरल कालिदास' नाम से सुविख्यात 'केरल वर्मा कोइत्तम्पुरान्' हैं। संस्कृत नाटकों में उत्तम 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' का भाषा में अनुवाद करके मलयाल भाषा के नवीन नाटक-प्रस्थान के मार्ग-दर्शक बनने का श्रेय इन्हीं को है। सुन्दरतम सन्देशकाव्य 'मयूर सन्देशं' कैरली को इन्हीं महानुभाव की भेंट है। मलयालम् में प्रथम आख्यायिका रचयिता भी यही विद्वोत्तंस थे। विद्यालयों की आवश्यकता के अनुसार बालोपयोगी पुस्तकों की रचना और संकलन का काम भी 'केरल वर्मा तम्पुरान' के ही सव्यसाचित्य का फल था। इस प्रकार मलयाल भाषा को सर्वतोमुखी विकास प्रदान करने वाले इन महानुभाव का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद अपने साहित्याध्ययन में आगे बढ़ना उचित होगा।

सन् १८४५ की फरवरी में राजकुल में इस महान् साहित्य-सेवी का जन्म हुआ। ये बाल्यावस्था में ही काव्य, नाटक, अलंकारादि के अध्ययन में पारंगत हो गये। व्याकरण, तर्क, मीमांसा आदि में भी इन्होंने अगाध पाण्डित्य सम्पादित किया। उस समय तिरुविताकूर की महाराज्ञी लक्ष्मीभाई के साथ इनका विवाह हो गया। विवाह के बाद भी अध्ययन जारी ही रहा। ये अंग्रेजी, मराठी, हिन्दी, तमिल, तेलगु आदि भाषाओं में भी प्रवीण बने। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन' होना चाहिए, यह इनका आदर्श था। इसके पालन करने में ये सदा सावधान रहा करते थे। मृगया और व्यायाम इनके शौक थे। शिकार इन स्मरणीय पुरुष को कितना पसन्द था, यह इनकी कृति 'मृगया स्मरणा' से स्पष्ट होता है। अपनी बाल्यावस्था से ये साहित्य-प्रेमी थे। परन्तु इन्होंने अधिक कृतियाँ संस्कृत में ही रचीं। कई आट्टकथाएँ, संस्कृत पद्य, लघु काव्य आदि उस समय इन्होंने निर्मित किये।

जब विद्यालयों के लिए पाठ्यपुस्तक समिति बनी, तब उसके अध्यक्ष बनने योग्य ये ही पण्डितवर्य माने गये। उस समय मलयालम् में कहने

योग्य कोई गद्यकृति थी ही नहीं। पाठशाला में सातवीं-आठवीं कक्षा तक के योग्य गद्य-पद्य मिश्रित पाठमाला का निर्माण इन्होंने किया। इनकी रचनाओं का वर्णन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अपने प्रयत्नों से केरल वर्मा देव ने कैरली को विविध प्रकार की अनन्त सम्पत्ति स्वयं प्रदान की और सब प्रकार की प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। यह कहने में जरा भी संकोच नहीं कि आधुनिक-भाषा रूपी शकुन्तला के कण्व-महर्षि यही केरल कालिदास हैं।

इनका जीवन सदा ही कुसुमशय्या नहीं रहा। विधि की वक्रता का अनुभव इनको भी हुआ। एक समय किसी अज्ञात कारण से ये महाराजा की असन्तुष्टि के भाजन बने और परिणामस्वरूप कारागृह में भी बद्ध हुए। उस महाराजा की मृत्यु के बाद ही स्वदेश में आने का सौभाग्य इन्हें मिला। उसके बाद अन्त तक तिरुअनन्तपुरं में ही साहित्य-प्रयत्नों में निरत रहकर ये सितम्बर सन् १९१४ में परमगति को प्राप्त हुए।

इनका जीवन-काल केरल भाषा की विविध सरणियों में विकास का उपोद्घात है। अब तक हमने जो साहित्य-पर्यवेक्षण किया उसमें सर्वत्र पद्य-कृतियों का ही सन्दर्शन मिला है। अतएव इस पद्य-शाखा का आधुनिक अवस्था तक का अध्ययन कर लेने के बाद ही दूसरी शाखाओं की ओर बढ़ना अधिक सुसंगत होगा। गीतिवृत्त और विविध प्रकार के गीत वर्षा के बाद की हरियाली के समान साहित्य-क्षेत्र में बढ़ गये थे। इनमें प्रत्येक को पढ़ना और समझना इन गिने-चुने पृष्ठों में सम्भव नहीं है। इनमें से विशेष गणनार्ह कृतियों का एक देशावलोकन ही साध्य है।

'गर्भ-श्रीमान' रामवर्मा महाराजा : इस समय के साहित्य-महारथियों में अग्रगणनीय मातृगर्भ में रहते ही सिंहासनारूढ़ होने के कारण 'गर्भ-श्रीमान' नाम से सुविख्यात स्वातितिरुनाल रामवर्मा महाराजा हैं। यह नाम उत्तर भारत के विद्वानों के लिए भी अपरिचित नहीं होगा, क्योंकि हिन्दी भाषा में भी साहित्य-निर्माण करने का सामर्थ्य केरल के कवियों में इनको ही था।

सन् १८११ में तिरुवितांकूर के महाराजा का देहावसान हुआ। राजवंश में कोई पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था, इसलिए उनकी भागिनेयी श्री रानी लक्ष्मीबाई सिंहासनारूढ़ हुईं। ईश्वर की कृपा से सन् १८१३ में इस राजकुमार का जन्म हुआ। इनके दो साल भी पूर्ण होने के पहले ही इनकी माता का देहावसान हो गया और ये पिता तथा मौसी रानी पार्वतीबाई के रक्षाधिकार में पलने लगे। यौवनावस्था प्राप्त होने के पहले ही ये सभी राजोचित विषयों में पारंगत हो गये। इसके अतिरिक्त इन्होंने साहित्य में भी अपना स्थान बना लिया। हिन्दी, फारसी, मराठी आदि भाषाओं में भी ये इतने प्रवीण हो गये कि इनमें उत्तम कृतियों का निर्माण कर सकते थे। इनका कथन था—**"संगीत साहित्य रसाय लोके। कर्णौ द्वयौ कल्पितवान् विधाता।"** (अर्थात्—संगीत तथा साहित्य दोनों के रसानुभव के लिए ही ब्रह्मा ने मनुष्य को दो कर्ण दिये हैं)। इस विश्वास के अनुसार इन दोनों ललित कलाओं को इन्होंने परिलालित किया। बाल्यावस्था में ही अपनी काव्य-प्रतिभा के लिए प्रख्यात भी हो गये।

तिरुवितांकूर राजवंश शासन, प्रजा-वत्सलता और न्याय-निष्ठा के लिए अति विख्यात था। इस वंश के राजा अपने विश्राम के समय में ग्रन्थ-रचना करने में विनोद का अनुभव किया करते थे। काव्य-शास्त्र-विनोद सभी राजाओं के जीवन का अंग बन गया था। अतएव पण्डितों, कवियों और शास्त्रज्ञों को इनसे प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था। श्री मार्तण्डवर्मा महाराजा के साहित्य-प्रेम का उदाहरण हमें गत अध्याय में रामपुरत्तु वारियर के परिचय में मिल चुका है। उन्होंने भी अनेक आट्टकथाएँ और अन्य कविताएँ रची थीं। उनके अनन्तर-गामी श्री कार्तिक तिरुनाल महाराजा रामवर्मा भी साहित्यदेवी की पूजा श्रद्धा के साथ करते रहे। उनके बाद कुछ समय राज्य-विप्लवों का लीला-स्थल बन गया था। स्वातितिरुनाल महाराजा के जन्म के बाद ही वातावरण शान्त हुआ था। इन्होंने जब शासन का सूत्र हाथ में

लिया तब से सरस्वती की नूपुर-झंकार केरल में पुनः ध्वनित होने लगी।

संगीत तथा साहित्य के पोषण के लिए इन्होंने बहुत प्रयत्न किया। इनकी ज्ञान-सम्पत्ति और उदारता ने परदेशों से भी सर्वविध शास्त्रज्ञों को आकर्षित किया। इनकी राजसभा विद्वान्, कवि, गायक, परिहासक, इतिहासज्ञ, पुराणज्ञ, शास्त्रज्ञ, इन सातों अंगों से परिपूर्ण थी। इन्होंने सभासदों को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ स्वयं भी 'अनर्घ-सुन्दर रत्न-राशि' कैरली को प्रदान की। इनके समय में संगीत की विशेष जागृति हुई। इनके कीर्तन आज भी दक्षिण में प्रचलित हैं। 'कथाकालक्षेपं' अथवा 'हरिकथा' प्रथमतः केरल में इस महाराजा ने ही प्रारम्भ करवाई थी। उसके लिए 'कुचेलवृत्तं' और 'अजामिल मोक्षं' नामक दो कृतियाँ संस्कृत में स्वातितिरुनाल ने रचीं। संगीत तथा साहित्य के सुन्दर मिलन का उत्तम उदाहरण हैं ये दोनों कृतियाँ।

इनकी कृतियों के पाँच विभाग हैं। कीर्तन, पद, वर्ण, तिल्लानं तथा प्रबन्ध। इनमें कीर्तन भगवत्-स्तुति हैं, पद प्रौढ़ शृङ्गार-कृति हैं, और मन्दिरों में देवदासियों के नाट्य और नृत्य के लिए उपयुक्त हैं। संस्कृत, मलयालम् और तेलुगु तीनों भाषाओं में सौ से अधिक पद इन्होंने लिखे हैं। प्रबन्धों में उत्सव-प्रबन्ध तथा नवरात्रि-प्रबन्ध विशेष स्मरणीय हैं। इनकी छः-सात सौ से अधिक कविताएँ अभी उपलब्ध हैं। खोजने पर और कृतियाँ मिल जाने की आशा भी है। एक बात तो स्पष्ट है कि इनकी संस्कृत रचनाओं में, भाषा-कृतियों से ज्यादा अर्थ-गाम्भीर्य तथा सुन्दरता और प्रसन्नता पाई जाती है।

इनकी भाषा-कविता के उदाहरण के रूप में केरल में प्रचलित एक गीत का अनुवाद यहाँ दिया जाता है।

श्री पद्मनाभ की यात्रा जा रही है। दोनों ओर खड़ी दर्शनार्थी स्त्रियाँ आपस में कहती हैं :

"इस कनकमय कमल-वाहन में जाने वाले प्रकाशमय पुरुष कौन हैं ? वलमथन-इन्द्र अपने पूर्ण वैभव के साथ इस वसुधा में उतर आये

हैं ? नहीं; क्योंकि यदि इन्द्र हो तो उसकी हजार आँखें कहाँ गई ?"

"हे गजगमने ! तो फिर क्या यह शीतरश्मि चन्द्र है ? अरे ! यह चन्द्र हो तो इसका कलंक कहाँ गया ?"

"तो क्या ये गौरी के पति श्री शंकर भगवान् हैं ? मेरी सखी ! गौरीनायक होते तो तीसरी आँख न होती ?"

"अति तेजस्वी हैं ये। कहीं सूर्य भगवान् तो नहीं हैं ? नहीं, यदि सूर्य हों तो इतने शान्त कैसे ?"

"हे मधुवाणी ! तो क्या यह कुबेर हैं ? नहीं जी ! कुबेर तो विरूपी हैं। ये साक्षात् श्री पद्मनाभ स्वामी हैं।"

तिरुवितांकूर में आंग्ल-विद्यालय की स्थापना इन्हीं राजा ने की थी। ये पाश्चात्य शास्त्रों को पौरस्त्य शास्त्रों के साथ मिला-मिलाकर अध्ययन करने में सदा तत्पर रहते थे। तिरुअनन्तपुरं के प्रख्यात खगोल-दर्शन-मन्दिर और मृग-शाला की स्थापना इन्होंने ही करवाई थी। पहला सरकारी छापाखाना भी केरलीयों को इनकी ही देन है। इनकी राजसभा के सदस्य सर्वश्री विद्वान कोयित्तंपुरान्, इरयिम्मन तंपि कुञ्ञु-कृष्ण पुनुवाल् आदि पण्डित-श्रेष्ठ थे।

चेलप्परम्पु नम्पूरि और पून्तोट्टं नम्पूरि : इस काल के प्रख्यात कवियों में दो नम्पूतिरि थे। इन दोनों ने ही कुञ्चन् नम्पियार की भाषा-शैली का अवलम्बन करके कविता रची है। चेलप्परंपु आशु-कवि भी थे। कहा जाता है कि एक बार जब ये अपनी सस्यवाटिका में घूम रहे थे तब बेल में करेले दिखाई दिये। इन्होंने उन्हें तोड़ने को हाथ बढ़ाया तो साथ के मित्र ने कहा—"एक श्लोक बोलो, फिर तोड़ो।" इस पर इन्होंने फलों को सम्बोधित करके कहा :

"पीयूष के अहंकार को भी दबाने वाली कल्पवल्ली-तुल्य लता के शिशुगण ! धान की खेती के पार्श्व में बंधी हुई बाड़ के अलंकार बनकर सदा उत्सव मनाते, झूमते-झामते, आनन्दित रहने वाले तुम लोग, अब कृपा करके मेरे हाथ में आ जाओ।"

समय-समय पर इस प्रकार अनेक कविताएँ इन्होंने रची हैं। पून्तोट्ट नम्पूरि भी एक स्मरणीय साहित्यकार हुए हैं।

वेण्मरिण नम्पूरि—पिता-पुत्र : दो अन्य कवि वेण्मरिण नम्पूरि नाम से प्रसिद्ध पिता और पुत्र थे। कोचीन राज्य में वेल्लारप्पल्ली नाम का गांव इनका जन्मस्थान था। गृहनाम 'वेण्मरिण' था, इसलिए 'वेण्मरिण नम्पूरि' नाम से ही ये दोनों प्रसिद्ध हुए। सन् १८१७ से १८९१ तक पिता का जीवनकाल था, १८४४ से १८९३ तक पुत्र का। दोनों अपने कविता-चातुर्य के कारण विख्यात हुए। नम्पूरि ब्राह्मण स्वभाव-सिद्ध रसिकता और हास्य-सामर्थ्य के लिए प्रसिद्ध हैं। वेण्मरिण अच्छन् (पिता) नम्पूरि को एक क्षत्रिय पत्नी से दूसरा पुत्र भी था, जो कोटुङ्ङल्लूर कुञ्ञिक्कुट्टन तम्पुरान् के नाम से विख्यात हुआ। विद्वान् पिता तथा विद्वोत्तंस पुत्र—अतएव यदि यह सम्मेलन कैरली के लिए सौभाग्यवर्धक बना तो आश्चर्य क्या है?

केरल-अन्तरिक्ष में इस समय विद्वत्केसरी तथा रसिक-शिरोमरिण कविवर्यों की प्रचुर वृद्धि दिखाई देती है। इन कवियों में संस्कृतनिष्ठा छोड़कर मरिण-प्रवाल शैली का अवलम्बन करने की वृत्ति भी स्पष्ट है। समान धर्मित्व के कारण हो या किसी अन्य कारण से, इस समय केरल के कवि एक-दूसरे के मित्र, परस्पर-हितैषी और स्नेहशील रहे। इनका आपस का पत्र-व्यवहार ही भाषा के लिए एक बहुमूल्य भण्डार बन गया है। साधारणतः इन सबने श्लोक वृत्तों को स्वीकार किया है। संस्कृत वृत्तों में सुन्दर पदविन्यास के साथ शुद्ध भाषा श्लोक बनाने का चातुर्य इन सबको स्वतःसिद्ध था।

वेण्मरिण मकन (पुत्र) नम्पूरि अपने पिता के वात रोग के कारण दुःखी होकर अपने भाई कुञ्ञिक्कुट्टन् तम्पुरान् को लिखते हैं:

"पिता का रोग जाता नहीं है। देवगण तथा वैद्यगण भी स्नेह-शून्य होकर अब मानो अपने-आप हट गये हैं। इसी कारण पिता और हम सबका विषाद बढ़ रहा है। क्या उपाय है? मेरे राजकुमार! यह

सब दुर्योग ही है ।"

इस प्रकार समय-समय पर ये कविवर्य जो पत्र-व्यवहार करते थे, वह सब कविता में ही होता था। बहुत सा पत्र-व्यवहार 'वेण्मणि कृतिकल्' आदि काव्य-समाहारों में प्रकाशित हो चुका है।

अच्छन् नंपूरि (पिता) ने कीर्तन-श्लोक, कीर्तन-गान आदि भी रचे हैं। उनका प्रथम प्रयत्न इसी दिशा में दिखाई देता है और उसका परिणाम अति सुन्दर भी है। एक श्लोक का भाव है :

"मेघश्याम अपना खेल छोड़कर, हाथ में बाँसुरी लेकर भागते आते हैं और माँ की गोद में बैठकर जल्दी-जल्दी दूध पीने लगते हैं। तब दौड़-धूप और खेल के कारण थके हुए मुख-चन्द्र से निकलनेवाले स्वेद-बिन्दुओं को बार-बार पोंछने का सौभाग्य जिन हाथों को मिलता है, यशोदा के उन दोनों हाथों को मैं नमस्कार करता हूँ।"

इनके पुत्र 'वेण्मणि मकन' भी पिता के समान ही योग्य थे। शिक्षा में पीछे रहने पर भी भावना और प्रतिभा के कारण उन्होंने कवि-सम्राटों के बीच अपना स्थान बना लिया। बाल्यावस्था से ही 'तुल्लल' पढ़ने और देखने में इनको उत्साह था। काव्य-रचना में पिता और नटुवत्तु अच्छन् नंपूरि इनके गुरु थे। परन्तु सब गुणों को हरा देने वाला एक दुर्गुण—आलस्य—इनको जन्म-सिद्ध था। इससे गुरुजन और मित्रगण सभी तंग आ गये थे। इनके बारे में कोडुङ्ङल्लूर कोञ्ञुण्णित्तंपुरान् ने लिखा है :

"काल मेघ का रंग, रस-परिपूर्ण वाणी, बहुत धीरे-धीरे बोलना, बड़ी-बड़ी आँखें, भरपूर आलस्य और लापरवाही, दिशा-दिशा में फैली कीर्ति, कविता-सामर्थ्य आदि सद्गुणों का आगार यह छोटा-सा मनुष्य, देखो, रेंगता-जैसा आ रहा है—मानो सैर करने निकला हो।"

कवि स्वयं अपने काले रंग से ज़रा चिढ़े मालूम होते हैं, क्योंकि किसी समय उन्होंने कहा है :

"इस क्रूर कमलोद्भव (ब्रह्मा) ने मेरा देह बनाने के लिए जो

मिट्टी ली उसमें ज्यादा स्याही मिला ली। दुष्ट कहीं का !"

हास्यरस और परिहास, इन दोनों कवियों के, विशेषत: मकन् नंपूरि के, सहज गुण थे। परन्तु विद्वेष, पारुष्य अथवा ईर्ष्या इनके पास भी नहीं फटकी। यदि किसी ने इनके पूजनीय लोगों के विरुद्ध या स्वयं इनके ही विरुद्ध कुछ आक्षेप किया, तो मकन् नंपूरि का ब्रह्म-तेज देखने योग्य होता था। उनकी कविता-देवी आवेशपूर्वक आगे बढ़कर प्रतिद्वंद्वी के वक्षःस्थल को वाग्शरों से विदीर्ण करके ही शान्त होती। वहाँ इनके आलस्य या लापरवाही का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। इस प्रकार के अनेक कविता-शल्यों से कैरली परिभूषित भी हुई है। इनके सामने अखाड़े में उतरने वाला कोई भी समानकालीन कवि हाथ जोड़कर हार माने बिना कभी रह नहीं सका। परन्तु वह श्लोक-शकार वर्षा समाप्त होते ही इस शुद्ध ब्राह्मण का कालुष्य भी बाष्परूप होकर उड़ जाता था।

उत्सवादि देखने के लिए देश-देश में घूमना और कविता रचना, ये दोनों इनकी प्रवृत्तियाँ थीं। तरह-तरह के लोगों से मिलने और उनके स्वभाव, विचारादि जानने का इन्हें पूरा अवसर मिला था; अत: इनकी कविताओं में वर्णना का तन्मयत्व और सूक्ष्मावलोकन-वैचित्र्य खूब दिखाई देता है। परन्तु इनकी कविताओं का एक बड़ा भाग अश्लील होने से सभा-समक्ष लाने योग्य नहीं है। शृङ्गारिक कविता लिखना प्राय: सभी कवियों को रुचा है, परन्तु इनकी कविता तो एकान्त में पढ़ने में भी लज्जा उत्पन्न करती है। इसलिए उसका प्रचार आज भी गोपनीय वस्तुओं के समान गुप्त रूप से होता है। इनके एक सुप्रसिद्ध श्लोक में एक सुन्दरी का वर्णन है :

"मेघ-समूह के नीचे चन्द्रकला, उसके नीचे दो नील मीन, उनके बीच नीचे की ओर तिलका पुष्प, फिर बिम्बाफलों के बीच एक पंक्ति मोती, दोनों ओर दर्पण, एक झलक चाँदनी और पूर्ण चन्द्र बिम्ब ! नीचे उतरे तो दो मेरु पर्वत और अभ्र, जिसके नीचे कालसर्प जैसी सीढ़ी,

अन्त में कुआँ। आगे पुलिन और इन सबको सँभालने के लिए दो सुन्दर सुवर्ण-निर्मित स्तम्भ ! ये सब दो पल्लवों के ऊपर दिखाई देते हैं।"

नवीन सम्प्रदाय की कविता-रचना के उपज्ञाता के रूप में ये दोनों कवि स्मरणीय हैं। नवीन शैली की विशेषता थी—मणि-प्रवाल शुद्धि, स्निग्ध पद-प्रयोग, कर्णानन्दकारी सुगम-प्रासनिष्ठा और अर्थ-भंग या यति-भंग के बिना प्रवाहित होने वाला धारामयत्व आदि।

कठिन संस्कृत पदों में भाषा प्रत्यय आदि जोड़कर की गई 'कुमारि-येत्तान् प्रसविच्चु शेते (कुमारी को प्रसव करके सोई है)' जैसी रचनाओं में छांछ और धान मिलाने का जैसा असंबद्धत्व तथा वैरूप्य स्पष्ट है। इस प्रकार का वैरूप्य हटाकर सुन्दर, सरल संस्कृत और योग्य मलयाल पदों के विन्यास से, क्लिष्टतादि काव्य-दोषों को दूर करके कविता निर्माण करना ही 'मणि-प्रवाल-शुद्धि' का अर्थ है। अन्य गुण नाम से ही स्पष्ट हैं।

वेण्मणि-कृतियों में ये गुण स्वयंसिद्ध हैं। इन्हीं कवियों की प्रेरणा से भाषा में श्लोक-वृत्त और इस प्रकार की कविता का प्रचार बढ़ा है। प्राचीन काल में द्वितीयाक्षर प्रास को आवश्यक माना जाता था। सृग्धरा, शार्दूलविक्रीडित आदि लम्बे वृत्तों में केवल द्वितीयाक्षर प्रास से विशेष सुन्दरता नहीं आती; अतएव इन पिता-पुत्र ने औचित्यानुसार पदमध्य और पदान्त्यप्रास की कविताओं को प्रचलित किया। अनुप्रास का प्रयोग अन्य कवियों ने, विशेषतः कुञ्चन् नम्पियार ने किया ही था। उसको अपनी नवीन शैली में भी इन कवियों ने स्वीकार किया। इस प्रकार सरल, सुन्दर और प्रौढ़ तथा गम्भीर विषयों को वर्णन करने योग्य नवीन रीति में जब इन कवियों ने श्लोक-निर्माण शुरू किया तब सहृदयों के लिए यह भाषानिष्ठ संस्कृत शैली अधिक आह्लादकारक बन गई और इस रीति का अनुकरण करने वालों की संख्या बढ़ने लगी।

नटुवत्तु अच्छन् और नटुवत्तु मकन् नम्पूरि : इस नवीन जागृति के काल में भाषा-साहित्य उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा। इस समय के

प्रत्येक कवि का नाम भी यहाँ गिना देना सम्भव नहीं दीखता। परन्तु विशेष स्मरणीय कवियों में एक और पिता-पुत्र नट्टुवत्तु अच्छन् नम्पूरि तथा नट्टुवत्तु मकन नम्पूरि नाम से प्रसिद्ध हैं। जन्म से ही दरिद्र, बाल्य में ही पिता की मृत्यु, इत्यादि कष्टमय परिस्थितियों में पले अच्छन् नम्पूरि स्वप्रतिभा, प्रयत्नशीलता और ईश्वर-कृपा से धीरे-धीरे आगे बढ़े। कुञ्चन् नम्पियार के तुल्लल अवधानपूर्वक पढ़ने से उनकी कविता-रीति और हास-रसिकता इनकी प्रेरक बन गई। बाद में इन्हें कोचीन की राजधानी तृप्पूणित्तुरा में पहुँचने और वहाँ के विद्वोत्तंसों के शिष्य बनने का अवसर मिला। मध्यवयस्क होने पर कविता-वेदी में प्रतिष्ठा और नित्य-दारिद्रय से सामान्यरीत्या मुक्ति भी इनको मिल गई। इनकी कृतियों में अंबोपदेश, भगवत् स्तुति, भगवद्दूत नाटकं, शृंगेरी-यात्रा, अक्रूर-गोपालं नाटकं, अष्टमियात्रा आदि और अगणित श्लोक प्रसिद्ध हैं। संक्षेप में कहें तो चेल्परंपु नम्पूतिरि और पून्तोट्टु नम्पूतिरि ने मिलकर जिस भाषा-कविता-प्रस्थान का बीजावाप किया, उसे वेण्मणि अच्छन् तथा नट्टुवत्तुच्छन् ने मिलकर सिंचन-शुश्रूषा आदि करके बढ़ाया और उनके शिष्य, प्रशिष्य आदि अन्य कवियों ने उसको अपने प्रयत्नों द्वारा कुसुम-फलादि से परिपूर्ण बनाया।

इस मार्ग पर आगे बढ़ें तो हम देखेंगे कि केवल अलग-अलग श्लोकों या वर्णनों से ही सन्तुष्ट होने की मनोवृत्ति कैरली की नहीं रही। उसके पूजक अधिक महत्वाकांक्षी होने लगे। यदि संस्कृत में महाकाव्य बन सकता है तो भाषा में क्यों नहीं? यह प्रश्न कविकुञ्जरों के हृदय में अंकुरित हुआ। परिणाम यह निकला कि मलयाल भाषा में सर्वकाव्य-लक्षणों से पूर्ण महाकाव्यों की सृष्टि होने लगी।

अड़कत्तु पद्मनाभ कुरुप्पु : इस प्रकार सर्वगुणसंपन्न प्रथम महा-काव्य है—अड़कत्तु पद्मनाभ कुरुप्पु द्वारा विरचित 'रामचन्द्र विलासं'। एडुत्तच्छन् की अध्यात्म रामायण के आधार पर लिखे इस काव्य में केवल अस्थिपंजर के लिए ही ये कवि आदिकवि के अनुगृहीत हैं।

शब्द-योजना, सौष्ठव, प्रसाद-गुण, प्रसंगानुसार रस-विन्यास आदि इस काव्य के विशिष्ट गुण हैं। पाँचवें सर्ग में जब श्रीरामचन्द्र वन-यात्रा के लिए तैयार होते हैं और माता कौसल्या तथा सब पुरवासी अत्यन्त दुःखी होकर विलाप कर रहे हैं, तब सौमित्रि क्रोध, दुःख और निराशा से आक्रान्त होकर अग्रज से कहते हैं :

"बुढ़ापे के कारण पिताजी छोटी मा के षड्यन्त्रों के वशीभूत हैं और उनके मायातन्त्रों में पड़कर भ्रान्त हो गए हैं। इस अवस्था में कहे गये पूर्ण अर्थहीन, निस्सार वाग्जाल केवल उन्मत्तों की जल्पना जैसे हैं। उन्हें मानिये नहीं और वन में भी मत जाइये।"

"बिना माँगे महाराजा ने आपको यह राज्य दान दिया। अब दुःखी होकर ही उसे वापस ले रहे हैं। यह अन्याय है। आप अपने हक को छोड़े दे रहे हैं, तो यह भी दोष है। मन बदलकर जो अन्याय-वचन कहते हैं, वे मानने योग्य नहीं हैं; वन में मत जाइए।"

"जो ईश्वर ने दिया है उसे अपने प्रयत्नों से बढ़ाना ही मनुष्य-धर्म है। पुरुष को प्रयत्न से ही समृद्धि और वैभव मिलता है। अब इन सुन्दर पदों से वन के कण्टकाकीर्ण मार्गों में चलकर उन वन-वृक्षों को रक्त से सींचने की आज्ञा अनुसरणीय नहीं है; वन में मत जाइये।"

इस प्रकार दस-पन्द्रह श्लोकों से लक्ष्मण के हृदय की वेदना, पारुष्य तथा अमर्ष को अनश्वर सुवर्ण-लिपि में ग्रन्थित किया गया है।

जब कौसल्या भी साथ जाने को आग्रह करती हैं तो श्री रामचन्द्र का उत्तर सुनिये :

"प्रासाद के अन्तःस्थल से निकलकर मैं वन में जाता हूँ। छोटी माँ को वैधव्य का ज़रा भी भय नहीं है। उनके अविवेकमय वार्तालाप से बोध-भ्रष्ट होकर परवश हुए वृद्ध पिताजी को, मेरी माँ, धन्य-स्वरूपिणी! आप भी छोड़ देंगी तो यह अन्याय होगा।"

जब रावण सीता का हरण करने के लिए आता है और पर्णकुटी में देवी को निजस्वरूप दिखाकर उनसे अपनी पत्नी बनने का आग्रह

करता है, तब श्रीराम को छोड़ने का एक न्याय यह बताता है :

"बगुला पक्षी को कमलनाल किसलिए चाहिए ? अन्धे को दर्पण से क्या मतलब ? बिल्ली को रुई का क्या उपयोग ? इसी प्रकार संन्यासी को युवतियों की क्या आवश्यकता ?"

रावण से, कपट वेषधारी संन्यासी से, इस प्रकार प्रश्न कराते, पर्दे के पीछे खड़े-खड़े मुस्कुराते हुए कवि का मुख इस समय हमें दीख जाता है।

दूसरा महाकाव्य है "रुक्मांगद चरितं।" इसका इतिवृत्त एकादशी व्रत माहात्म्य का वर्णन करनेवाली एक पुराणकथा है। कवि का नाम 'पन्तलं केरलवर्मा राजा' है।

रुक्मांगद नाम के राजा अपनी पत्नी सन्ध्यावली और पुत्र चन्द्रांगद के साथ सकुशल अयोध्या में राज कर रहे हैं। एक दिन राजा पत्नी के साथ उद्यान में जाते हैं। वहाँ वसन्त ऋतु होने पर भी वृक्ष-लतादि को पुष्प-विरहित देखकर सन्ध्यावली दुखित होती है। अन्ततः पुष्पस्तेनों की खोज होती है और पता चलता है कि यह काम देवस्त्रियों का है। राजा स्वयं इस चोरी को देखकर चोरों को पकड़ना चाहते हैं। रात में उद्यान में छिपकर वे देवस्त्रियों का आना और फूल तोड़कर ले जाना देखते हैं और उनको रोकने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य के स्पर्श से देव-विमान की गति रुक जाती है। इस प्रकार उपद्रव करनेवाले राजा को देवियाँ शाप देने ही वाली हैं कि राजा अपने वाग्विलास से उनको शान्त करते हैं और विमान को चलाने का उपाय पूछते हैं। एकादशी-व्रत करने वाले किसी व्यक्ति के स्पर्श से ही विमान पूर्ववत् गतिमय होगा, यह जानकर राजा चारों दिशाओं में ऐसे व्यक्ति की खोज के लिए चरों को भेजते हैं। बहुत ढूँढ़ने पर एक चाण्डाली मिल जाती है, जिसने दारिद्रय और रोग के कारण एकादशी के दिन न खाया था न सोया था। उसको लाकर विमान के पास खड़ा किया जाता है। उसके स्पर्श-मात्र से विमान ऊपर उठने लगता है। तब आश्चर्य-स्तम्भित राजा को देवस्त्रियाँ बताती हैं कि भगवान् माहाविष्णु के ध्यान और उपासना का

ही यह परिणाम है ।

एकादशी व्रत का यह माहात्म्य राजा के हृदय में बैठ जाता है और वे अपने कुलगुरु वसिष्ठ के पास जाकर इसके बारे में परामर्श करके उनकी आज्ञा और सहायता से समस्त अयोध्या राज्य में एकादशी-व्रत का प्रचार करवाते हैं। अयोध्या नगरी में बूढ़े-बच्चे, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी एकादशी-व्रत का अनुष्ठान करने लगते हैं। राज्य में धर्म इतना बढ़ जाता है कि मृत्यु को वहाँ प्रवेश ही नहीं मिलता ।

ऐसे अवसर पर नारद यम-धाम में जाकर सारी बातें बता देते हैं और कहते हैं, जब तक रुक्मांगद के राज्य में एकादशी-व्रत चलेगा तब तक यह दशा बदल नहीं सकती । यह सुनकर राजा का व्रत भंग करने के लिए यम ब्रह्मा के पास जाते हैं और उनको सब बातें बताते हैं। ब्रह्मा एक मोहिनी की सृष्टि करके उसे भूमि पर भेजते हैं ।

अब राजा रुक्मांगद मृगया के लिए वन में जाते हैं। वहाँ मोहिनी को देखकर मोहित होते हैं और जब जो मांगे सो देने की प्रतिज्ञा करके उसे अपनी पत्नी बनाते हैं। कुछ समय वन में ही विहरण करने के बाद दोनों राज्य में आते हैं। रानी संध्यावली पतिव्रता पत्नी के कर्तव्य का पालन करती है। तीन वर्ष बीतने पर मोहिनी अपना काम करने का निश्चय करती है। एकादशी के दिन वह राजा के पास जाकर अपना वर माँगती है कि राजा एकादशी-व्रत का भंग करें। राजा, सन्ध्यावली आदि सभी उसको समझाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन वह अपनी हठ पर दृढ़ रहती है। अन्त में राजा के प्रार्थनानुसार व्रत-भंग के बदले दूसरा वर मांग लेती है। वह और भी भयानक है। मोहिनी कहती है कि उसके पति के प्रिय पुत्र का, माँ के सामने, शिरच्छेदन किया जाय तो व्रत भंग करने की आवश्यकता नहीं है। राजा मूर्छित होकर नीचे गिर पड़ते हैं। सन्ध्यावली पुत्र को लेकर वहाँ आती है और पति से प्रार्थना करती है कि वे पुत्र-वध करके भी सत्य का पालन करें, परन्तु एकादशी व्रत को भंग न करें। राजा भगवद्-पादारविन्दों में शरण

लेकर बालक पर प्रहार करने के लिए खड्ग उठाते ही हैं कि भगवान् प्रत्यक्ष होकर उनका हाथ पकड़ लेते हैं और उन्हें अपने गरुड़-वाहन पर साथ लेकर अन्तर्धान हो जाते हैं। इसके साथ काव्य भी पूर्ण हो जाता है।

'नगरार्णव शैलतुं चन्द्रार्कोदय वर्णन' आदि समस्त काव्य-लक्षणों से यह काव्य भी अलंकृत है। केरली का यह एक विशेष अलंकार है।

तीन महाकाव्य : इसी समय केरल भाषा में और तीन महाकाव्य रचे गए—'चित्रयोगं', 'उमाकेरलं' तथा 'केशवीयं'। इनके रचयिता यथाक्रम श्रीवल्लत्तोल नारायण मेनवन्, उल्लूर परमेश्वर अय्यर तथा के० सी० केशवपिल्लै हैं। तीनों साहित्य-क्षेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठ पराक्रमी हैं और इनकी कृतियाँ एक से बढ़कर एक हैं।

वल्लत्तोल-कृत 'चित्रयोगं' : 'चित्रयोगं' 'कथा-सरितसागर' की मन्दारवती-सुन्दरसेन की कथा के आधार पर नाम बदलकर लिखा हुआ महाकाव्य है। निषध राज्य के राजकुमार चन्द्रसेन और तारावली राजकुमारी का प्रणय और विविध विघ्नों के बाद अन्त में विवाह—यही इतिवृत्त है। काव्य-लक्षण-सम्पूर्ण यह महाकाव्य केरल के पाँच महाकाव्यों में अपना स्थान रखता है।

उल्लूर-कृत 'उमाकेरलं' : यह महाकवि उल्लूर परमेश्वर अय्यर के प्रतिभा-वैभव का परिणाम है। इसका इतिवृत्त तिरुवितांकूर राज्य के इतिहास के कुछ पृष्ठ हैं। इतिहास का शुष्क अस्थि-पंजर लेकर, भावना-रूपी प्राण भरकर, एक सुन्दर काव्य उपस्थित किया गया है। सत्रहवीं शताब्दी में वेणाट्टु (तिरुवितांकूर का दक्षिणी भाग इस नाम से प्रसिद्ध था) आदित्यवर्मा नाम के एक दुर्बल राजा के शासन में था। उस समय राज्य के अन्दर अन्तःछिद्र बहुत था।

'एट्टर योगम्' (साढ़े आठ का योग) नाम से आठ ब्राह्मणों और महाराजा की समिति राज्य-शासन की अधिकारी थी। उसकी मदद के लिए 'एट्टुवीट्टिल पिल्लमार' (आठ गृहों के गृहाधिपति) भी नियुक्त थे।

परन्तु उन आठ ब्राह्मणों और आठ गृहाधिपतियों ने मिलकर राजा और राजवंश का नाश करने का प्रयत्न किया। राजा दुर्वल और ऋजु बुद्धि के थे। उनके मन्त्री रविवर्मा तंपान नाम के एक क्षत्रिय थे। राजा की पुत्री कल्याणी और तंपान प्रेम-बद्ध हो गये और महाराजा की अनुमति उनको उपलब्ध हो गई। इस बीच एट्टुवीट्टिल् पिल्लमार ने आपस में सलाह करके राजमहल में आग लगा दी और तम्पान ने उसी समय आग लगाने वाले का वध कर डाला। परन्तु पिल्लमार ने चातुर्य के साथ वह अपराध तम्पान के ऊपर आरोपित किया। महाराजा ने इस स्वयंस्पष्ट दोष के लिए अपने विश्वस्त मन्त्री को देश से निकाल दिया। शत्रु जो चाहा सो ही हुआ। इसके बाद शीघ्र ही राजा को नैवेद्य में विष मिलाकर दिया गया और राजा की मृत्यु हो गई। कोई पुरुष उत्तराधिकारी न होने से आदित्यवर्मा की बहन उमयम्मरानी को राज्य शासन का भार अपने ऊपर लेना पड़ा। आठ गृहस्थों में से एक रामनामठतिल् पिल्ला नाम के व्यक्ति ने रानी के छः पुत्रों में से छोटे पाँच को कृपा-लेश बिना एक तालाब में डुबाकर मार डाला। ईश्वर की कृपा से ही ज्येष्ठ पुत्र बच गया था। इसी बीच उन दुष्टों में से दूसरा कल्याणी को बलात् लेकर भागने लगा। तिरुवितांकूर की इस दयनीयावस्था में उसे हड़प लेने का उपयुक्त अवसर देखकर एक मुगल-सरदार ने उस पर आक्रमण कर दिया। उस सरदार ने उस दुष्ट को मारकर कल्याणी का अपहरण किया। महाराजा की मृत्यु के बाद रानी के इच्छानुसार रविवर्मन तम्पान लौट कर आया, और उसने मलाबार प्रान्त स्थित कोट्टयं देश के राजा केरलवर्मा को मदद के लिए आमन्त्रित किया। उनकी मदद से आक्रमणकारी मुगल सरदार और उसकी सेना को भगा दिया गया। देश का अन्तःछिद्र भी शान्त हुआ। कल्याणी ने अपना चारित्र्य-भंग करने के लिए उद्युक्त मुगल सरदार को अन्तकपुर का अतिथि बना दिया। राज्य के दुष्टों का समूल नाश कर दिया गया। रविवर्मा तम्पान के साथ कल्याणी का विवाह

हो गया। इसी बीच मन्त्री की सलाह के अनुसार रानी ने अंग्रेजों को 'अञ्चुतङ्ङ' नाम के स्थल में एक किला बनाने की अनुमति भी दी।

इनमें उमयम्मरानी के कार्य, आदित्य वर्मा तथा उनके बालक के वध और अंग्रेजों को किला बना लेने की अनुमति ऐतिहासिक है। बाकी सारा कवि-कल्पना का इन्द्रजाल है। काव्य सुन्दर और प्रशंसार्ह है। महाकाव्यों में इसको स्थान प्राप्त है। लेकिन कवि की अनन्तर कविताओं में प्रकट प्रसन्नता और प्रवाह-माधुर्य इसमें नहीं दिखाई देता।

केशव पिल्ले-कृत 'केशवीयं' : के० सी० केशव पिल्ले के 'केशवीयं' ने मलयाल महाकाव्यों में अग्रिम स्थान प्राप्त कर लिया है। 'केशव' कवि द्वारा निर्मित तथा केशव के चरित्र पर आधारित काव्य होने से यह 'केशवीयं' यथार्थनामा तो है ही। इसका इतिवृत्त भागवत में वर्णित स्यमन्तक मणि की कहानी है। स्यमन्तक की कथा आट्टकथा, तुल्लल-कथा, कैकोट्टि कलिप्पाट्टु, नाटकं आदि अनेक रूपों में केरलीय सहृदयों के सामने आ चुकी थी। परन्तु जब यह केशवपिल्ले की लेखनी से महाकाव्य के रूप में भाषा-योषा का अलंकार बनी, तब इसकी शोभा और इसका मूल्य कुछ निराला ही मालूम होने लगा।

कथा में कवि ने कोई परिवर्तन नहीं किया। परन्तु व्यवस्थित रूप में हमारे सामने प्रस्तुत की गई इस रचना का रूप, रंग और सौरभ्य अनुभवैकवेद्य है।

स्यमंतक-कथा भामानिवेदनं, मणिप्रार्थना, मृगयानुवर्णनं, मणि-भ्रंशं, अपवादचिन्तनं; वनगमनं, प्रसेनदेह-दर्शनं; मणिदर्शनं, द्वन्द-युद्धं, पौर-विलापं, प्रत्यागमनं और भामा-ग्रहणं—इस प्रकार बारह सर्गों में विभाजित की गई है। प्रत्येक सर्ग के नाम से ही उसका अन्तर्गत कथा-भाग स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत और भाषा के समान पण्डित, अनेक काव्य नाटकादि लिखकर परिपक्व हुए भावना-सम्पन्न कवि का अन्तिम काव्य है 'केशवीयं'—इस तत्व का स्मरण करने पर 'केशवीयं' के अद्वितीयत्व के बारे में आश्चर्य होने का कारण नहीं दीखता।

दो नये प्रस्थान और 'केशवीयं': इस काव्य का निर्माण-काल भाषा-साहित्य में एक परिवर्तन युग भी था। इस समय के साहितीदेवी के आराधकों की संख्या गिन लेना सम्भव नहीं है। "परस्पर यशः पुरोभागिनः पण्डिताः"—पण्डित लोग परस्पर मात्सर्य वाले होते ही हैं; अतएव कालिदास के इस वचन का प्रमाण केरल में भी प्रत्यक्ष हुआ। पण्डितों के बीच काव्य-रचना-शैली, साहित्य-लक्षण आदि पण्डितोचित विषयों पर वाद-प्रतिवाद साधारण बात होने लगी। 'द्वितीयाक्षरप्रास' आवश्यक है या नहीं, इसी प्रश्न को लेकर केरल के सभी पण्डितों ने दो पक्षों में विभाजित होकर वाग्युद्ध शुरू कर दिया। इसके मुख्य नेता केरल कालिदास नाम से सुविख्यात केरल वर्मा वलिय कोयित्तंपुरान और उनके प्रिय भागिनेय तथा शिष्य श्री राजराजवर्मा कोयित्तं-पुरान थे। इन दोनों के आदर्शों के अनुसार कविता-रचना में भी दो प्रस्थान (१) केरल वर्मा प्रस्थान तथा (२) राजराजवर्मा-प्रस्थान शुरू हो गये। पहले प्रस्थान का आदर्श था कि प्राचीन कविता-रीति ही सर्वश्रेष्ठ है। राजराजवर्मा के आदर्शानुसार कुछ परिवर्तन आवश्यक था। राजराजवर्मा-प्रस्थान के मुख्य लक्षण थे :

१. काव्यों में द्वितीयाक्षर प्रास को इतर प्रासों से अधिक प्राधान्य देने की आवश्यकता नहीं है।

२. कथा-मर्म की प्रथम गणनीयता अन्त तक निभाना चाहिए।

३. परिणाम-गुप्तता महाकाव्यों में आवश्यक है।

४. पात्र-रचना स्वाभाविक होनी चाहिए।

५. अ-प्रासंगिक वस्तुओं की वर्णना से कथा का रस भंग नहीं होने देना चाहिए, अर्थात् महाकाव्य के लक्षण को पूर्ण करने के लिए अनावश्यक वस्तुओं को खींचतान कर लाना और काव्य को दीर्घ बनाना उचित नहीं है।

६. शब्दालंकारों से अर्थालंकारों को मुख्यता देनी चाहिए।

७. हृदयंगम सादृश्य अथवा प्रयोजन न हो तो उपमा नहीं देनी

चाहिए।

८. केवल वर्णन करने के लिए वर्णन नहीं करना चाहिए।

६. औचित्य-भंग कभी होने नहीं देना चाहिए।

१०. अलंकार भी अमित न हों।

इन नियमों से ही समझ में आ जाता है कि उन दिनों साहित्य-क्षेत्र की अवस्था क्या थी। कविता-रचना इतनी बढ़ गई थी कि पत्रों के पते भी श्लोकों में लिखे जाने लगे थे। एक कवि व्यथित और संतप्त होकर ईश्वर को पुकार उठे :

"ऐसे तुच्छ श्लोक बनाने वाले दुष्ट-संघ नष्ट हो जायँ !"

उपवन में फुल्ल-प्रसूनमय वृक्ष-लतादि के साथ-साथ छत्रपादप-समूह का भी बढ़ जाना असम्भव नहीं है। ऐसा जब होता है तब उन नाश-कारियों का नाश करना भी आवश्यक हो जाता है।

तो, 'केशवीयं' राजराजवर्मा प्रस्थान के समस्त नियमों का सनिष्कर्ष अनुसरण करके निर्मित किया हुआ काव्य है। श्रीकृष्ण जब सत्राजित से मणि मांगते हैं, तब के उनके विचार, सत्राजित तथा प्रसेनजित का संभाषण, प्रसेन के मृत शरीर का वर्णन, उसको देखने के बाद वर्णित तत्व-चिन्ता, श्रीकृष्ण और जाम्बवान के बीच युद्ध आदि अनेक प्रसंग हृदयाकर्षक हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह काल केरल भाषा का सुवर्णयुग ही है। केवल संस्कृत प्रभाव में ही बँधी हुई कैरली का अब पाश्चात्य भाषाओं—विशेषत: अंग्रेजी—से सम्पर्क होने लगा। अब उसकी साहित्य-शाखाओं का अनुकरण करने का लोभ भी केरलीय विद्वानों को हुआ। साथ-साथ संस्कृत के दृढ़ बन्धन से मुक्त होने की इच्छा भी बढ़ी। परिणामस्वरूप साहित्य-क्षेत्र में सर्वतोमुखी विकास होने लगा। एक ओर संस्कृत वृत्त और संस्कृत शास्त्रों के नियमानुसार काव्य, महाकाव्य सन्देश-कव्य, आदि की रचनाएँ हुईं, तो दूसरी ओर खण्ड-काव्य, खण्ड-कथा, उपन्यास, प्रहसन आदि की संख्या भी बढ़ने लगी।

महाकाव्य शाखा का एक एकदेशाध्ययन इस अध्याय में किया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यही पाँच महाकाव्य निर्मित हुए। 'पाण्डवोदयं', 'विजयोदयं','आंग्ल साम्राज्यंभाषा', 'भाषा रघुवंशं', 'वञ्चीश-वंशं' आदि अनेक महाकाव्य इसी समय में विरचित हुए। ये सभी प्रसन्नता, माधुर्य आदि साहित्य गुणों से पूर्ण भी हैं।

महाकाव्यों के साथ-साथ ही खण्ड-काव्यों की भी वृद्धि हुई। इसका भी उपज्ञातृत्व केरल कालिदास और उनकी शिष्य-परम्परा को ही प्राप्त है।

: १२ :

आधुनिक कवि-परम्परा—१

सन्देशकाव्य, विलापकाव्य तथा खण्डकाव्य

महामान्य श्री केरलवर्मा वलिय कोयित्तम्पुरान के चरित्र और उनकी साहित्य-साधना का एकदेश ज्ञान हमने ग्यारहवें अध्याय में पा लिया है। अब प्रत्येक शाखा के विकास में उनके स्थान को जान लेने का प्रयत्न करेंगे। संस्कृत में सन्देश-काव्यों का मुकुटोदाहरण कालिदास का 'मेघदूत' है। प्राचीन काल में एक केरलीय कवि ने भी 'उण्णिनीलि सन्देशं' नाम के मणि-प्रवाल काव्य की रचना की थी, जिसका अध्ययन पूर्व-अध्यायों में किया जा चुका है। उसके उपरान्त अठारहवीं शताब्दी तक इस काव्य-शाखा में उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं दिखाई देता।

'केरल-कालिदास' का काव्य : केरलवर्मा तम्पुरान तिरुवितांकूर के तत्कालीन महाराजा के भागिनेयी-पति तथा उनके प्रियपात्र थे। किन्तु किसी कारण से महाराजा केरलवर्मदेव से रुष्ट हो गये। उन्होंने भागिनेयी की अवस्था का भी विचार किये बिना उसके प्राणाधिक प्रिय को कारागार में डाल दिया। सब तरह के प्रयत्न करने पर भी महाराजा उनको मुक्त करने को तैयार नहीं हुए। हितैषियों के उपदेशानुसार स्मर्यपुरुष ने 'क्षमापण-सहस्रं' (क्षमापण करते हुए हजार श्लोक) लिखकर भेजा। जब महाराजा ने आर्द्रता नहीं दिखाई, तब 'यम प्रणामशतकं' भी रचा। परन्तु महाराजा प्रस्तरवत् कठोर ही बने रहे। कुछ दिन बाद बन्धनस्थ को तिरुअनन्तपुरम् से हरिप्पाट्टु राज-मन्दिर में नजरबन्द किया गया। यह दारुण घटना कैरली के लिए

अनुग्रह ही बनी। उन्होंने अपनी प्राणप्रेष्ठ प्रणयिनी को एक 'सन्देश' भेजने का निर्णय किया। सन्देश का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ :

श्रीमान् वञ्चिक्षितिपति भुजङ्गर्क्षजन् लक्ष्मियाकुं
सामान्यं विट्टॆड्डु मुरुगुणाभोगयां भागिनेयीं।
प्रेमावासप्रियतमवियोगत्तिनालार्तयाक्कि—
सीमातीते कदनजलधौ केरलं तल्लिविट्टान्।

अर्थात्—भुजंग नक्षत्र में जात, श्रीमान् वञ्चिराजा ने अपनी सर्वगुण सम्पन्न, प्रेममयी भागिनेयी को प्रेमनिधि पति के वियोग से व्याकुल बनाकर केरल को (केरल राज्य और केरलवर्मा को) सीमातीत दुःख-सागर में निमग्न कर दिया।"

तदनन्तर कवि ने अपनी स्थिति का वर्णन किया। विरहातुर होकर कवि सिंहालयेश्वर (हरिप्पाट्टु मन्दिर के अधिष्ठाता) के मन्दिर में पहुँच कर भगवत्-प्रार्थना करते हैं और उस समय ध्वजाग्र में स्कन्द के वाहन नीलकण्ठ को देखते हैं। इसी 'मयूर' को प्रियतमा के पास सन्देश लेकर भेजने का निश्चय करके कवि उसको सम्बोधित करके बोलने लगते हैं। सिंहालयपुरं से तिरुअनन्तपुरं तक का मार्ग-वर्णन ललित-सुन्दर-कान्त पदावली से करते हैं। उसे अनन्तपुरं पहुँचकर श्रीपद्मनाभ के मन्दिर में जाने और वहाँ दर्शन के लिए आने वाली रानी लक्ष्मीबाई की प्रतीक्षा करने का आदेश देते हैं। जब वे आएँ तब उन्हें पहचानने का लक्षण बताकर सन्देश भी देते हैं। और 'शिवास्ते पन्थानः सन्तु' इस आशय की आशंसा के साथ काव्य पूर्ण होता है।

संस्कृत-सम्मिश्र भाषा और शुद्ध मलयाल भाषा का विलास इस काव्य में खूब ही दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, कवि मयूर से कहते हैं:

पालिप्पानाय् भुवनमखिलं भूतले जातनाया—
कालिक्कूट्टं कलितकुतुकं कात्त कण्णन्नु भक्त्या।
पीलिक्कोलोन्नटिमलरिल् नी काल्चयाय् वेच्चुवेन्नाल्
मौलिकेट्टिल् तिरुकुमतिने तीर्चयाय् भक्तदासन्॥

अर्थात्—जब तुम अनन्तपुर में प्रवेश करके श्री पद्मनाभ का दर्शन करोगे तब—अखिल भुवनों को पालन करने के लिए भूतल में जन्म लेकर गोवृषादि का भी पालन करने वाले कान्हा के चरणों में यदि तुम अपने पंखों में से एक दल भक्तिपूर्वक समर्पित करोगे तो निश्चय ही वे भक्तदास उसे अपने चिकुरबन्धन का अलंकार बनायेंगे।

एक अन्य स्थान पर कहते हैं:

ओमल्पिच्चिच्चेडि मरुल्लोलिता वर्षबिन्दु—
स्तोमक्लिन्ना पुतुमलर् पतुक्के स्फुडिप्पिच्चिडुंपोल्
प्रेमक्रोधक्षुभित भवती बाष्पधाराविलांगी
श्रीमन्मन्दस्मितसुमुखियाकुन्नतोर्मिच्चिडुन्नेन्

अर्थात्—जब कुन्दलता मन्दमारुत से हिलती है और उस पर वर्षा-बिन्दु झलकता है, जब मैं उसमें नव पुष्पों को खिले हुए देखता हूँ तब प्रेम-कलह से बाष्पवर्षा करती हुई भवती के मुख पर धीरे-धीरे मोहन मुस्कुराहट आ जाने का वह दृश्य मेरी स्मृति में आ जाता है।

मयूर से एक समय कवि प्रार्थना करते हैं:

मल्लीजाति प्रभृति कुसुमस्मेरमायुल्लसिक्कुं
सल्लीलाभिः किसलयकरं कोण्डु निन्ने तलोडुं।
वल्लीनां नी परिचयरसं पूण्डु कौतूहलत्ता—
लुल्लीढात्मा चिरतरमिरुन्नड्ड्मान्तिच्चिडोल्ले॥

अर्थात्—मल्लिका, जाति आदि कुसुमों द्वारा हँसने वाली लताएँ लीला-रस के साथ अपने किसलय रूपी करों को तुम्हारे ऊपर आलोड़ित करेंगी। उस परिचय-रस में मग्न होकर, आत्म-विस्मृत होकर, तुम उपवनों में दीर्घकाल बैठकर विलम्ब न करना।

प्रौढ़ गम्भीर, नवनवोन्मेषशाली अलंकार राशि से अलंकृत यह काव्य सहृदयों के लिए एक नये लोक की ही सृष्टि कर देता है। निरूपकों का अभिप्राय है कि यह सन्देश कविकुलगुरु श्री कालिदास के 'मेघदूत' से भी एक पग आगे बढ़ गया है। लोगों का गतानुगतिकत्व

तो प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में भी यह नियम प्रमाणित ही हुआ। 'मयूर-सन्देशं' के अनुगामी होकर 'काक-सन्देशं', 'शुक-सन्देशं', 'चकोर-सन्देशं', 'भ्रमर-सन्देशं' आदि अनेक 'सन्देश-काव्य' उत्पन्न हुए। परन्तु कालिदास के बारे में जैसा कहा गया वैसा ही इस 'केरल-कालिदास' की कविता के लिए भी कहना होगा कि : "**अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावात्। अनामिका सार्थवती बभूव।**" (अर्थात्—आज तक उस कवि के समान अन्य कवि न होने से अनामिका सार्थनामिका हो गई)।

सुब्रह्मण्यन् पोट्टी : एक दूसरी शाखा है विलाप-काव्य। इस शाखा में प्रथम प्रयत्न करने वाले सी० एस० सुब्रह्मण्यन् पोट्टी थे। पहले ये एक प्राथमिक विद्यालय में अध्यापक थे। पाठशाला पर्यवेक्षण के लिए गये हुए निरीक्षक महोदय के कुछ अवज्ञा-सूचक वाक्य बोलने से इस युवाध्यापक का स्वाभिमान जाग्रत हो गया। आंग्ल कलाशाला (कॉलेज) में अध्ययन शुरू करके एम० ए० की उपाधि प्राप्त करने तक उनको शान्ति नहीं मिली। इसीसे कवि किस श्रेणी का पुरुष होगा इसका अनुमान हो जाता है। अनेकानेक गद्य तथा पद्य कृतियों के रचयिता के रूप में ये केरलीयों के परिचित हैं।

उनकी एकमात्र पुत्री शैशवावस्था में ही परलोकवासिनी हो गई। उसी सन्तान की स्मृति में 'एक विलाप' लिखा गया। इस विलाप ने अनेक विलापों का मार्ग प्रशस्त किया।

नालपाट्टु नारायण मेनवन् : विलाप-काव्यों में नालपाट्टु नारायण मेनवन् का 'कण्णुनीर्तुल्लि' और आशान के 'विलाप' तथा 'प्ररोदनं' आदि काव्य-तल्लज विशेष स्मरणीय हैं।

'कण्णुनीर्तुल्लि' अथवा 'अश्रुविन्दु' एक अत्युत्कृष्ट खण्डकाव्य है। इसके कवि श्री नालपाट्टु नारायण मेनवन् स्वभाव से ही तत्त्व-चिन्तक रहे हैं। 'पौरस्त्य दीपं', 'पुलकांकुरं', 'सुलोचना', 'सापत्न्यं', 'पावङ्ङल्' आदि अनेक कृतियों के रचयिता होने पर भी इस कवि की प्रतिष्ठा का मुख्य हेतु 'कण्णुनीर्तुल्लि' ही है। अपनी सहधर्मचारिणी, प्राणप्रिया

की अकाल मृत्यु से विह्वल होकर कवि चिन्ता करने लग जाते हैं। इस बारे में काव्य के आमुख लेखक कहते हैं—"आँख उठाके देखो! कितना हृदय-विदारक दृश्य! कवि तत्त्वचिन्तन के उच्च शिखर पर बैठकर अपने विदीर्ण हृदय पर पट्टी बाँधने का प्रयत्न कर रहा है। बाँधना आरम्भ करते ही रक्त बह चला। बार-बार धार निकल पड़ती है। गिरि-शिखर पर तपस्या करता हुआ तत्त्वज्ञान उसके चारों ओर आ जाता है। परन्तु उसकी सान्त्वनाओं से उस हृदय का रक्त-प्रवाह बन्द नहीं होता। पट्टी-बन्धन शिथिल होने लगता है।"

कवि ने अपने चिन्ताकणों को लेकर, उन्हें आंसुओं से जोड़-जोड़कर एक दुर्ग बनाया। परन्तु उत्तर क्षण में ही उसको किसी ने तोड़ डाला। कवि सोचता है, "प्रपञ्च! तेरी सदा यही दशा होती है!"

बाह्य प्रकृति गुण-दोषादि से परे है। प्रेक्षक की तत्कालीन मनःस्थिति के अनुसार वह सुन्दर या विरूप, आतंकजनक या आनन्दमय बन जाती है। 'अश्रुविन्दु' इस काव्य-रस-तत्व को पूर्णतया प्रमाणित करता है। उसका एक-एक श्लोक चिन्ताशीलता का द्योतक भी है। संसार सदा ही सृष्टि, स्थिति, संहाररूपक है। समुद्र-तट की रेत को इकट्ठा करके मरुत ढेर बनाता है। उत्तर क्षण में उसे उड़ाकर विस्तृत भूमि में मिला देता है। अम्बर के कोने में किसी ने गुलाबी रंग लगाया और तुरन्त ही उसके ऊपर कोयला भी पोत दिया। यह क्यों? इस 'क्यों' का उत्तर देने की शक्ति किसमें है? कवि कहता है:

"इस विचित्र जड़ वृक्ष पर एक सुन्दर वल्लिका में मोहन पुष्प विकसित हुआ, तो सारा जगत् ही मानो वसन्तलक्ष्मी का आलिंगन-युक्त उपवन बन गया।"

"विवाहोचित वेषभूषा पहन कर वृक्ष वृन्द ने भी मर्मरगान किया और वे शाखारूपी हाथों को मिलाकर, पंक्ति बाँधकर, तरह-तरह के नृत्य करने लगे।"

यह दृश्य तब का था जब चिरकाल की आशा और प्रतीक्षा के बाद प्रेमी ने प्रेयसी को प्राप्त किया। सुख और दुःख के लिए परस्पर आश्रय बनकर दोनों एक हो गये। उस अचिन्त्य और अनिर्वचनीय आनन्द को सोचकर कवि कहता है :

"उस समय प्रत्येक क्षण अपूर्व सौख्य लेकर हमारा सेवक बनकर आया करता था। पुराणों में प्रशंसित वैकुण्ठ भी पाने की इच्छा तब किसको थी ?"

परन्तु जब वह सुन्दर संध्या निराशा-निशीथिनी में विलीन हो गई और मनोरथ-सौध छिन्न-भिन्न हो गया और पति का आशा-कुसुम सूखकर पञ्चतत्वों में विलीन हो चुका तब उसी प्रकृति की अवस्था कैसी हुई ? देखिए :

"पत्ता भी नहीं हिलता। वृक्ष-समूह मानो स्तम्भित हो गये हैं। क्या असामान्य निष्ठुरता के कारण लोक-हृदय का रक्त ही जम गया है ?"

"आकाश ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई श्मशान-भूमि हो, जिसपर सर्वत्र राख छाई हो; काले मेघ कोयले के टुकड़ों के समान और नक्षत्र-गण अस्थि-खण्डों के समान बिखरे हुए हों !"

जो एक समय मणिमाला के समान-प्रसन्नता वितरण करने वाला था, वही नक्षत्र-जाल इस यातना में कवि को अस्थि-खण्डों की याद दिलाता है। मृत्यु के लिए जन्म लेने वाला मर्त्य, जब मनन करने वाला मनुष्य बन जाता है, तब हृदय में लहरें पैदा करने वाले दुःखादि के अनुभव से विह्वल होकर तरह-तरह के प्रश्न कर उठता है :

"व्यथारूपी अन्धकार का निर्माण करने वाला विनोद कहाँ ? सदा आनन्द-सुधा-रस की वर्षा करनेवाला सुधांशु कहाँ ? तृण तथा नक्षत्र को एक ही हाथ झूला झुलाता जा रहा है ? ईश्वर है कि नहीं ? है तो वह पत्थर है या करुणामय है ?"

ऐसे ही समय श्रद्धा रूपी लगाम को छोड़कर नास्तिकता की तरफ

हृदय मुड़ने लगता है। परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर भी उसी हृदय-मंथन द्वारा क्षीराब्धि से अमृत जैसा निकल पड़ता है :

"उस ब्रह्माण्ड के घूमने का मार्ग अनन्त, अज्ञात तथा अवर्णनीय है। इस प्रकार अज्ञात मार्ग में घूमते हुए ब्रह्माण्ड के किसी कोने में बैठकर देखने वाला छोटा सा मनुष्य क्या जान सकता है? क्या देख सकता है?"

तो भी शुभाप्ति विश्वासी कवि तत्व-चिन्ता में ही आगे बढ़ता है। पूछता है :

"अन्धकार-रूपी कोयले के टुकड़े इकट्ठे करके उनमें से वज्र-चूर्ण निकालकर फैलाने वाले हे महत्तत्व ! मृत्यु से तुम अनश्वरत्व निकालकर कब मुझे दिखाओगे?"

और दुःखार्त हृदय तत्त्व-चिन्ता में ही शान्ति खोजता है :

मनुष्य-हृदय-रूपी काञ्चन को किसी सुन्दर अलंकार के योग्य बनाने की दृष्टि से भुवनशिल्पी सन्तापानल में खूब तपाते हैं। फिर अश्रु-जल में डुबोते हैं और फिर तपाते हैं और फिर डुबोते हैं। बार-बार यही क्रिया आवर्तित होती है। इस प्रकार तत्त्व-चिन्ता में सान्त्वना की खोज करते कभी शान्त होकर कभी मुक्त कण्ठ से रोदन करके अन्त में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि :

"नाद ब्रह्म की परमानन्द राशि को एक सीत्कार में भर के रखा था। परन्तु अब एक श्वास से उसे विश्व-भर में फैला दिया। उस महा-शक्ति की विजय हो !"

कवि का हृदय अन्त में इस तत्त्व को मानने लगता है कि तृणांकुर से बृहद् गोल तक का समस्त विश्व स्नेहात्मक है। प्रियतमा के वियोग ने उसके समक्ष इस तत्त्व को प्रमाणित कर दिया। कैसे? जब वह जीवित थी, तब स्नेह का भण्डार उसी छोटे से शरीर की सीमा में बद्ध था। परन्तु उसके वियोग से समस्त विश्व ही प्रेमभाजन के रूप में परिणत हो गया। दुःख में परिपक्व हृदय खुलकर विश्व-प्रेम के लिए

सन्नद्ध हो जाता है। केरल-भाषा विद्वानों के अभिप्राय में यह एक "सामान्य कवि का असामान्य काव्य है।"

कुमारन् आशान् : मलयाल भाषा का एक उत्तम विलाप-काव्य है कुमारन् आशान् द्वारा विरचित 'प्ररोदनं'। केरल पाणिनी नाम से सुप्रसिद्ध ए० आर० राजराजवर्मा तंपुरान की अकाल मृत्यु के अनुशोचन में लिखा गया यह काव्य स्वाभाविक वर्णना तथा तत्त्व-चिन्ता में अनतिशयित है। मृत्यु के नाम से ही लोग घबरा जाते हैं। उसी मरण को लेकर उसको एक अध्यात्म-विद्यालय का रूप देकर कवि एक नया दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत करता है। समकालीन कवि, अत्युत्तम मित्र, गुरु आदि के अनेक रूपों में प्रेमादर-पात्र बने श्रीराजराजवर्मा का निधन आशान् के हृदय में भयंकर लहरें उठाता है और कवि 'प्ररोदन' में ही शान्ति की खोज करता है। उस 'प्ररोदन' का उसकी काव्य-धारा के अनुसार ही हम यहाँ अनुवाचन करेंगे।

सामने केरल भूमि रो-रोकर समस्त विश्व को अश्रु-सागर में डुबो रही है। क्यों? उसकी पुत्री कैरली मूर्च्छित पड़ी है। केरल-भूदेवी के भाव से, और उसके 'मावेलिक्करा' देश की ओर देख-देखकर रोने से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ कुछ अत्याहित हुआ है। कवि उसी तरफ देखता है और 'कालफणि के जिह्वाञ्चल' जैसे "श्रीमत् भासुर शारदालय महादीपंकलाशिच्चेड़ु धूमत्तिन् निकुरुंब' को देख लेता है। ('शारदा मन्दिरम्' राजराजवर्मा तंपुरान के गृह का नाम है। वहाँ प्रज्वलित महादीप बुझा हुआ और धूम्रपटल ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है)। वह उस धूम्रपटल से जान लेता है कि कैरली का वह प्रिय पुत्र परलोकगत हो गया है। फिर उस श्मशान का दृश्य कवि भावना-दृष्टि में देखता है। सब दिशाओं से 'स्यन्दन-चक्रों' द्वारा पथ का मर्दन करके अति त्वरा से अमर्त्यगण वहाँ पहुँच जाते हैं। श्मशान भूमि के ऊपर अमर्त्यगण और नीचे मर्त्यगण इकट्ठे होते जाते हैं।

"भाल-देशों में नागफन जैसे कुन्तलबन्ध किये, केर पुष्पों की माला

पहने हुए, नवताल-पत्रों की छत्रियाँ लगाकर तीन सहज साम्य रखने वाली देवियाँ वहाँ आ जाती हैं।"

"वैनतेय-रथ से उतरकर चिता के पास आते ही धैर्य का अन्त हो जाने से हाथ में लिए श्वेत कमल-मुकुल के समान सुन्दर शंख से मुख छिपाकर प्रथम देवी रो पड़ी।"

गरुड़ध्वज और शंखमुद्रा तिरुवितांकूर की मुद्राएँ हैं। कवि उनको विशेष सान्त्वना दिये बिना नहीं रह सके, क्योंकि स्वर्गीय तम्पुरान तिरुवितांकूर के एक औरस पुत्र थे।

"हे वंचिलक्ष्मी! असंख्य शिष्ट लोगों की सेवा तुम्हें पहले प्राप्त थी। पुष्ट गुणों के आस्थान महाराजा रामवर्मा आज जीवित भी हैं, तो भी हे विद्वत्प्रिये! आज दिवंगत बंधुरत्न के जैसे विद्वच्छिरोमणि भूलोक में अब नहीं हैं। अतएव तुम्हारे अश्रुओं का प्रवाहित होना उचित ही है!"

दूसरी देवी मंगलदीप के साथ पालकी में आई और श्मशान में उतरी। (सिंहध्वज मलाबार का चिह्न और मंगलदीप और पालकी कोचीन का चिह्न है)। वह चिता को देखकर रोने लगी। सिंहांकित पताकावाले रथ से उतरकर कुछ दूर जाकर खड़ी हुई तीसरी देवी भी रो रही है। यह रोना देखकर कवि सोचने लगता है:

"यह भयानक विपत्ति है। स्वतः कोई अन्तर न होने पर भी ये तीनों बहनें बहुत दिन पहले अलग हो चुकी थीं। इन तीनों की एक पुत्री है कैरली। उसका यह पुत्र ही इन तीनों के लिए "प्रत्याशास्पद तन्तु-बंधन" था। आज वह बंधन टूट गया है। कैसे इनको शांति मिले?"

इस प्रकार सामने आने वाली प्रत्येक वस्तु करुण-रस का उद्दीपन बनती जाती है। कवि हमें श्मशान से सौधस्थ रानियों के बीच, मित्रगण के पास, सर्वत्र ले जाकर दिखाता है। रानियों के हृदय-विदारक आक्रन्दनों की प्रतिध्वनि से दिग्देवी-गण भी रोने लगती हैं। यह सब देखकर कवि के हृदय से यह उद्गार निकल पड़ता है:

"यह क्रूर विधाता मनुष्य-हृदय को अनन्ताश्रु में तपाकर तड़ातड़ पीटने वाला निपुण, क्रूर स्वर्णकार ही है।"

इस चिता की भस्म का इसी श्मशान में कुछ समय पहले ज्वलित हुए केरल कालिदास का भस्मावशेष प्रणयालिंगन के साथ स्वागत करता है। राजराजवर्मा तम्पुरान उस महान् विभूति के भागिनेय, प्रिय शिष्य और साहित्य प्रयत्नों में सहकारी भी थे। अब वह गुरुजन-भस्म नवागन्तुक को समझाती है कि मनुष्यों के भाग्य और श्मशान की चिता की इस भयानकता दोनों को हमने देखा है। वह बताती है :

"स्थान का गुरुत्व, प्रभुत्व, जाति-प्रभाव, वंश-महिमा, व्यक्तित्व, शरीर-सौंदर्य, ऐश्वर्य—यह कुछ भी अग्नि के लिए गणनीय नहीं होता। मनुष्य का सारा गर्व यहीं आकर स्पष्टतया नष्ट हो जाता है; प्रियजन यहीं से अलग होने के लिए बाध्य होते हैं। हाँ, यही सच्चा अध्यात्म-विद्यालय है!"

चिता में आग सुलग गई। हे हुतवह! इससे बढ़कर महान् होम-द्रव्य त्रिलोक में भी तुम्हें नहीं मिलेगा! आग जल उठी। अनेक सुन्दर, हृदयंगम, उत्प्रेक्षा-कलाप उस अग्नि-ज्वाला के साथ कवि की हृदय-ज्वाला को बढ़ाते दीखते हैं। अन्ततः अधीर होकर आशान रो पड़ता है :

हा ! कालाभिभवं वेटिंञनुपदं पोङ्ङुन्न दाक्षिण्यमे !
लोकाराधितरीतियानु ललितश्रीतेट्टुमौदार्यमे।
पाकार्द्राविरताश्रितप्रणयमे, निर्गेहराय् निङ्ङल्त–
न्नेकालंबनमायोरालयमिता कत्तुन्नु केणीडुविन ॥

अर्थात्—हा! कालादि अवरोधों को छोड़कर उठने वाले दाक्षिण्य! लोकों की आराधना के योग्य ललित श्रीमय औदार्य! परिपक्व, आर्द्र आश्रित-वात्सल्य! और मित्र-स्नेह! तुम सब आज निराधार हो गये! रोओ-रोओ! तुम्हारा एकमात्र आलंबन, यह देखो जल रहा है।

एक-एक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटना भी कवि की दृष्टि में दुःख-दारुणता की उद्दीपक बनती जा रही है। आग में गिरनेवाला पतंग-समूह,

जलकर,फूट-फूटकर इधर-उधर गिरनेवाले स्फुलिंग आदि सभी लोकान्तर-गत महानुभाव के गुणनिकरों के प्रतीक दिखाई देते हैं। इन सबसे धीरे-धीरे कवि की स्मृति भूतकाल की कथाओं में संचार करने लगती है। उसका दुःख तब दुस्सह हो उठता है, जब उसको याद आती है कि:

"मध्याह्न में ही भास्कर का सहसा अस्तमन हो गया और अकाल में ही कमल को अश्रुजल में मग्न हो जाना पड़ा।"

स्मर्यपुरुष का देही स्वर्ग में पहुँचता है। कवि कालिदास ही आगे आकर हृदय से लगाकर उसका स्वागत करते हैं। "सुधा-सदृशी संस्कृत-वाणी जब आज्य (घृत) के समान जम गई, तब उसे आंग्ल-साम्राज्य रूपी वाग्-वैभव से पिघलाकर उस प्रवाह-माधुरी से विश्व को जीत लिया", इसके लिए बधाई देते हैं।

इसके पश्चात् एक-एक करके पाश्चात्य, पौरस्त्य कविवर्य, आलंकारिक, वैज्ञानिक आदि आकर उनको आदरपूर्वक स्वीकार करके अपने में मिला लेते हैं। व्योम में जब यह सब हो रहा है तब भूमि की स्थिति अधिकाधिक दयनीय होती जा रही है। हंसारूढ़ होकर वहाँ तत्समय आई हुई सरस्वती देवी, नीचे निर्जीव-जैसी पड़ी पुत्री कैरली को गोद में लेकर रोती हुई केरल-माता को देख तुरन्त वहाँ पहुँच जाती है। उसको देखकर वाग्देवी भी दुखी हो जाती है। देवी के अनुचरत्वेन वहाँ आनेवाले विद्वोत्तंसों में तीन विशेष उल्लेखनीय होते हैं। एक ने मधु को भी हरानेवाली गाथा से कैरली को झुला-झुलाया। सारिका कलकूजनों से दूसरे महाधन्य ने उसकी प्रीणना की। तीसरे सरस-रसिक कवि ने अपने विनोदमय गानों से उसे नृत्य करवाया। इन तीनों के लिए कैरली ने माँ और पुत्री दोनों ही बनकर कौतूहल बढ़ाया। उसका दुःखपारम्य देखकर तीनों ही आज स्तब्ध रहे हैं। तब मानो वाणीदेवी की ओर से सान्त्वना-गान सुनाई देता है। यह भ्रम क्षण भर ही रहता है।

फिर कवि एकदम इस दिवास्वप्न से जाग जाता है, और स्वयं

कह उठता है, "यह सब मेरा मतिभ्रम और दिवास्वप्न है ! कठोर सत्य तो यह है कि कैरली का वह प्रशस्त पुत्र चला गया, और हमारा हृदय तथा भूमि सदा के लिए खाली हो गई !" स्मृति-सागर की लहरें एक-एक करके उठती हैं; धैर्य की सीमा टूटती जाती है। तिरुअनन्तपुरं में स्मर्य-पुरुष का भवन, वहाँ के पण्डितों का जमघट, वह बातचीत, वह वेषभूषा, सभी मिटाने से न मिटनेवाले चित्र की जैसी दिखाई देती हैं। महाविद्यालय की, कक्षा में जाना, हिमरश्मि के समान सुधारस बरसाकर शिष्यों को आनन्दमग्न कराना, पाठव्याख्या लिखने के फलक (ब्लैकबोर्ड) के सामने मृत्तिका (खड़िया) लेकर खड़े होना, इत्यादि सभी दृश्यों के चित्र अनश्वर वर्णों में कवि हमारे सामने उपस्थित करता है। वहाँ से उसकी स्मृति स्मर्यपुरुष के ही प्रयत्न से स्थापित हुए संस्कृत महाविद्यालय और मद्रपुरी की विश्वविद्यालय सभा तक पहुँचती है। इसी विश्वविद्यालय की उपाधि लेकर अन्त में वे इसके सदस्य भी बने थे। उन सब बातों का स्मरण हो आता है।

इस स्मृति और रोदन से कवि की चिन्तागति धीरे-धीरे तत्वज्ञान की ओर मुड़ती है। रो-रोकर पराजित होने के पश्चात् जब बुद्धि निराशा में डूब जाती है, तब वेदान्ततत्व का सूर्य किसी दिशा से उदित होता है। कवि उन तत्वों से शान्ति पाकर कहता है :

> **"आकाशङ्ङलयण्डराशिकलोडुं भक्षिक्कुमाकाशमा**
> **यीकाणुन्न सहस्ररश्मियॆ इरुट्टाक्कुं प्रभासारमाय्**
> **शोकाशंकयॆड़ात्त शुद्धसुखवुं दु:खीकरिक्कुन्नता**
> **मेकान्ताद्वय शान्तिभूविनु नमस्कारं नमस्कारमे !"**

अर्थात्—"उस एकान्त अद्वय शान्तिमय निर्वाण-भूमि को कोटि-कोटि प्रणाम है, जिसकी विशालता, अनेकानेक ब्रह्माण्डों के साथ उन सब के ऊपर की आकाश-विस्तृति को भी नगण्य बनाती है, जिसका प्रभासार इतना तेजस्वी है कि उसके सामने प्रचण्ड आदित्य भी अन्धकार बन जाता है और जिसके आनन्द के सामने शोक की शंका भी न

रखनेवाला समस्त सुख-वैभव भी दुःख मालूम होता है।"

इस प्रकार ज्योतिर्मय, शान्तिमय निर्वाण को श्रद्धाञ्जली अर्पित करके कवि आश्वासन पा लेता है।

एक सौ सैंतालीस श्लोकों के इस छोटे से काव्य में कवि ने प्रौढ़-गम्भीर आध्यात्मिक तत्वों को इतने सरल रूप में निरूपित किया है कि उसकी आस्वाद्यता का वर्णन करके समझाना सम्भव नहीं है। एक-मात्र 'प्ररोदन' ही कुमारन् आशान् की शाश्वत प्रतिष्ठा के लिए पर्याप्त है। इसकी बराबरी करने योग्य विलाप-काव्य मलयालम् भाषा में अब तक रचा नहीं गया।

कैरली की काव्य-समृद्धि इसी काल में अत्यधिक हुई। यह काल केरल वर्मा वलिय कोयित्तंपुरान, ए० आर० राजराज वर्मा, वी० सी० बालकृष्ण पणिक्कर, चम्पत्तिल् चात्तुकुट्टिमन्नाटियार, कुमारन् आशान् वल्लत्तोल नारायण मेनवन्, उल्लूर परमेश्वर अय्यर, मूलूर पद्मनाभ पणिक्कर आदि अनश्वरयश कविकेसरियों का विहरण-काल था। सभी कवियों के उत्तम काव्यों का भी समग्र रूप में अध्ययन कर लेना यहाँ सम्भव नहीं है।

खण्ड-काव्य प्रस्थान में अग्रस्थानार्ह तीन महाकवियों की कृतियों का सिंहावलोकन करके ही सन्तोष करना होगा। इस समय के तीन महाकवियों—कुमारन् आशान्, वल्लत्तोल नारायण मेनवन् तथा उल्लूर परमेश्वर अय्यर को 'कवि-त्रिमूर्ति' के नाम से पहचाना जाता है। इन में प्रथम और तृतीय काल यवनिका में अन्तर्हित हो चुके हैं। श्री वल्लत्तोल नारायण मेनवन्, भारतीयों के ही नहीं, पाश्चात्यों के भी परिचित हैं। इन तीनों में ही कवितागुण और वासना-वैभव की अगाधता है। हम पहले कुमारन् आशान् की कविताओं को देखें।

आशान ने 'अवर्ण' या अधःकृत कहलानेवाली 'ईड़व' जाति में जन्म लिया। परन्तु वे कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभा, कल्पनाशक्ति आदि से सम्पन्न होकर अपने प्रयत्न और गुरुकृपा से आगे बढ़े। 'वीण पूवु' (पतित

पुष्प), 'सिंहप्रसवं', 'नलिनी', 'लीला', 'चिन्ताविष्टयाय सीता,' 'दुर-वस्था', 'चाण्डाल भिक्षुकी', 'प्ररोदनं' आदि खण्डकाव्य, 'बाल-रामायणं, 'बुद्धचरितं' आदि पूर्णकाव्य और अनेक छोटी-छोटी कविताएँ इनकी मौलिक कृतियाँ हैं। 'सौन्दर्य-लहरी', 'मेघ सन्देशं', 'प्रबोधचन्द्रोदयं' आदि संस्कृत कृतियों का इन्होंने भाषान्तर भी किया है। गीतिकाव्य को मलयाल भाषा में सुप्रतिष्ठित करने का श्रेय इनको ही है।

'वीण पूवु' इस प्रकार की प्रथम कृति है। सूखकर गिरे एक पुष्प को देखकर, उसके जन्म, पालन-पोषण आदि की सभी अवस्थाएँ कवि के स्मृति-पटल पर आ जाती हैं। कुल इकतालीस श्लोकों में एक सुन्दर जीवन का कल्पनाचित्र कवि ने हमारे सामने रख दिया है। उस पुष्प की दयनीयावस्था देखकर कवि के मन में पहला विचार आता है :

"हा, पुष्परानी ! उन्नतपद में एक राज्ञी की जैसी तुम कितनी शोभा पाती थीं ? इस संसार में ऐश्वर्य अस्थिर ही है। कहाँ तुम्हारा उस समय का वैभव और कहाँ अब का यह पतन !"

उस पुष्प का शैशव, बाल्य, तारुण्य, सब पदानुपद स्मृतिपथ में आ जाता है। पल्लवपुटों के अवगुण्ठन में सुरक्षित होकर आलोल वायु से झूला झूलते, दलमर्मरों के गीत सुनते बढ़ना, बालातप में अन्य मुकुलों के साथ खेलकूद में व्यतीत बाल्यकाल और समय-समय पर शुकसारिकाओं के साथ सिर हिला-हिलाकर गीत और नृत्य सीखने का अध्ययन-काल, तदन्तर नव-मनोहारिता बढ़ानेवाला वह तारुण्य ! उस समय की कल्पना करके कवि सोचने लगता है :

"वैराग्यमेरियोरु वैदिकनाट्टे एट्ट—
वैरिय्क मुन्पुरिड़योड़िय भीरुवाट्टे ।
नेरे बिटन्नु मरुवीड़िन निन्ने नोक्कि—
आराकिलेन्तु मिड़ियुल्लवर निन्निरिक्कां ॥"

अर्थात्—विरक्त वेदान्ती हो या आक्रमणकारी शत्रु से बचने के लिए प्राणभय के साथ भागने वाला भीरु हो, या कोई भी हो—यदि

उसके आँखें रहीं हों तो—विकसित खड़ी तुमको देखकर क्षणभर के लिए खड़ा हुआ ही होगा।

उस तारुण्यावस्था में सुखानुभव की इच्छा से उसके पास बहुत से प्रणयी आये होंगे। समान जातीय सभी पुष्प एक-से सुन्दर होते हैं। फिर भी किसी एक की दृष्टि में उस पुष्प में कुछ विशेष सौभाग्य भी दिखाई दिया होगा। परन्तु वे दिन गये। आज यौवन अस्त हो गया।

जो भ्रमर उस गिरी हुई फूलरानी की चारों ओर गूँजता हुआ घूम रहा था, उससे भी तरह-तरह की चिन्ताएँ कवि-हृदय में आ जाती हैं। स्वल्प समय उस फूल के चारों ओर उड़ने के बाद वह भ्रमर दूर चला गया। कवि उस दशा का अवलोकन करके आँसू बहाते हैं। यमराज की विवेकहीनता तथा क्रूरता का अपलाप करते हैं। विधि ने तुमको इतनी गुणराशि क्यों दी? और फिर उसका इतनी जल्दी क्यों हरण किया? सृष्टि का यह रहस्य किस की समझ में आ सकता है? अथवा—गुणी लोग इस संसार में अधिक दिन नहीं रह पाते हैं! यह भी ठीक ही है।

साधिच्चु वेगमथवा निज जन्मकृत्यं
साधिष्ठर पोट्टिह सदा निशि पान्थपादं
बाधिच्चु रूक्षशिल वाड़वतिल निन्नु मेघ—
ज्योतिस्सुतन् क्षणिकजीवितमल्लि काम्यं।

अर्थात्—अथवा, अपने जन्म का उद्देश्य पूर्ण करने के बाद, कृतार्थ लोगों का चले जाना ही उचित है। सदा पथिकों के पादों को क्षतविक्षत करती हुई रुक्ष शिलाएँ दीर्घकाल तक जीवित रहती हैं, तो क्या लाभ? उनके दीर्घ जीवन से मेघज्योति का क्षण-भंगुर जीवन अधिक अभिलषणीय नहीं है?

परन्तु कवि के हृदय को सान्त्वना नहीं मिलती। वह रो ही रहा है:

"यह करुणाजनक अवस्था देखकर और अनन्त विरह का स्मरण करके मेरा हृदय भर आता है। हे सुमन! आखिर हम एक ही तो

हैं ! क्या हम सहोदर नहीं हैं ? एक ही हाथ ने हम सभी का निर्माण नहीं किया ?"

यह विचार मन में उठते ही कवि की दृष्टि चारों ओर घूम लेती है। वह देखता है कि सूर्य, अनिल आदि शक्तियाँ भी इस रुदन में साथ दे रही हैं और उस पुष्प का दायभाग भी आपस में विभाजित कर रही हैं। धूल धूल में, सुगन्ध वायु में, तेज सूर्य के प्रकाश में विलीन हो जाता है। जो जन्म लेता है, सो नष्ट होता है। जो नष्ट होता है, अपनी कर्मगति के अनुसार फिर से उत्पन्न होता है। यह इस संसार-चक्र का नियम ही है। क्या मालूम, पश्चिम सागर में अभी अस्तमित हुए तारे अत्यधिक शोभा के साथ जब उदयाद्रि में पहुँचेंगे, तब शायद तुम भी यहाँ अप्रत्यक्ष होकर सुरद्रुम की शाखा में विकसित हो जाओ ! तुम्हें इस लोक में जो मिला उससे भी अधिक आदर तथा उन्नत पदवी मिल सकती है। इस प्रकार सान्त्वना देता हुआ कवि कहता है :

"मेरी आँखो ! लौट आओ ! यह पुष्प सूखकर धूल में मिल गया और शीघ्र ही विस्मृत भी हो जायगा। समझ लो, संसार में सभी की यही गति है। आँसू बहाने से क्या लाभ ? इस लोक का जीवन केवल स्वप्नमात्र है।"

'सिंहप्रसवं' भी अपने ढंग की एक अद्वितीय कृति है। तिरुअनन्तपुरं की मृगशाला में एक सिंही ने दो शिशुओं को जन्म दिया। उसको देखकर रचा गया यह पद्य-समूह आशान के कविहृदय का निकषोपल ही है। इसमें सिंही के अजा की जैसी शान्त होकर अपने बच्चों को दूध पिलाने, पिता की जिम्मेदारी समझते हुए सिंह के गम्भीरता के साथ आसपास घूमने, बन्धनस्थ सिंह के अधीर होने आदि का स्वाभाविक रूप में चित्रण किया गया है। इन सुन्दर वर्णनों के बीच ही अतिगहन वेदान्त तत्त्वों को भी सरलता से निविष्ट कर दिया गया है। इस छोटी-सी कृति में भी महत्तत्त्वों को भरकर अनुवाचकों को संसार का गूढ़ रहस्य समझाया गया है। कहना अतिरंजित नहीं होगा कि, इस प्रकार सरलता

तथा रसिकता के साथ यह कठिन कार्य सम्पन्न करने वाला दूसरा कवि मलयाल-भाषा में नहीं है।

'नलिनी' और 'लीला' प्रेमकथा प्रतिपादक दो खण्डकाव्य हैं। 'नलिनी' के आविर्भाव से केरल-साहित्य में ऐक नवीन लोक का उद्घाटन हुआ। तब तक पुराण-कथाओं के आधार पर, प्राचीन रीति, शैली आदि में सुसम्बद्ध काव्य ही रचे गये थे। वर्ड्सवर्थ, शेली आदि आँग्ल कवियों का अध्ययन करने वाले, पाश्चात्य वेषभूषा तथा विचार-शैलियों से आकर्षित युवकों ने वैसी ही कृतियाँ अपनी भाषा में भी देखनी चाहीं। जब 'केरलपाणिनि' के हस्तावलम्बन के साथ 'नलिनी' रंगमञ्च पर आई तब अपनी आशा-लता के प्रथम पुष्प का आगमन देखकर केरल के शिक्षित समाज ने उसका भरपूर स्वागत किया।

हिमवत्सानुप्रदेश में एक प्रभात में एक युवा योगी दिखाई देता है। वह चारों ओर के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध है। कुछ दूर एक पेड़ की आड़ से संगीत की ध्वनि सुनाई देती है। उस संगीत से आकर्षित होकर वह वहाँ जाता है तो एक वल्कलधारिणी अचिरस्नाता कन्यका उसके दृष्टिगोचर होती है। दूर से देखकर ही वह कन्यका योगी को पहचान लेती है और कवि एक मुस्कुराहट के साथ कहते हैं—"इष्ट जनों की आकृति पहचानने में नारियों के नयन अति सूक्ष्म होते हैं।" वह योगी के पास आती है और प्रणाम करती है। पूछने पर अपना पूर्व-वृत्तान्त धड़कते हुए दिल और काँपते हुए शरीर के साथ कह-सुनाती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह योगी दिवाकर की बाल्य सखी नलिनी है, और अब दिवाकर का ही अनुकरण करके उसी की स्मृति में योगिनी बनकर तपस्या कर रही है। सब कथा सुनने के बाद भी जब दिवाकर निःस्पृह होकर विदा लेना चाहता है, तब—"मेरा एकमात्र धन, जीवन, प्राण सब-कुछ ये चरण ही हैं; ये न हों तो मैं भी नहीं"—इस प्रकार कहती हुई नलिनी दिवाकर के चरणों पर गिर पड़ती है। उसकी यह दशा देखकर दिवाकर उसको करुणापूर्वक उठा लेता है और

कहता है : **"स्नेह ही अखिल जगत् का सार है और स्नेह का सार तो सत्य है।"** फिर उसे चेतावनी भी देता है :

"हे पावनांगि ! तुम्हारा परिशुद्ध सौहृद किसी को भी लुभाने वाला है। परन्तु उस पवित्र प्रेम को चिताशवों में पुष्प के समान अशुभ और नश्वर वस्तुओं में मत रखो।"

सुनते-सुनते नलिनी मूर्च्छित होकर गिरने लगती है और दिवाकर उसे माता के समान वात्सल्य के साथ अपने वक्षस्थल में अवलम्बन देता है। उत्तर क्षण में ही वह अनुभव करता है कि नलिनी का हृदय स्तब्ध हो गया है, शरीर का भार बढ़ने लगा है और पुष्पहार समान मृदु शरीर ढंढा हो गया है। उसने समझ लिया कि उसकी यह अवस्था न सुप्ति है, न योग-मूर्च्छा है, न समाधि ही है। यौवन में ही 'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या' मानकर संसार का त्याग करने वाला दिवाकर अपनी बाल्य-परित्यक्ता सखी के हृदय का महत्त्व तब समझा। उसके हृदया-न्तर्भाग से इस समय निकलनेवाली विचार-धारा मानो अलौकिक अनन्त प्रेम का स्रोत ही है। उस विरागी योगी को से स्वीकार करना पड़ता है :

"उत्तमे ! मेरे विगतराग हृदय को भी तुमने हिला दिया। इस प्रकार का मधुर रूप और उसके अन्दर इतना पवित्र हृदय संसार में कहाँ मिलता है ?"

इतना ही नहीं :

"मेरा मन तो आज परिशुद्ध हो गया; क्योंकि मैंने तुम्हारे ध्यान करने योग्य चरित्र का मनन किया। और हे ज्ञानिनी ! तुमने मेरे शरीर के अवलम्बन में सिद्धि प्राप्त की; इसलिए मेरा यह शरीर भी तीर्थभूमि बन गया है।"

नलिनी की प्रेमदृढ़ता, अटल श्रद्धा, त्याग-शक्ति और सरल भक्ति ने दिवाकर को मुग्ध कर लिया। वह योगी है, इसलिए अनित्य वस्तुओं के नष्ट होने पर दुःखी नहीं होता। नलिनी ने शरीर छोड़ दिया, इस-लिए वह भी दुःख के परे हो गई। परन्तु उस कुलीन गुणदीपिका के

बुझ जाने से यह लोक घनान्धकार में विलीन हो जाता है।

इस समय अपनी प्रिय शिष्या को खोजती हुई आचार्या योगिनी वहाँ आ जाती है। दोनों मिलकर गौरीशंकर शिखर पर नलिनी के शरीर का संस्कार करते हैं और फिर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं।

इस खण्डकाव्य को पूरा पढ़ लेने के बाद पाठक अपने-आपको एक अलौकिक दिव्य उपरितल में विचरण करते हुए पाते हैं। नलिनी और दिवाकर साधारण मानवीय पश्चात्तल से ऊँचे उठे पुण्यात्मा हैं। वे दोनों ही भगवत्पूजा के योग्य प्रफुल्ल दिव्य कुसुम हैं। परन्तु 'लीला' की नायिका और नायक साधारण भूमि में ही विचरण करके साधारण अवस्थाओं का अनुभव करने और कराने वाले हैं। लीला और नलिनी, दोनों ही एक ही कवि के द्वारा विरचित काव्य हैं। दोनों ही प्रेमकथा की नींव पर बँधे हुए मोहन-सौध हैं। परन्तु जब एक परिपावन सुधांशु की कान्ति फैलाता है, तब दूसरा पाठकों को राजस, भौतिक प्रकाश में निमज्जित कराता है।

एक वर्तकप्रमाणी की 'लीला' नाम की पुत्री 'मदन' नाम के समीपस्थ दरिद्र युवा के साथ प्रेमबद्ध हो जाती है। लीला के पिता यह बिना जाने ही, अपनी पुत्री का विवाह एक अन्य सम्पन्न सार्थवाह-पुत्र के साथ करा देता है। परन्तु लीला एक ही संवत्सर में विधवा हो जाती है और पितृगृह में लौटती है। विपत्ति कभी अकेले नहीं आती। इस वर्ष के अन्दर लीला के माता-पिता मृत्युवशग हो चुके थे और मदन भी प्रेमद्रोह से पागल होकर कहीं चला गया था। लीला अत्यन्त विह्वल होकर दिन बिताती है। एक दिन सखी के दुःख से दुःखी माधवी मदन की खोज में निकलती है और अपने प्रयत्नों में सफल होकर वापस आती और लीला को समाचार देती है कि उसका प्रेमी पागल होकर विन्ध्यपर्वत के वनों में घूम रहा है। लीला के आग्रह से दोनों सखियाँ परिजनों के साथ विन्ध्याटवी में पहुँचती हैं। दैवगति से, लीला को क्षण-भर के लिए मदन का सम्मुख-दर्शन मिल जाता है। परन्तु मदन

दूसरे क्षण में ही भयभीत होकर भाग निकलता है और लीला भी उसका अनुगमन करती है। उस पागलपन में भागता हुआ मदन रेवा नदी के तरंग-करों में विलीन हो जाता है। लीला भी उन्हीं शीतल लहरों में अपनी हृदयाग्नि को शान्त करके निवृ ॅत हो जाती है।

लीला और मदन के रेवानदी में जल-समाधि प्राप्त कर लेने के पश्चात् निराश, निराधार माधवी थककर उसी नदी के पुलिन में सो गई। तब उसने देखा, एक सुन्दर, श्वेतांबरधारी स्त्री-पुरुष-युग्म तेजो-परिवेष से परिवृत होकर पास आता है और कहता है :

"सखि ! इस संसार में कोई भी नष्ट नहीं होता। शरीर छूटने से ही प्रणयबद्ध देही का देहबन्ध समाप्त नहीं होता। मेरी सखी ! दु.खी मत हो ! हम फिर से मिलेंगे। संसार-चक्र की गति का विराम नहीं हुआ।"

'चिन्ताविष्टयाय सीता' पौराणिक पण्डितों के भृकुटी चढ़ाने योग्य आशय और विचारशैली का काव्य है। मनुष्य-स्वभाव की महानता और स्वाभाविक विचारगति कुशलता के साथ इसमें चित्रित हुई है। इस काव्य की पंक्ति पंक्ति में सीता मानवी से देवी के रूप में विकसित होती दिखाई पड़ती है।

सीता-परित्याग के बाद बारह वर्ष हो गये हैं। कुश तथा लव बड़े होकर रामायण सीख चुके हैं और अश्वमेध में सम्मिलित होने के लिए वाल्मीकि महर्षि के साथ अयोध्या गये हुए हैं। अब उनके लौटकर आने का समय हुआ है। एक सन्ध्या को सीतादेवी पर्णशाला के पार्श्व की एक वाटिका में बैठी दिखाई देती हैं। प्रकृति शान्त तथा निर्मल है। सूर्य का अस्तमन अथवा चन्द्र का उदय, अपना अकेलापन या रात्रि की नीरवता, कुछ भी देवी को स्मरण नहीं है। हृदय-सागर में लहराती हुई विचार-तरंगें मुखमण्डल पर तरह-तरह के भाव व्यक्त कराती हैं।

"विविध विकारों से विह्वल मन को शान्त करने का कोई उपाय

न देखकर व्याकुल होकर, वह विचार-भाषा में कुछ-कुछ बोलने लगी।"

अपनी विचित्र परिस्थिति, शान्त विरक्त मनोभाव, हृदय में भरी निराशा और तज्जन्य उदासीनता आदि को वह एक साक्षी की जैसी देखती जाती है। इन अलिप्त निरीक्षणों के परिणामस्वरूप अनेक लोकतत्वरूपी निष्कर्ष भी निकल पड़ते हैं, जैसे—'स्वाभिमान के कारण अमिट दुःख अनुभव करते रहना मनुष्य के ही भाग्य में है'; 'अपमान-शल्य ही एक दुःख ऐसा है जो विवेक शक्ति से मिट नहीं सकता' और—

"घनान्धकार में भी नक्षत्रों का झिलमिल प्रकाश तो है ही, महासागर के बीच में भी द्वीप तो हैं ही। कोई महा विपत्ति भी क्यों न हो, बीच-बीच में दुःख शान्त करने को कोई-न-कोई आधार रहता ही है।"

इस प्रकार पूर्व-स्मरण जाग उठता है। प्रथम आघात से पूर्णतया मुक्त होने के पहले ही यह जो द्वितीय आघात हुआ उसकी स्मृति उनको विह्वल बना देती है। लक्ष्मण की उस समय की अवस्था को याद करके देवी का हृदय वात्सल्य-तरलित हो जाता है। फिर लक्ष्मण के लौट जाने के बाद की अपनी स्थिति! उस अनाथावस्था में ईश्वर-प्रेरणा से ही आये हुए ऋषि वाल्मीकि! उनके उस दिन के अमृतमय सान्त्वना-वचन, मानो इन बारह वर्षों के बाद भी सीतादेवी के श्रवणों में प्रतिध्वनित हो रहे हैं! उनके आज्ञानुसार उस आश्रम में पहुँचना और शान्ति से प्रेममयी तापसियों के साथ रहना आदि स्मृतिपथ में आते ही सहसा देवी के मुख से क्या निकल पड़ता है, सुनिए:

"इन तपोवन-वासिनियों के साथ मिलकर रहने का अवसर देने वाले दुर्विधि के प्रति सचमुच में ऋणबद्ध हो गई हूँ, जैसे महारोग से बाधित व्यक्ति अपने वैद्य के प्रति हो जाता है!"

इन शान्त, निर्दोष, प्रेमिल तापसियों के साथ गर्विष्ठ, ईर्ष्या-द्वेष से भरी नागरिक वनिताओं की तुलना करके सीता दुःखी होती हैं। नागरिक स्त्रियों का परनिन्दा-नैपुण्य याद आते ही उनका अपना गहरा घाव फिर से ताजा हो जाता है। काव्य को पढ़ते-पढ़ते हम "पयोमुख

विषकुम्भ' जैसी नागरिक जनता का व्यवहार और उसका परिणाम आदि सब चित्रपट के समान देखने लगते हैं। श्रीराम के व्यवहार का अन्याय, पूर्णरूप से देवी की समझ में आता है। पिता ने तो सिंहासन देने का वचन देकर ही पुत्र को वल्कलधारी बनाकर वन में भेजा था, परन्तु पुत्र ने अपनी पत्नी को पूर्ण गर्भावस्था में विजन महावन में त्याग दिया है! ऐसे पिता के ऐसा पुत्र होना ठीक ही है! राजा के लिए अपना सम्मान रखने का उपाय है यह सब ! परन्तु अपने सम्मान की चिन्ता में राजा ने मेरे सम्मान को मिट्टी में ही मिला दिया ! अपनी पत्नी का सम्मान, उनके लिए कोई चीज़ ही नहीं !

अपनी पत्नी का अपमान, कोई चरित्रहीन व्यक्ति भी सह नहीं सकता। परन्तु, मेरे ऊपर कलंक लगाने वाले वाक्य इस प्रजापालक ने वेदोक्ति के समान कैसे सुन लिये ? श्रीराम के इस व्यवहार पर सीता स्वयं आक्षेप और समाधान करने लगती हैं। वह प्रसंग पढ़ते ही बनता है। राजा ने त्याग दिया, वह अन्याय तो था ही; त्याग देने का तरीका और भी निन्द्य था। उन सब अनुभवों को याद करके देवी हृदयविदारक शब्दों में प्रश्न करती हैं :

"पतिरूपी परम देवता को आत्मसमर्पण करके जीनेवाली भक्ता नहीं थी मैं ? मुझसे कुछ भी कहते, तो क्या मैं उसका विरोध करती? सच बात मुझ से कह दी होती तो क्या हानि होती ? राजा ने उतना भी करना आवश्यक नहीं समझा !"

सीता की भाव-सरणी आगे बढ़ती है—'वन में गर्भिणी हरिणी को देखकर उनकी आँखें भर आती थीं ! परन्तु जब राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए तब, अपनी पत्नी को ही पूर्ण गर्भावस्था में निर्जन वन में त्याग दिया ! अस्तु—वह मनोवृत्ति वन में पल्लव-जैसी उत्पन्न होती है। राजा का हृदय तो चर्म जैसा कठोर हो जाता होगा !'

परन्तु, यह विरोधी विचारगति चिरस्थायी नहीं थी। पति के चरणों पर आत्मसमर्पण कर देने वाली भक्ता कब तक अपने स्वामी

का दोष-विचार सह सकती थी ? शीघ्र ही मनोगति बदलती है। पति के आचरण का नीतीकरण स्वयं करके, उनकी विरह-वेदना का काठिन्य स्वयं अनुभव करके सीता इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि श्रीरामचन्द्र का प्रेम अनन्यनिष्ठ है और उसी निष्कर्ष से स्वयं सान्त्वना भी पा लेती हैं। उनके प्रति प्रेम, अनुभाव आदि जाग्रत हो जाते हैं। अन्त में इस प्रकार क्षमाप्रार्थिनी बन जाती हैं :

"आज मैंने अपने क्षोभ और उद्वेग के कारण आपके ऊपर अनवधि कलंकों का अरोपण किया। मेरे स्वामी! अपनी अभिमानिनी पत्नी का मानी स्वभाव समझकर, उस पर दया करके, अपराध क्षमा कीजिये!"

अब आत्मग्लानि से विवश होकर अपने ही चरित्र को वे निन्द्य बतलाती हैं; क्योंकि वे स्वयं सदा ही पति के लिए दुःख तथा विपत्ति का कारण बनी रहीं। इन सब विचारधाराओं से और तदुत्पन्न संघर्ष से श्रान्त होकर कहती हैं :

"अब बस ! मेरा काम हो चुका है, जिस नट का अभिनय पूर्ण हो गया उसको रंगभूमि से निकल जाना चाहिए !"

इस अनायास निर्णय में मानो भवितव्य की छाया ही छिपी हो। एक-एक करके, वे अपने सहचारियों से विदा लेने लगती हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सन्ध्या, सभी उनके ध्यान में आ जाते हैं :

"हे दिन-साम्राज्य के नाथ ! सूर्यदेव ! अनियन्त्रित रूप से समस्त दिशाओं में अपने कनकमय रश्मिजालों को विकीर्ण करने वाले ! कुलदेव ! आपसे मैं अब विदा लेती हूँ !"

"हे चन्द्र ! मृगांक ! श्वेतांबर होकर कमलनाल के धागों जैसी किरणों से परिवृत, सुन्दर मन्दहास करने वाले, चन्द्रिका रूपी विभूति में स्नान किये हुए, मेरे पितृकुल देव ! आपको प्रणाम !"

"अति गाढ अन्धकार को भी खोदकर दूर-दूर तक अपनी किरणराशि का प्रसारण करके, पथिकों को रास्ता दिखाने के लिए प्रकाश देने वाले मोहन नक्षत्रगण ! तुम लोगों को अनन्त नमस्कार !"

"प्रभात में और सायाह्न में स्वयं ही रेशमी आवरण बुनकर आकाश के द्वारों को आच्छादित करने में व्यस्त रहने वाली सन्ध्यादेवी, आपको मेरी वन्दना !"

"सुन्दर वनप्रदेश ! गूँजनेवाले भ्रमरों से मनोहर प्रफुल्ल पुष्प समूह ! तुम लोगों में अनन्त आनन्द के साथ रमने वाली मैं अब विदा ले रही हूँ ।"

इतने पर उनको स्मरण हो आता है, कि भूमि में ही विलीन होने वाली मैं इनसे अलग कहाँ हूँगी ? मैं इनसे सायुज्य ही प्राप्त करूँगी। इस प्रकार विचार करते-करते, अन्त में, देवी वह दृश्य भी अपने अन्तः-चक्षुओं से देख लेती हैं, जिसमें स्वयं माता भूमि की गोद में समा जाती हैं। बीच में ही एकदम चौंक उठती हैं और बोल जाती हैं :

"नहीं ! नहीं ! क्या आप यही चाहते हैं कि मैं लौट कर फिर से महारानी बनकर रहूँ और आप को प्रसन्न करूँ ? क्या मैं कोई गुड़ियाँ हूँ ?"

इस उद्वेगपूर्ण प्रतिषेधोद्गार के अन्तर्गत विचार और विकार-परम्परा की व्याख्या कौन कर सकता है ? इसी असह्य मानसिक संघर्ष के आवेग में सीता मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। तापसियाँ उन्हें उस अवस्था में पाकर उटज के अन्दर ले जाती हैं। शेष कथा-भाग आशान ने एक ही श्लोक में पूर्ण कर दिया है :

" 'मेरी बेटी ! खेद मत करो ! आओ !' मुनि के इन वचनों से पिता का अनुसरण करने वाली पुत्री के समान मुँह नीचा करके वह सती राज-सभा में पहुँची। पश्चात्ताप से विवश विवर्णमुख पति को नागरिकों के सम्मुख एक बार देखा और उसी अवस्था में इस लोक को त्याग दिया ।"

आशान् के तीन और काव्य, 'दुरवस्था', 'चण्डालभिक्षुकी' तथा 'करुणा' विशेष उल्लेखनीय हैं। ये तीनों काव्य केरलीय वृत्तों में—अर्थात् मात्रावृत्तों में—गाने योग्य रीति में रचित हैं। इन में एक

सामान्य धर्म, सदाचार बोध तथा अस्पृश्यत्व के कलंक का दर्शन उपलब्ध है। नम्पूतिरि ब्राह्मणों के विचित्र आचार-व्यवहार, जातिगत दुरभिमान और अन्य विकृतियों से उत्तर केरल पीड़ित था। ऐसी अवस्था में सन् १९२२ में मोपला-उपद्रव हुआ, जिसमें ब्राह्मणों को समूल नष्ट कर देने का ही प्रयत्न किया गया। बहुत लोगों ने भागकर तिरुवितांकूर तथा कोचीन में शरण ली। जो नहीं भाग सके उनकी हालत सन् १९४७ की उत्तर भारत की स्थिति से कम नहीं थी। उस समय की एक घटना है 'दुरवस्था' का इतिवृत्त।

'पुलय', 'परय' आदि जातियाँ उन दिनों केवल अस्पृश्य ही नहीं मानी जाती थीं, सवर्ण जनता अपने को उन लोगों की छाया से भी बचाती थी। पुलय जाति का 'चात्तन्' नाम का युवा अकेला अपनी झोपड़ी में रहता है। मोपलों से बचकर भागी हुई सावित्री नाम की अन्तर्जन (केरलब्राह्मण कन्यका) उसकी झोपड़ी में शरण लेती है। चात्तन् भय-भक्ति-श्रद्धा के साथ उसको आश्रय देता है और उपद्रव जब तक शान्त नहीं होता तब तक वह उसी झोपड़ी में रहती है। वहाँ रहकर सावित्री के मन में कई विचार आते हैं और बहुत सोच-विचार करने के बाद वह इस निर्णय पर पहुँचती है :

"अब मैं किसी शंका में नहीं पड़ूँगी। इसी झोपड़ी में पुलयी बनकर अपना शेष जीवन बिताऊँगी।"

और वह आगे सोचती है :

"जिस ईश्वर ने मुझे इस हालत में पहुँचाया, जिस विधि के विधान से यह चात्तन् मेरा आश्रय बना, उसका निश्चय यही मालूम होता है।"

वह उचित और सुसंगत तर्कों से सारी पृष्ठ-भूमि बना लेती है और रात को जब 'चात्तन्' लौटता है तब अपना निर्णय उसके सामने प्रकट करती है। 'तंपुराट्टि' (राज-परिवार की महिला के लिए प्रयुक्त शब्द) से सम्बोधन करने पर चात्तन् को रोककर वह कहती है—"अब मैं तुम्हारी हो गई हूँ। तुम मुझे सावित्री कहा करो।" उसके बाद वह

पौराणिक सावित्री की दिव्य कथा चात्तन् की समझ में आने योग्य सरल-सुन्दर भाषा में बताती है। "उस सत्यवान के लिए सावित्री के समान मैं भी तुम्हारे प्रेम और आश्रय में सन्तुष्ट रहूँगी"—यह कहकर वह चात्तन् के साथ अग्नि-प्रदक्षिणा करके अपना स्वयंवर पूर्ण करती है।

इस काव्य में दलित और पीड़ित मनुष्य-समुदाय की उन्नति का मार्ग योग्य और स्पष्ट रूप में दिखाया गया है। सावित्री की मनोरथ-गति का अनुमान यदि किया जाय तो अवर्ण अथवा हरिजनों का उद्धार शान्त, सुदृढ़ रूप से कैसे किया जा सकता है, इसका एक साधन-पाठ इस में मिलता है। एक क्रान्तिकारी काव्य, एक क्रान्तिकारी तूलिका से निकलकर एक भ्रान्त समुदाय के बीच आया; परन्तु कवि का दिव्यगान और उसका काव्य-माधुर्य श्रोताओं को आनन्द-लहरी में डुबोकर कर्तव्य-पथ पर उन्मुख करने का प्रेरक ही बना। इधर-उधर किसी ने गुप-चुप छींटे उछालने का प्रयत्न किया, तो वह ईर्ष्यालुओं की पंक्ति तक ही सीमित रहा।

'दुरवस्था' की अनुजाता और अनुगामिनी है 'चण्डालभिक्षुकी'। इस का इतिवृत्त, बुद्ध भगवान् के प्रथम अन्तेवासी आनन्द भिक्षु के चरित्र की एक घटना है। एक समय भिक्षु आनन्द एक गाँव से जा रहे थे और उनको प्यास लगी। उन्होंने सामने एक कुएँ पर पानी भरने वाली बालिका को देखा और पास जाकर पानी माँगा। बालिका मातंगी ने अपना अस्पृश्यत्व बताकर पानी देने में असमर्थता प्रकट की। आनन्द का उत्तर पुलकोद्गमकारी था। शंका-समाधान हो जाने से मातंगी ने पानी दे दिया। इस प्रसंग का वर्णन सुनिए :

"बहन ! मुझे प्यास लगी है। यह कृपारस-मोहन शीतल जल थोड़ा मुझे दे दो"—इस प्रकार याचना करने वाले भिक्षु को देखकर बालिका भयभीत हो गई और बोली—"यह क्या ? कष्ट में पड़कर आप जाति को भूल गये ? आर्य लोग नीच नारी के हाथ से जल पी सकते हैं ? यदि मैं आपको जल पिलाऊँ तो मैं भी पाप की भागी बन जाऊँगी !"

आनन्द ने उत्तर दिया—"मेरी बहन ! मैं तुम्हारी जाति जानना नहीं चाहता। मुँह सूख रहा है, प्राण निकल रहा है, मुझे पानी दे दो !" इसके बाद वह जल कैसे न देती ? वह न पत्थर थी, न लोहा, वह स्त्री थी। उसने पानी भिक्षु के हाथ में प्रवाहित किया। वह दृश्य देखकर कवि बोल उठता है :

"हे पुण्यशालिनी ! तुम्हारे हाथ से निकलने वाले स्वच्छ स्फटिक-जल का एक-एक विन्दु तुम्हारे अन्तरात्मा को अनेकानेक सुकृत हार अर्पण करती होगी !"

आनन्द चले गये। परन्तु मातंगी का हृदय भी उनके साथ ही चला गया। अपनी चेतना का अनुगमन करके मातंगी भी बुद्ध-विहार में पहुँच गई। भगवान् बुद्ध ने उस पवित्र कुमारी को अपने विहार में स्थान दिया। मातंगी-भिक्षुणी मन्दिर का एक अंग बन गई। परन्तु, मगध की ब्राह्मण प्रजा को यह अनाचार सह्य नहीं हुआ। "मुण्डन कर लेने से ही निरी चाण्डाली उच्च वर्ण की भिक्षुणियों के मठ में समता से रहने लगी !"—यह वृत्तान्त ब्राह्मणों के श्रवणों में तप्त लोहे के समान कष्ट देने लगा। वे राजा प्रसेनजित के पास शिकायत लेकर पहुँचे। राजा बुद्धदेव के अनुयायी होने पर भी प्रजारञ्जन में भी श्रद्धालु थे। इसलिए उन्होंने ब्राह्मणों को लेकर बुद्ध की ही शरण ली। परन्तु, अपनी शंका और कठिनाई बुद्ध भगवान् के सामने खोलकर कहने का साहस किसी को नहीं हुआ। तब सर्वज्ञ भगवान् तथागत बिना पूछे ही उत्तर देने लगे। उन्होंने अपने उपदेशों से स्पष्ट किया कि मनुष्य-मात्र ही पर-स्पर प्रेम और भ्रातृभाव पर प्रतिष्ठित है। जाति एक विडम्बना-मात्र है। जन्म से सभी शूद्र हैं और कर्म से ब्राह्मण बन सकते हैं। आगे उन्होंने कहा :

"कल की गलती मूर्खों के लिए आज का आचार बन जाती है और आगामी कल उसी का शास्त्र बनाकर लोग आदर करने लगते हैं। राजन् ! इस मूर्खता के लिए आप भी अनुज्ञा मत दीजिये।"

अन्त में वे करुणामूर्ति कहते हैं :

"स्नेह से लोक का उद्भव होता है। स्नेह से ही उसकी वृद्धि भी होती है। स्नेह ही संसार में शक्ति है। आनन्द का मूल भी स्नेह ही है। स्नेह ही जीवन है और स्नेह-द्रोह ही मृत्यु है। स्नेह नरक में स्वर्ग की सृष्टि करता है। माता के हृदय में रहकर, वहाँ के रक्त को दुग्धरूपी अमृत बनाने वाला स्नेह हमको शैशव से यही सन्देश देता आया है। इसलिए समस्त लोक को सुनाकर मैं कहता हूँ—ईर्ष्या के अतिरिक्त संसार में कोई जाति नहीं है, नहीं है। मनुष्य एक है; उसमें कोई भी भेद नहीं।"

सभा आनन्दबाष्प बरसाने लगी। चारों ओर शान्ति फैल गई। आनन्दमय मन्द-पवन चलने लगा। लोग निर्वृति में मग्न हो गये।

यह बुद्धोपदेश किसी भी राज्य में, किसी भी जनता के लिए एक शाश्वत तत्वोपदेश के रूप में मार्ग-दर्शक बना रहेगा। बुद्धदेव के प्रेम-योग और समता-मंत्र का प्रचार फिर केरलीयान्तरिक्ष में गूँजने लगा। अवर्ण-सवर्ण-भेद रूपी अन्याय की जड़ हिलाने वाले इस कवि और इसके काव्य की जय हो!

भगवत्कृपा की अप्रतिरोध्यता और सदाचार की आवश्यकता 'करुणा' का सन्देश है। श्री बुद्धदेव के एक शिष्य उपगुप्त तथा मथुरा की एक गणिका वासवदत्ता की प्रख्यात कथा इस काव्य का इतिवृत्त है। 'नतोन्नता' वृत्त में यह सरल कोमल वाणी-प्रवाह अनुपम सदरुचि और लोक-कल्याण की भावना का परिचायक है। दो खण्डों में विभाजित इस काव्य का प्रथम भाग गणिका वासवदत्ता के आँगन में हमें ले जाता है। वासवदत्ता की उत्कण्ठापूर्ण प्रतीक्षा और सखी के उपगुप्त के पास से निराशाजनक उत्तर लेकर आने पर उसका उद्वेग इस खण्ड में तन्मयता से चित्रित किया गया है। जब सखी लौटकर आती है तब आतुरता के साथ वासवदत्ता पूछती है :

"सखी! तुम्हारी प्रयत्न-रूपी लता फलवती हो गई? वह फल

पक गया ? उसमें माधुर्य भर गया कि नहीं ?"

"इस बार मुझे कोई शंका नहीं है, क्योंकि आखिर वह भी तो मनुष्य है और तुम दौत्य में निपुण हो।"

परन्तु जब सखी ने कहा—"स्वामिनी ! उनका उत्तर वही है कि, अभी समय नहीं हुआ !" तो वासवदत्ता का मानो रूप ही बदल गया :

"यह सुन, भृकुटी चढ़ा, उसने केलि-कुसम-मञ्जरी को तोड़कर दूर फेंक दिया और फिर वह मधुभाषिणी उद्विग्न होकर बोलने लगी—कुछ मानो अपने-आप से और कुछ मानो सखी से।"

पहले उद्गार से ही उसके हृदय की अवस्था स्पष्ट हो जाती है :

"समय नहीं हुआ ! समय नहीं हुआ !! ओह ! मेरी सखी ! अब मेरे हृदय में सहनशक्ति नहीं रह गई !!"

इस तरह एक प्रकार से प्रलाप ही करती जाती है। क्षोभ की सीमा नहीं है। प्रणय-नैराश्य, आत्मग्लानि, अपने अप्रतिहत, उद्दाम सौन्दर्य की अवहेलना से उत्पन्न क्रोध, उस अवहेलना के हेतुभूत भगवान् बुद्ध के प्रति अमर्ष, सर्वोपरि स्वप्रेमभाजन उपगुप्त योगी का एक बार दर्शन करने की उत्कण्ठा, इन सबके मेल से वासवदत्ता अभिभूत हो जाती है। यह सब देखकर, कवि शान्ति अथवा आशा का एक निश्वास लेता है :

"प्रतिदिन ही निर्लज्ज होकर अपने शरीर को धनदुर्देवता की बलिवेदी पर चढ़ाने वाली इस सौन्दर्य-रानी के हृदय में अनवद्य सुख देने वाला अनुराग का अंकुर उत्पन्न हो जाय तो वह वरेण्य नहीं है ?

"अन्धकार के गर्त में क्या सूर्यदेव की एक किरण भी काम्य नहीं है?"

पाप का घड़ा पूर्ण होने का अवसर आया। एक विदेशी व्यापारी उसके पास पहुँचा। वासवदत्ता ने उसका स्वागत-सत्कार किया। एक अन्य विलासी पहले ही से उपस्थित था। एक को छोड़ने और दोनों को साथ-साथ निभाने की शक्ति न होने से वह गणिका विषम स्थिति में पड़ गई :

"वह विनाशकारी बमगोला फूटने के पहले उसकी बत्ती को तोड़कर

फेंक देने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रह गया।"

सब परिचारिकाओं की सहायता से उसने प्रथम जार-पुरुष को अन्तकपुर का अतिथि बना दिया। कवि चौंक जाता है। उसके हृदयान्तराल से एक चीख निकल पड़ती है :

"मार्गभ्रष्ट काम-किंकरों के ऐसे कठोर कृत्यों के कारण, हे प्रेम! तुम्हारा नाम सुनते ही डर लगता है!"

पाप का फल वासवदत्ता को भोगना ही पड़ा। किसी प्रकार उस हत्या का रहस्य खुल गया। धन, अथवा कटाक्ष-वीक्षणों के प्रभाव से उन दिनों के न्यायासन की शुद्धता अपने उच्च स्तर से उतरी नहीं। सत्य की प्रथा नीतिवादकुशलों की वाचालता में छिप भी नहीं गई। नियमानुसार, मथुरा की अप्सरा वासवदत्ता कर, चरण, श्रवण, नासिका का छेदन करके श्मशान में डाली गई।

रक्तप्रवाह से शक्ति क्षीण हो चली। शिराचक्र शुष्क हो गया। प्राणपखेरू उड़ने के लिए तड़पने लगे। परन्तु आशा का पाश शेष था। चारों ओर दृष्टि फैलाकर, अब भी, वह प्रतीक्षा कर रही थी—स्वयं जानती नहीं किसकी! परन्तु उसके अन्तरात्मा को सर्वान्तर्यामी जानते थे। अश्रु बरसाती हुई, पास मंडलाने वाले काक-गृध्रादि हिंस्र पक्षियों को भगाती हुई, उस परम विपत्ति में भी परिचारिका अपनी स्वामिनी की रक्षा करती रही। वह आती दिखाई दी—वासवदत्ता की आशाकिरण! एक सुन्दर, प्रांशुकाय, दिव्यरूप!! भास्कर भगवान् से टूटकर हवा में उड़ती आने वाली रश्मि के समान!!! पावन मुख परिवेष! मुग्धयुवभाव!! प्रेमामृतवर्षिणी आंखें!!! पास आकर उसने उस दृश्य को देखा और वह चौंक पड़ा! बार-बार अपने पास आई दूती को पहचाना और प्रश्न किया :

"यह विपन्न प्रियजन वासवदत्ता ही है क्या? कृपा कर सत्य बताओ। मैं उपगुप्त हूँ।"

यह वाग्सुधा क्या मृतसञ्जीवनी थी? यह चार अक्षरोंवाला नाम

मृत्युञ्जय-मन्त्र था ? इन अक्षरों का इतना प्रभाव ! सूखे घावों से फिर रक्त प्रवाहित होने लगा। उस विकृत, विवर्ण मुखमण्डल पर फिर से लालिमा फैलने लगी। आँखों से हर्षाश्रु तथा दुःखाश्रु एक साथ बह चले। उसमें बोलने की शक्ति अब नहीं रही। जो कुछ बोलने का प्रयत्न करती थी सो अनुनासिक, विकल और दीन स्वरमय होने से दूसरों की समझ में आता ही नहीं था। परन्तु करुणामय गुरु के लिए कुछ भी असाध्य नहीं था। उन्होंने उत्तर दिया :

"बहन ! मेरी प्यारी बहन ! दुःख मत करो। नहीं, मैंने देरी नहीं की। यही मेरे आने का समय था। यदि उस समय मैं आया होता, तो मेरा आना विफल होता; क्योंकि तुम उस समय कुशल-मार्ग पर चलने को तैयार नहीं होतीं। मैं तुम्हारे सौभाग्य का इच्छुक नहीं हूँ; मेरे बन्धुत्व का समय अब आया है।"

इस प्रकार करुणामृत-सिक्त उपदेश और आनन्ददायक पवित्र स्पर्शन से उपगुप्त ने उसको उन्नति के पथ पर उठाया। और :

"चोर द्वारा हरण न किया जा सके ऐसा शाश्वत शान्तिधन और अनंग के बाणों से वेधित न होनेवाली मानसिक कान्ति वासवदत्ता को प्रदान की।"

तदनन्तर, उपगुप्त अंगुलिमाल का उदाहरण देकर उसको आश्वासन देते हैं। उस आश्वासन में वासवदत्ता शाश्वत शान्ति प्राप्त करती है। परिचारिका और उपगुप्त मिलकर, उन विच्छिन्न अवयवों को एकत्रित करके अन्त्येष्टि-क्रिया करते हैं। स्वामिनी का शरीर जब भस्मावशेष हो जाता है तब रोती हुई परिचारिका को किसी प्रकार सान्त्वना देकर उपगुप्त वापस भेजते हैं। वे स्वयं मथुरा के मुख्य सौन्दर्यधाम की भस्मराशि को देखते रहते हैं। उनकी आँखों से एक अश्रुविन्दु उस भस्म में गिर जाता है—करुणा का एक अमूल्य मुक्ता-फल !!!

'ग्रामवृक्षत्तिले कुयिल' (ग्रामवृक्ष की कोयल) आशान् की एक दूसरी श्रेष्ठ कविता है। तत्वचिन्ता और लोकतत्वों के समावेश ने इसको

केरल भाषा-साहित्य में एक अनोखा स्थान प्रदान किया है। आशान् के जीवन में आई हुई एक विषम परिस्थिति से प्रेरित यह खण्डकाव्य स्वानुभव की तन्मयता से भी अनिन्द्य सुन्दर बन गया है।

बालरामायणं, बुद्ध चरितं, आदि अनेक काव्यों की भी रचना आशान् ने की है। 'पुष्पवाटी' तथा 'मणिमाला', इनकी छोटी-छोटी कृतियों के संग्रह हैं। बालकोपयोगी अनेक सुन्दर सरल कविताएँ इन्होंने रची हैं। अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली में विद्याध्ययन किये हुए, पाश्चात्य संस्कारों के अनुकरण-युग में पले आधुनिक युवकों के मुखों में भी आशान् की कविता विहार करती है, यही उनकी कविता की विशिष्टता का प्रमाण माना जा सकता है।

'परुक्केट्ट कुट्टि' (घायल शिशु), पूक्कालं (वसन्त), तोट्टत्तिले एट्टुकाली (उपवन में मकड़ी), कोच्चु किलि (छोटी चिड़िया), आदि इस प्रकार की रचनाओं के उदाहरण हैं। प्रत्येक रचना, उद्धृत और अनुवाद करने योग्य है। कम-से-कम एक उदाहरण तो देने का लोभ संवरण नहीं किया जाता।

एक बालक पाठशाला जाने के लिए निकलता है और एक चिड़िया को देखकर खड़ा हो जाता है। उसका खेलना, इधर-उधर फुदकना, उसकी निश्चिन्तता आदि देखकर वह मुग्ध हो जाता है और पूछने लगता है :

"क्यों, मेरी चिड़िया, तुम इस तरह खेल में लगी हो ? तुम्हें किसी दुःख का पता भी नहीं है ! क्या तुम्हें शाला में पढ़ने भी नहीं जाना ?"

यह प्रश्न करते-करते सहसा उसे याद आता है—'अरे, शाला को देरी हो गई !' और वह कहता है :

"सुन्दर पंखों वाली प्यारी चिड़िया ! तुम्हारे खेलों में कोई रोक-टोक नहीं है। तुम्हारे खेलों को देखकर मेरा जी भी खेलने को होता है—ललचाता है। मगर मुझे तो पढ़ने जाना है। मैं तो छोटी चिड़िया नहीं बना ! अच्छा, जाता हूँ !"

इस तरह कहता हुआ बालक अनमना-सा चला जाता है। इस लीला-इच्छुक कुमार का पीछे मुड़-मुड़कर देखते हुए भी आगे चलते जाना क्या हम अपने मनोदर्पण में देख नहीं सकते ?

'चोट खाया हुआ बालक' एक दूसरी कविता है। नटखट बालक अपने छोटे-छोटे अंगों में चोट लगाकर रोआसे मुँह और रोआसे ओठों, आँखों से बड़े-बड़े मोती ढालता हुआ माँ के पास जाता है। माँ उसे देखकर कहती है :

"मेरे लाल ! मत रो ! मैं यह आई ! भौंहें चढ़ाकर, ओंठों को तिरछे करके, हिचकियाँ ले-लेकर क्यों रोता है, मेरा मुन्ना ! मत रो, मैं अभी आई"!

"ओह ! गुलाब के फूलों के छोटे-छोटे काँटे लगनें से ये प्यारी-प्यारी अंगुलियाँ कट गईं ? और अकेला ही आम के उस नन्हे-से पेड़ पर चढ़ा था सो गिर पड़ा ? और घुटने में भी चोट आ गई ?"

"अरे रे ! ऊपर से यह तसवीर गिरा दी तो इस प्यारे-प्यारे नन्हे-से सिर में भी चोट आ गई ? और पलंग से कूदता-कूदता गिर पड़ा, तो नन्हे-से गाल से खून बहने लगा ? ओह ! मेरे मुन्नू !"

"डर मत, राजा मुन्ना ! मैं तुझे मारूंगी नहीं। मत रो ! यह दर्द तो अभी भाग जायगा। मेरे भोले बच्चू, चोट तो तूने खेल-कूदकर लगाई है न ? यह तो तेरा गहना है !"

"इस प्रकार कहती हुई अम्माँ ने अपने लाल को गोद में उठा लिया और जैसे भौंरा खिले हुए फूलों को चूसता है वैसे ही उसकी एक-एक चोट को चूम लिया। शिशु मेघ-मुक्त चन्द्र के समान खिल उठा।"

: १३ :

आधुनिक कवि-परम्परा—२

क्रान्तिकारी साहित्य का सूत्रपात

उन्नीसवीं शताब्दी की 'कवि-त्रिमूर्ति' में से कुमारन् आशान् की कृतियों का परिचय हमने पा लिया है; शेष दो—उल्लूर परमेश्वर अय्यर और वल्लत्तोल नारायण मेनवन् से भी हम अपरिचित नहीं हैं।

इन तीनों महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करने पर कुछ ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि—यदि उल्लूर की कविता तरंग-संकुल, विस्तृत, विशाल रत्नाकर है तो वल्लत्तोल की कविता सुरभित सुमनों से मंजरी-समूह का भ्रम उत्पन्न करने वाली, फल-भार-नम्र तरु-गुल्मों से अलंकृत, कोकी-कोकिल एवं शुक-शारिकाओं के कल-कूजन से मुखरित उपवन है। परन्तु आशान् की कविता नित्य-सौन्दर्य और नित्यानन्द का अनन्त स्रोत है—प्रशान्त-सुन्दर, प्रौढ़-गम्भीर तथा आलोचनामृत-तत्वरत्न-नक्षत्रजाल और लोक-रहस्य मुक्ताफलों की मालाओं और तोरणों से अलंकृत अनन्त अम्बरतल है। इस अम्बरतल का किंचित् अवलोकन हमने कर लिया है; अब तरंगोल्लसित महासागर में घुटनों तक पैठकर, एक लहर शिर पर ले लेने के उपरान्त, उपवन की शोभा-सुरभि का आनन्द लेंगे।

महाकवि उल्लूर : उल्लूर परमेश्वर अय्यर, स्वप्रयत्न से उन्नति प्राप्त किये हुए पुरुषार्थी थे। इनका जन्म एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार में हुआ। पिता अध्यापक थे। बाल्यावस्था में ही पितृमरण हो जाने से कुटुम्ब-पालन का भार बालक परमेश्वरन् पर आ पड़ा। परन्तु ये

पठन, पाठन तथा जीविकोपार्जन तीनों कर्तव्य एक साथ निभाते रहे। अपनी बुद्धि और प्रयत्नशीलता के कारण पण्डित-वरेण्य श्री केरलवर्मा देव के प्रियपात्र बनने का अवसर इन्हें मिला। साहित्य-क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त करने का मार्ग भी इस प्रकार खुल गया। धीरे-धीरे मलयालम् और तमिल में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की।

युवावस्था में ही परमेश्वर अय्यर अच्छी कविता लिखने लगे थे। 'उमाकेरलं' महाकाव्य का अध्ययन हम कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त वे अनेक खण्डकाव्यों और छोटी-छोटी कविताओं के भी रचयिता हैं। पिङ्गला, मृणालिनी, तत्वोपदेशं, कर्णभूषणं, भक्तिदीपिका आदि खण्ड-काव्य और तारहारं, किरणावली, कल्पशाखी, रत्नमाला आदि संकलन भी इनकी रचनाएँ हैं। ये अनेक गद्य-कृतियों के भी प्रणेता हैं। उनकी चर्चा तत्सम्बन्धी प्रकरण में की जायगी।

'उल्लूर' की कविताओं की विशेषता कविता-गुण से अधिक शब्द-भण्डार के रूप में है। जहाँ एक वाक्य से ही अर्थ स्पष्ट हो सकता है, वहाँ लम्बा भाषण दे डालने का स्वभाव इनकी प्रत्येक कविता में दिखाई देता है। कुछ कवियों के लिए कविता स्वतःसिद्ध काव्यशक्ति के कारण 'स्वयं-वश्या' होती है; कुछ लोग अभ्यास से उसे वशवर्तिनी बना लेते हैं। आशान् प्रथम श्रेणी में आते हैं। कविता उनके सामने आज्ञानुवर्तिनी शिष्या मालूम पड़ती है। प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक दृश्य में, आशान् कविता ही देख पाते हैं और उनका हृदय द्रवित होकर उससे कविता-निर्झरिणी अनर्गल रूप से बहने लगती है। परन्तु उल्लूर की कविताओं में यह प्रवाह वैसा सहज नहीं दीखता। उनमें कवित्व से अधिक ज्ञान तथा वैदुष्य का विहार दिखलाई पड़ता है। अभ्यास से उनकी शैली तथा रीति सुधरती गई है।

महाभारत और भागवत में कथित पिङ्गला वेश्या की कहानी उल्लूर की 'पिङ्गला' का इतिवृत्त है। विदेह की राजधानी में पिङ्गला नामक एक वेश्या थी। एक रात को किसी पुरुष के न आने से विरक्त

होकर उसने अपने चरित्र पर दृष्टिपात किया और उसमें पापराशि देख कर वह विह्वल हो उठी। प्रभात होने पर उसका जीवन ही बदल गया। उसने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों को दान कर दी और वह काषाय वस्त्र धारण करके श्रीरामचन्द्र की भक्ता संन्यासिनी बन गई। कवि ने इस कथा को शब्द-स्वारस्य और वर्णना-चातुर्य से एक सुन्दर काव्य का रूप दे दिया है।

'कर्णभूषणं' महारथी कर्ण के पास देवेन्द्र के याचक बनकर आने के प्रसंग को लेकर लिखा गया है। कौरव-पाण्डव युद्ध मूर्धन्य दशा में पहुँच चुका था। भीष्म शरशैया में पड़े थे। द्रोण का निधन भी हो चुका था। दूसरे दिन प्रातः कर्ण कौरव-सेना के सेनापति बनने वाले थे। उनका निश्चय था कि अर्जुन का वध करेंगे और युधिष्ठिर को बन्धनस्थ करके अपने स्वामी सुयोधन के चरणों में उपस्थित करेंगे। अर्जुन के पिता इन्द्र तथा कर्ण के पिता सूर्य दोनों ने यह बात जान ली। अपने पुत्रों की रक्षा के लिए दोनों देवों के हृदय व्यग्र होने लगे। कर्ण की दानवीरता और इन्द्र की हीनता समझने वाले सूर्यदेव पुत्र के पास आये।

सूर्यदेव को देखकर मानो अन्तरात्मा की प्रेरणा से कर्ण कहता है—"मैं एक अज्ञ क्षत्रिय हूँ, पाप-पथ का पथिक हूँ; परन्तु मेरे पास एक औषध है। किसी भी समय कोई कुछ भी माँगे, मैं उसको वह दे देता हूँ। मेरा प्राण ही नहीं, उससे भी बढ़कर कोई वस्तु माँगे तो भी मैं दे दूँगा। मेरा समस्त पाप उस दानरूपी गंगाजल से धुल जाता है। यही एक गुण, कालमेघ में बिजली की तरह, मुझ में है।"

आदित्य स्पष्ट रूप से पूर्व-वृत्तान्त सुनाकर कर्ण को बताते हैं कि उसके पिता स्वयं वे ही हैं और माता कुन्तीदेवी हैं, वह सूत-पुत्र नहीं है। इस प्रसंग पर सूर्य उद्गार व्यक्त करते हैं :

"क्षीराब्धि की सन्तान पारिजात गोष्पद की जलराशि में कैसे जन्म ले सकता है ?"

कुन्ती की मन्त्रपरीक्षा, सूर्यप्राप्ति, कर्णोत्पत्ति, भय-लज्जादि विकारों से प्रेरित शिशु-त्याग आदि सारी बातें कर्ण जान लेता है। स्वपुत्र की रक्षा के लिए सूर्य ने जो कवच और कुण्डल जन्मकाल में ही दिये थे, उनसे ही वह मृत्यु से बचकर सूत अधिरथ के घर पहुँचा था। सूर्य कहते हैं—"विधि ने तुम्हारे ललाट में कुछ भी लिखा हो, पाण्डवों को श्रीकृष्ण कैसी भी सहायता करें, जबतक ये कवच तथा कुण्डल तुम्हारे पास रहेंगे तबतक तुम्हारी किसी प्रकार पराजय नहीं हो सकती।" यह लम्बा प्रभाषण सुनने के बाद भी वीर कर्ण के मुख में न पहले से अधिक विकास हुआ, न शुष्कता या म्लानता ही आई। कर्ण अपने धर्म को छोड़ने वाला कायर नहीं था। सूर्यदेव बोलते ही गये :

"जिस दिन तुम्हारे भाई अन्तक अपने दूतों को अर्जुन को लाने के लिए भेजें उसी दिन गाण्डीव की हुंकार शान्त हो जानी चाहिए। उस दिन वीरवर अर्जुन का शरीर एक पाव राख ही रह जायगा।"

"किन्तु, इस आशा को नष्ट करने के लिए इन्द्र प्रयत्न कर रहा है। याचक बनकर वह तुम्हारे पास आयगा और कवच-कुण्डलों की भिक्षा माँगेगा। स्मरण रखना—

"अपने को भी भूल कर जो मनुष्य दान करता है, वह मूर्ख और आत्मघातक है। सागर भी मर्यादा रखने से ही शोभा पाता है। सद्‌गुणों की भी सीमा होनी चाहिए।"

पुत्रवात्सल्य की यह गरिमा! भासुर प्रकाशवान सूर्यदेव भी कैसी कलंक-कालिमा का वमन करते हैं! वे कहते ही जाते हैं :

"दंष्ट्रा निकल जाने के बाद सिंह भी परिहास के योग्य बन जाता है। तुम कवच और कुण्डल दे दोगे, तो तुम्हें सहोदर-त्याग का पाप लगेगा···"

वे तरह-तरह के तर्कों से अपना मन्तव्य प्रमाणित करते हैं और सब प्रकार के न्याय सामने रखने के बाद अपने पुत्र का मुख देखने लगते हैं। परन्तु वहाँ अवश्यंभावी निराशा का ही लक्षण उनको मिलता है।

आदित्यदेव के इस लम्बे प्रभाषरण का युक्तियुक्त उत्तर है—'कर्ण-भूषणं' का उत्तरार्ध। 'उल्लूर' का वाग्मित्व और शब्द-सामर्थ्य इस भाग में मानो सारी सीमा पार करके प्रकट हुआ है। अन्त में कर्ण कहता है:

"नाट्यशाला में बैठकर अभिनय देखने वाले मुझको नेपथ्य में क्या होता है, क्या नहीं होता, जानने की आवश्यकता क्या है? कोई भी पात्र या वेष आयें, मुझे सब एकसे प्रिय हैं।...वासरेश्वरी विकसित कमल-पुष्प से अलंकृत है तो रात्रि अन्धकार-रूपी वेणी से सुसज्जित है। मुझे प्रपञ्च की इन दोनों छायाओं की आवश्यकता है। सत्पात्र को दान करके पुण्यशाली बन जाने के बाद मुझे चाहिए ही क्या? पूर्णरूप से विवक्षित अर्थ को समझा देने के बाद वाक्य का उद्देश्य शेष क्या रह जाता है? उसके बाद पूर्ण विराम ही उचित है।"

'उल्लूर' कविता को चाहे जहाँ, चाहे जैसा खींचकर ले जाते हैं। दुरूह आशय को अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट करना, प्रत्येक प्रस्ताव को, वह असाधु ही क्यों न हो, युक्ति-युक्त तर्कों से स्थापित करना और अलंकारमय, शब्दाडम्बरपूर्ण भाषा में लम्बे-लम्बे प्रभाषण दे डालना उनकी विशेषता है। प्राचीन आशयों को नवीन शैली में और नवीनतम आशयों को प्राचीन शैलियों में प्रस्तुत करके अनुवाचकों को आश्चर्यचकित करने में उल्लूर अति समर्थ मालूम होते हैं। शब्दाडम्बर की प्रीति कभी-कभी तो इतनी बढ़ जाती है कि विषय, काव्य-सौन्दर्य, आशय-गाम्भीर्य आदि सभी उस शब्द-प्रवाह में डूब जाते हैं।

'किरणावली' 'तरंगिणी' आदि कविता-संग्रह भी ऐसे ही आकर्षक तथा मनोहारी हैं। इन कविताओं में कवि ने सुन्दर, चामत्कारिक भाषा में नव-नव आशयों को प्रस्तुत किया है। "एक उद्‌बोधन", "दत्तापहारं", "ह्रीरा" आदि कविताएँ इसके उदाहरण हैं। उद्‌बोधन में, कवि जीवन-युद्ध में पराजित योद्धा को सम्बोधित करके कहते हैं:

"जीवन-युद्ध में हारे हुए हे युवक! मेरे चिरंजीव! तुम कैसे इतिकर्तव्यतामूढ होकर खड़े हो! मेरे भाई! इस प्रकार क्षीण मत हो

जाओ ! थको मत ! तुम पुरुष-चैतन्य के अंकुर हो ।"

"शिर पर हाथ रख कर नीचे देखते हुए मत बैठो ! रीढ़ जरा भी न झुकने दो। धीरता से आगे बढ़ते चले जाओ। जय और पराजय युद्धभूमि में स्वाभाविक हैं। यह संसाररूपी रणांगण भी उनसे रहित नहीं है। सोचने की बात केवल इतनी ही है कि तुमने किस वस्तु के लिए कैसा युद्ध किया। भलाई के लिए सामने खड़े होकर, धर्म-युद्ध करके पराजित भी हो गये, तो क्या हानि है ? अन्त में उस पराजय को ही लोग जय मान लेंगे।"

तरंगिणी' नामक संग्रह की एक तरंग है—'दत्तापहारं'। औरंगज़ेब के शासन-काल में हिन्दू और सिख लोगों का. धर्म-परिवर्तन कराने के जो प्रयत्न हुए उनका एक उदाहरण इसका इतिवृत्त है। हरदत्त नामक दशवर्षीय बालक को बादशाह के सेवक पकड़कर ले जाते हैं और अपना धर्म बदलने को तैयार न होने से उसको शूली पर चढ़ाने का आदेश देकर बादशाह सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब वधिक उसे ले जाते हैं, तब मार्ग में बालक की जननी उससे प्रार्थना करती है कि "यह ज़िद छोड़ दो; मेरे लिए—अपनी माँ के लिए—ही अपने प्राणों को बचाओ!" माँ की इस प्रार्थना पर हरदत्त का उतर किसी भी भारतीय को रोमांचित और गौरवान्वित करनेवाला है :

"माँ ! आपको मैं पहचानता नहीं। मेरी माँ तो पुत्र-वात्सल्य का मर्म जानने वाली है। उस माँ ने केवल पाँच वर्ष के ध्रुवकुमार के लिए भगवान् को हस्तामलक बना दिया था। उस जननी के नाम पर प्राण छोड़ना मैं जन्मसाफल्य समझता हूँ।"

"आत्मा को बेचकर, आत्मा का नाश करके, आत्मा का द्रोह करके, नौ जगह टूटे हुए इस मिट्टी के पिण्ड को मैं खरीदना नहीं चाहता। प्राण-रूपी अनिल का मैं इतना मूल्य नहीं देखता। कितनी भी सावधानी से कोई सम्हाले, वह इस मूल्य के योग्य नहीं है।"

इस प्रकार, समझाने के बाद बालक अन्त में कहता है :

"केवल मृतपिण्ड के समान निष्प्राण होकर इस लोक में रहूँ, या पौरुष के साथ परलोक में सुख अनुभव करूँ ? क्या उचित है ? माँ आप आज्ञा दीजिये; 'दत्त' माँ की आज्ञा का पालन करेगा।"

इसका उत्तर माँ क्या देती ? "मेरा उदर तुम्हारे योग्य नहीं था, मेरे लाल !" कहती हुई, पुत्र को हृदयपूर्वक आशीर्वाद देकर, टूटते हुए हृदय के साथ वह लौट गई और दत्त ने शूली पर आरोहण करके आत्मप्राप्ति की।

'चित्रशाला' उल्लूर का एक अन्य खण्डकाव्य है। मिस मेयो की 'मदर इन्दिया' जब प्रकाशित हुई उस समय भारतीय स्त्रियों के बारे में उत्तर देते हुए लिखी गई थी यह कविता। भारत में पुरुष से सदा स्त्री ही उन्नत रही। इसका उदाहरण देते हुए एक चित्रपट खोलकर कवि अनुवाचकों को दिखाते हैं। हिमवत्पुत्र मैनाक और उनकी भगिनी उमा, द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न और उनकी बहन द्रौपदी, इस प्रकार तारतम्य चलता है और अन्त में कवि अमरीकन बहनों से कहता है कि—बाह्य दर्शन से हम मुग्ध और मतिभ्रष्ट नहीं होते। आप भी ऊपरी दृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि को जाग्रत करके देखिए, तब आप को मालूम होगा कि भारतीय वनिता का महत्व क्या है !

महाकवि वल्लत्तोल : इसी श्रेणी के तीसरे कवि हैं श्री वल्लत्तोल नारायण मेनवन्। इस महाकवि का नाम भारतीय जनता के लिए अपरिचित नहीं है। 'कलामण्डल' के स्थापक, 'कथकलि' के पुनरुद्धारक, महान् कवि आदि विविध रूपों में इनका नाम सुप्रसिद्ध है। इस कवि-कोकिल की कण्ठमाधुरी, आशान् के जीवन-काल में ही कैरली को आनन्दलहरी में निमज्जित कराने लगी थी। उसके बाद आजतक इन्होंने अनेकानेक कविता-हार कैरली-कण्ठ को अर्पित किये हैं। उनमें से उत्तम काव्य-तल्लजों को चुनकर केवल उनका संक्षिप्त अध्ययन कर लेना भी इन पृष्ठों में साध्य नहीं है। इनके महाकाव्य 'चित्रयोग' का उल्लेख तो

महाकाव्यों के परिचय में किया जा चुका है। यहाँ खण्ड-काव्य और लघुकृतियों के समाहारों की चर्चा ही करेंगे।

आशान् की 'करुणा' और उल्लूर की 'पिङ्गला' के समान एक गणिका की ही कहानी को उपजीवित करके इस महाकवि ने **'मग्दलन-मरियं'** नाम का काव्य निर्मित किया। 'मेरी मग्दलीन' की प्रसिद्ध कथा बाइबिल में है। अनिन्द्यसुन्दर और निसर्गमधुर वर्णन-पटुता और वासना-वैभव इस कृति में प्रत्यक्ष है।

'बन्धनस्थनाय अनिरुद्धन्' एक खण्डकाव्य है। पुराणों में सुप्रसिद्ध 'उषा-अनिरुद्ध' की कथा इसका आधार है। उषा के साथ अनिरुद्ध को देखकर राजा बाण क्रुद्ध हो जाता है, और उसकी आज्ञा से अनिरुद्ध को कारागृह में बद्ध किया जाता है। उषा की प्रार्थना से मन्त्री कुंभाण्ड अपनी वात्सल्य-पात्र कुमारी के पास पहुँचता है। कथारम्भ इस प्रसंग से ही होता है। प्रथम श्लोक कवि के मनोविज्ञान-नैपुण्य का द्योतक है:

"माया-युद्ध में बहुत से भटजनों ने मिलकर एकाकी अनिरुद्ध को अति क्षीण करके हराया। उसके बाद, बाण का वृद्ध सचिव, उषा की सखी के निवेदन करने के कारण, उषा के पास कन्यागृह में आया।"

एक ही श्लोक से सारी पूर्वकथा और वर्तमान अवस्था वाचकों के सामने स्पष्ट कर दी गई। आगे के तीन-चार पद्यों से मन्त्री का वयोवृद्धत्व, उषा की निस्सहायता, उसकी 'विविध विकारस्तोम' से तरलित हृदयावस्था आदि का वर्णन करके कवि पूछता है—"बुद्धि को विमूढ़ करने वाले विविध विकारों से परिभूत वह बालिका पिता के समान आदरणीय वृद्ध मन्त्री से क्या कहती है?" उसने मन्त्री का स्वागत किया:

> **"हा ! जन्य सीम्नि पल योधगणत्ते उट्ट—**
> **य्कोजस्सु कोण्टु विमथिच्च युवावु तन्ने ।**
> **व्याजप्पयट्टिल् विजयिच्चरुड़ुन्न दैत्य-**
> **राजन्नेड़ु सचिवपुंगव ! मंगलं ते !"**

अर्थात्—"हा ! जिसने युद्ध-भूमि पर अकेले, अपनी तेजस्विता-मात्र से अनेक योद्धाओं को हरा दिया, उस वीर युवक को कपटमय युद्ध द्वारा बन्धनस्थ करके विजय-दम्भ करने वाले महाराजा के मन्त्रिवर्य ! आपका स्वागत है !"

इस व्यंग्य, इस तीक्ष्ण वाग्शर के बाद भी उषा शान्त नहीं हुई। उसका उपालम्भ जारी ही रहा। "जिसने अपराध किया उसे छोड़ दिया, और किसी अन्य को पकड़कर दण्ड दिया !! आजतक अपनी प्रजा को अधर्म से बचाने वाले आपकी यही नीति है ? आर्यपुत्र स्वयं यहां नहीं आये। मैंने आदमी भेजकर उन्हें यहाँ बुलाया है। मुझे दण्ड न देकर उन्हें कारागृह में डालना कहाँ का न्याय है ?" इस प्रकार उसका हृदयोद्वेग शब्द-प्रवाह के रूप में निकलता ही चला गया। जब वह जरा शान्त हुई, तब एक दीर्घ निश्वास के साथ वृद्ध उसको सान्त्वना देने लगे :

"तुम्हारा अनघ अनुराग सफलता प्राप्त करेगा ही। परन्तु, तुम समझदार हो, बेटी ! यह तो सोचो, तुम्हारे पिता राजा हैं और उनकी सम्पत्ति यश है। उनको लोकापवाद का विचार करना परम आवश्यक है न ? तुम थोड़े दिन और ठहर जाओ। सब ठीक करा दूँगा। पिताजी का क्रोध ठण्डा होने दो।"

इस प्रकार सान्त्वना देकर जब वृद्ध इस आशा से चलने लगे कि उषा आश्वस्त हो गई होगी, तब उषा ने मानो बमगोला ही उनके ऊपर छोड़ दिया :

"शोकगर्त में पतित उषा के जीवित रहने की इच्छा यदि किसी को है तो प्रिय के पास एकाकी जाने की अनुमति मुझे अभी दी जाय।"

कुंभाण्ड चौंक गया। उसे स्वप्न में भी यह शंका नहीं थी कि उषा इस प्रकार की प्रार्थना करेगी। जिस व्यक्ति को अनुचित आचरण के लिए राजा ने दण्ड दिया, उसीसे मिलने के लिए राजपुत्री को कैसे अनुमति दें ? मन्त्री के हृदय में नृप के प्रति श्रद्धा और कुमारी के प्रति सहानु-

भूति के बीच घोर संघर्ष छिड़ गया। अन्त में उषा के अनुराग ने ही विजय पाई। उसकी इच्छा के अनुसार आज्ञा मिल गई।

कारागृह में अनिरुद्ध की वर्णना कवि के सार्वभौमत्व की विजय-पताका ही है :

"वह सत्यनिधि जिस तरह ऐश्वर्यलक्ष्मी के निधान अपने पितामह की द्वारकापुरी में रहता था वैसी ही स्वच्छन्दता से उस कारागृह में भी रहता था।" और सुनिये :

"अनिरुद्ध उस अन्धेरे तलघर में बैठा है—हाय ! मिट्टी के घड़े में रखा मणिदीप ! भयानक श्मशान में लगाई गई रसालवृक्ष की छोटी सी शाखा ! धुएँ में डाली गई लाई ! कूड़े में पड़े शालग्राम ! अथवा, बिगड़ी ग्रहदशा में फँसा हुआ भाग्य !"

उषा अनिरुद्ध के पास गई, और उसकी उस अवस्था को देखकर वर्द्धित शोकावेग से प्रिय के अंकतल पर गिर पड़ी। प्यार के साथ अनिरुद्ध ने उसका स्वागत किया। परन्तु, प्रेम के मोह में पड़कर औचित्य भूलने वाला नहीं था वह वीरकुमार। उसका प्रथम प्रश्न ही औचित्य-दीक्षा का द्योतक था। उसने पूछा :

"यह क्या बात है ? गुरुजनों की आज्ञा की गणना न करके, मेरी रानी ! तुम इस अपराधी के पास कैसे आ गईं ?" प्रेयसी की दशा देख कर अनिरुद्ध विह्वल हो उठता है :

"वीर असुर-भटों के शत-शत शस्त्र लगने की पीड़ा सचमुच अभी मुझे महसूस हो रही है; क्योंकि इस पीड़ा के कारण ही तो वासुदेव के पुत्र की स्नुषाने इस प्रकार व्याकुलता के साथ विकृत वेष में बन्धन-गृह में प्रवेश किया !"

वह बहुत समझा कर प्रियतमा को लौट जाने का आदेश देता है। परन्तु जब उषा उत्तर देती है कि, "आप भी मेरे साथ ही चलिए," तो उस कुलीन कुमार का भाव ही बदल जाता है। उसका उत्तर किसी भी अभिमानी वीर के लिए पुलकोद्गमकारी है : **"क्या तुम्हारा पति कोई**

चोर है कि वह छिपकर कारागृह से भाग जाय ?"

और कहता है : "**यदुवंश की वधू ! तुम अनुराग-भार के अधीन होकर, वीर-वनिता का आदर्श मत छोड़ो। मुझे कारागृह से मुक्त करने के लिए तुम्हारे नवीन बन्धुजन शीघ्र ही आयेंगे।"**

"वे आदरणीय जन तुम्हारे पिता को अपने जामाता की कुलीनता और पौरुष का प्रमाण उचित रीति से देकर प्रेम योग्य भवती को जय-लक्ष्मी के समान द्वारका ले जायँगे।"

इस प्रकार समझाकर कि हम दोनों ही पितृजनों की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले न बनें, वह उषा को वापस भेज देता है।

पुराण-कथा से चुनी गई एक अन्य कथा के आधार पर वल्लत्तोल ने 'शिष्यनुं मकनुं' नाम का खण्ड-कव्य रचा। श्री शंकरभगवान् के शिष्य भार्गवराम तथा पुत्र गणेश दोनों के बीच हुए एक छोटे से केलि-युद्ध में वह शिष्योत्तम अपने परशु से गुरुपुत्र गणेश का एक दाँत तोड़ देता है। इसी के आधार पर यह कृति रची गई है।

एक प्रभात में कैलास के मार्ग से एक ब्रह्म-क्षत्र-तेजोयुक्त युवक जाता दिखाई दे रहा है। उस पौरुष-मूर्ति राम का छायाचित्र कवि के शब्दों में और उज्वल बन जाता है। वह चलता-चलता उस मणि-मन्दिर के द्वार पर पहुँचता है जिस पर हेरंब तथा कार्तिकेय प्रहरी बन कर खड़े हैं। सतीर्थ्य तथा भ्राता होने से दोनों भाई भार्गवराम से मिलने को आगे बढ़ते हैं। लेकिन कार्यभार से व्यस्त भार्गव ने :

" 'अभी खेल और विनोद के लिए समय नहीं है। मुझे काम है' इस प्रकार रूखे स्वर में कहते हुए पार्वतीसुत के आलिंगन-हस्तों को दूर कर दिया।"

कार्तिकेय का शान्तिमय निवेदन या गणेश का विनोदमय तर्क राम को रोक नहीं सका। तो :

"छोड़ो ! मुझे जाने दो !" "नहीं छोड़ूँगा, अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते !" "छिः ! यह वक्रता परशुराम को दिखा रहे हो ?" इस

प्रकार ब्राह्मण तथा देव के बीच वाग्युद्ध और उसके साथ-साथ हाथापाई भी शुरू होगई।

जब परशुराम का गर्व बढ़ता हुआ देखा, तब गणेश ने भी अपनी सूँड़ से उनको पकड़कर उठाया और आकाश में एक चक्रवर्तुल घुमाकर नीचे खड़ा कर दिया। परन्तु, देव ने मदापहरण के उद्देश्य से जो किया उसका फल जैसा उन्होंने चाहा वैसा नहीं हुआ। क्योंकि, कवि कहता है:

"किसी से भी, देवगणों से भी, पराभव सहने का अभ्यस्त नहीं था भारत के पुरातन महापुरुषों का रक्त !"

उस द्वन्द्वयुद्ध ने गणेशजी को एकदन्त बनाया। गजास्य का दांत गिरने से और उनके घायल होने से भगवत्-पार्षदों के बीच में कोलाहल मच गया। शिव और पार्वती वहाँ आ पहुँचे। पुत्र और शिष्य को उस हालत में देखकर भगवान् किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। देवी के क्रोध की सीमा नहीं रही। पति को उन्होंने पुत्रवात्सल्य से प्रेरित होकर बहुत-कुछ सुनाया। इतने में, एक नाद-लहरी वहाँ फैल गई। कवि कहता है:

"अनायास मिला हुआ, अनवद्य माधुर्यमय मुरलीनाद रूपी अमृत, कैलास शैल के अन्तरिक्ष में अखिल चराचर जगत् को मुग्ध करता हुआ बरसने लगा।"

पुत्र के दुःख से दुःखी अम्बिका भी अपना दुःख भूल गईं। दूसरे ही क्षण में एक युगल जोड़ी वहाँ प्रत्यक्ष हुई। प्रेमामृतवर्षी आँखों से सबको देखनेवाले उन दिव्य गोलोक-दम्पती के चरणों में सबने प्रणाम किया। कैलासेश्वर ने आनन्द के साथ श्रीधर और राधिका का स्वागत किया। राधिका ने गजास्य को जननी के जैसे वात्सल्य के साथ गोद में बिठाकर उस रक्तवर्षी घाव में अपना वरद हस्त फेरा। घाव का चिह्न तक वहाँ से मिट गया। उसके बाद वे श्रीगौरीदेवी की ओर देखकर मन्दहास के साथ कहने लगीं:

"बच्चे आपस में कुछ शरारत करें तो क्या माँ का इतना रुष्ट होना उचित है ? आर्ये ! जब से भार्गव तुम्हारे पति का शिष्य बना,

तब से वह तुम्हारा तीसरा पुत्र हो गया है।"

"इतना ही नहीं, यह तुम्हें पुत्रों से बढ़कर प्रिय होना चाहिए, क्योंकि यह बिना किसी पीड़ा के ही उपलब्ध पुत्र है।"

इस तरह आश्वासन-वचनों से सारी व्यथा और अमर्ष आदि को नष्ट करके उस शिवलोक में पूर्णतया शिवमय वातावरण की सृष्टि करने के बाद वे दोनों अन्तर्हित हो गये।

'गणपति' तथा 'पिता और पुत्री' आदि कृतियाँ भी पौराणिक इतिवृत्तों के आधार पर लिखी गई हैं। इन कृतियों के द्वारा वल्लत्तोल 'महाकवि' नाम से सुप्रतिष्ठित हुए। तथापि, इनकी शाश्वत प्रतिष्ठा का साधन इनकी लघुकृतियों के समाहार हैं। 'साहित्य मञ्जरी' सात भाग, 'स्त्री', 'विषुकणि' आदि इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं।

समय का परिवर्तन साहित्यकारों को विशेष प्रभावित करता है। भारत स्वतन्त्रता-समर में आकण्ठ मग्न हो चुका था। बंग-साहित्यान्तरिक्ष में इस स्वतन्त्रता-समर-काहल की प्रतिध्वनि गूँजने लगी। स्वामी विवेकानन्द के भाषण केरल तक भी पहुँचे। इस प्रेरणा का प्रथम प्रत्युत्तर 'वल्लत्तोल' कवि के हृदय से कविता-वाहिनी बनकर निकला। अस्पृश्यता, दासता आदि अनाचार, स्त्रियों की विवशता, श्रमजीवियों की दयनीयावस्था, किसानों का दाहक दारिद्रय आदि प्रश्न कवि के हृदय का मन्थन करने लगे। उस हृदय-मन्थन से निकली रत्नराशियाँ हैं, ये अनेक शत कविताएँ।

'काट्टेलियुड़े कत्तु' (पहाड़ी चूहे का पत्र) 'भारत स्त्रीकल् तन भावशुद्धि' आदि रचनाएँ राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य तथा राष्ट्राभिमान की लहरों का दिग्दर्शन कराने वाली हैं। छत्रपति शिवाजी महाराज ने एक समय जयसिंह को जो पत्र लिखा था वह है, 'पहाड़ी चूहे का पत्र।' वह पूरा ही यहाँ उद्धृत किया जाता है :

"हमारे रक्त से अपनी खड्गमुष्टि को रंगनेवाले दुष्ट, धर्मध्वंसक औरंगजेब की आज्ञा शिरोधार्य करके और अभिमानयुक्त पूर्वजों के

दिखाये राजपथ को छोड़कर क्या आप अपने भाई से लड़ने के लिए आ रहे हैं ? आश्चर्य है !"

"चारित्र्य-शुद्धि में अग्रिमस्थानार्ह हिन्दू भवनों को जिसने आक्रन्दनों से भर दिया, उस दुष्ट शत्रु के अधीन होकर हम भाई-भाई ही आपस में लड़ें और उसका जयस्तम्भ लगाने के लिए स्वरक्त से भूमि को आर्द्र करें, यह कहाँ तक उचित है ?"

"परस्पर स्पर्धा से बिलग होकर हम दो तरफ खड़े हो जाते हैं और विदेशी आक्रमणकारियों को विजय-प्रासाद में प्रवेश करने के लिए विस्तीर्ण राजमार्ग बना देते हैं। काश ! अपने विज्ञ और विवेकी पूर्वजों के समान हम भी कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़े होते ! तो, भारतवर्ष की रक्षा के लिए दूसरे प्रकार की आवश्यकता नहीं होती !"

"उस राजनामधारी दुर्मति के सामने बद्धाञ्जलि होकर खड़े होने के लिए ही ये दो शक्तिपूर्ण हाथ आपको मिले हैं ? हे बुद्धिशाली महाराज जयसिंह ! आप उन हाथों को आदेश दीजिए कि वे आयुध-धारण करें और अपने जन्मदेश को जंगल बनाने वाले व्याघ्रों का शिकार करें।"

"यदि इस देश में अपनी पताका फहराना चाहते हों तो आप अवश्य आइए। उसके लिए मैं अपना प्राणवायु भी देने के लिए तैयार हूँ। परन्तु, इस मदमत्त मुगल सरदार के पैरों से कुचलने के लिए दक्षिणापथ की धूल भी नहीं मिलेगी।"

"अनवधि दीन-अनाथों का मर्दन करने के आयास से जो पसीना निकलने लगा है, उससे मुगलों के हाथ के राजदण्ड फिसलने लगे हैं। इतना ही नहीं, भारतभूमि का किरीट धारण करने की योग्यता उस गोल, गंजे शिर में नहीं है। इस अनौचित्य को सुधारने के बाद यदि आवश्यक हुआ तो हम परस्पर युद्ध करेंगे।"

"यदि आपको यह स्वीकार नहीं है और म्लेच्छों से परिवृत्त यवनराज की सेवा करते हुए अपने भाइयों से लड़ना ही आप पसन्द करते हैं, तो मित्रवर ! स्वागत ! वीर राजपुत्रों के मुख्य नेता के योग्य

आतिथ्य मेरी भवानी (शिवाजी का खड्ग) करेगी।"

"क्षत्रियलक्ष्मी का अनुग्रह पाये मस्तक पर नीचों की आज्ञा धारण करने वाले मेरे मित्र ! अपने स्वामी से यह तो पूछ लीजिए कि 'इस प्रकार दलित-मर्दित हिन्दुओं के अश्रुप्रवाह से आर्द्र हुई भूमि पर, तुम्हारा सिंहासन कब तक टिक सकेगा ?' "

"अपनी जन्मभूमि, बन्धु-बांधव, धर्म, आचार आदि सब की रक्षा करने के लिए शिवाजी अपना खड्ग तब तक संचालित करता रहेगा, जब तक उसकी धमनियों में बहने वाले राजर्षियों के रक्त की एक बूँद भी शेष रहेगी !"

'भारतीय स्त्रियों की भावशुद्धि' में सम्राट हुमायूँ की उदारता का एक उदाहरण दिया गया है। एक हिन्दू महिला पर हुमायूँ आसक्त हो जाता है और उसका सेवक उस्मान उस स्त्री को बलात् सम्राट के सामने उपस्थित करता है। परन्तु जब हुमायूँ को मालूम होता है कि वह कन्यका नहीं, किसी की परिणीता सती है, तब उस महिला से विनम्रता के साथ पश्चात्ताप-भरे शब्दों में क्षमा माँगता है और पुत्री के समान वात्सल्य के साथ उसे उसके घर भेज देता है। अपने सेवक को उसके अपराध के लिए कारागृह में डलवा देता है। यह देखकर कि सम्राट सचमुच ही पितृतुल्य है, वह भारतीय नारी प्रार्थना करती है :

"यदि आप सचमुच मुझ पर प्रसन्न हैं तो इस सेवक का अपराध क्षमा कर दीजिए और इसे कारागार से मुक्त कर दीजिए—मनुष्य से अपराध हो ही जाता है !"

यह है भारतीय वनिता की भावशुद्धि ! दुष्ट के ऊपर भी दया करना ! अपकारी का भी उपकार करना।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, पौरस्त्य राज्यों में जो जागृति हुई, उसका प्रत्याघात केरल में भी हुआ। जनता को उसकी निस्सहायावस्था और निराशा से जगाने का एकमात्र उपाय उसे केरलभूमि तथा भारतभूमि की पुरातन महिमा हृदयग्राही रीति से सुनाना है, ऐसा समझकर वल्ल-

त्तोल उस कर्तव्य-निर्वहण के लिए बद्ध-परिकर हो गये। उस समय की उनकी प्रत्येक कृति में ऐसी ही पूर्वमहिमाओं के वर्णन और स्तुतिगीत सुनाई देते हैं। 'कर्मभूमियुटे पिञ्चुकाल', 'किलिक्कोञ्चल', 'एकचित्र' आदि-आदि कितनी ही कविताएँ सहृदय हृदयानन्दन करती हैं। इतना ही नहीं, यह भी कहना अतिरंजित न होगा कि हृदयहीन को भी हृदयालुता सिखाने की शक्ति उनकी कविताओं में है।

'कर्मभूमियुड़े पिञ्चुकाल' (कर्मभूमि का नन्हा-सा चरण) में 'कालिय-मर्दन' कथा का वर्णन है। विषय कोई नया तो नहीं है। परन्तु :

"अच्युत ! नदी में मत कूदो ! मत कूदो ! हम वन के तालाब में चलकर तैरेंगे।"

यह भय-शंकापूर्ण चेतावनी सुनते ही चौंककर हम रुक जाते हैं और सुनने लगते हैं। कालकूट विष से भरे कालियनाग का भय दिखा कर ग्वाल-बाल अपने सखा श्रीकृष्ण को नदी में कूदने से रोक रहे हैं। परन्तु वह तो कूद चुका है और तैरता ही जाता है। कहीं रुकता नहीं; आगे ही बढ़ता है। किसी जगह डूबता, किसी जगह तैरता कृष्ण मानो उस नदी में संसार-नाटक का अभिनय कर रहा है। सहस्रशाखी वृक्ष के समान सहस्र फनवाला कालिय उस शिशु के पास हुंकार करता हुआ आ ही पहुँचा। लेकिन बालकृष्ण तो उस नाग के फनों पर नृत्य करने लगा है ! कवि का हृदय नवनीत जैसा पिघलता दिखाई देता है। वह सोचने लगता है :

"इस भयानक सर्प का फनप्रदेश पत्थर से भी कठोर है।"

"उफ ! इस शिशु का पल्लव समान कोमल चरण, दुखेगा नहीं ? चोट नहीं आयेगी ?"

"अरे रे ! खून के छींटे उड़ रहे हैं ! बस करो मेरे कुमार ! बस करो यह साहस !"

बाल-गोपाल का नृत्य जारी है। क्रमशः सर्प थकता जाता है और श्रीकृष्ण उस भयानक विषधर की पूँछ को तालीपत्र से बने खिलौने की

पूँछ के समान खींचकर खेलते दिखाई देते हैं। अन्त में कालिय ने थक कर, मस्तक नवाकर, प्राणभिक्षा माँगी। विनम्र सेवक के समान उसने उस दिव्य शिशु को तट पर पहुँचा दिया। एक शान्ति का निश्वास भर कर, प्रसन्नता और आनन्द के साथ कवि बोल उठता है:

"तीनों भुवनों को ध्वस्त करके गर्व करने वाली दुष्टता! तुम कितना भी अपना शिर ऊँचा उठा कर फन फैलाओ, इस कर्मभूमि का एक नन्हा-सा पैर ही तुम्हें ठोकर मार कर अपनी जगह पर रखने के लिए पर्याप्त है!"

वर्तमान जीवन-समस्याओं में एक को भी कवि भूला नहीं। उसकी कविताओं में अन्याय और अत्याचार के प्रति अमर्ष, तथा शोचनीयावस्था में पड़े अधःकृत और विवश लोगों के प्रति प्रेम और करुणा उमड़ी पड़ती है। आशय-गांभीर्य और सरल-कोमल पदों के सन्निवेश से वल्लत्तोल की कविता सर्वजन प्रिय है, और सदा रहेगी।

बालकृष्ण पणिक्कर: वी० सी० बालकृष्ण पणिक्कर साहित्य-क्षेत्र में विद्युल्लता के समान क्षणभर के लिए आये, और अपने दिव्य तेज से लोक को चमका कर अन्तर्हित हो गये। उन्नीसवीं सदी के अन्त में जब केरलीय साहित्याराधक प्राचीन शृङ्खलाओं से छूटने के बारे में सोच ही रहे थे, तब ही इस कवि की कविताओं में अधुनातन काल के पुरोगमन प्रस्थान के योग्य आशय, रीति तथा प्रसाद-गुण हमको मिले। अपने छब्बीस वर्ष के स्वल्प जीवन में, सौ वर्षों का काम करके सिद्धि प्राप्त करने वाले युवा कवि का महत्त्व कैसे प्रकट किया जाय? इन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु में 'नागानन्द' नाम का मणि-प्रवाल काव्य लिखा। बाल्यकाल में ही अति सरस तथा विद्वत्व-द्योतक अनेक रचनाएँ कीं। इनकी जीवनी इने-गिने वाक्यों में लिखी गई है। सन् १८८९ में जन्म लिया। अठारह वर्ष की आयु में कोचीन में 'वनचक्रवर्ती' नाम से कुप्रसिद्ध चेट्टियार और उनके साथियों को लेख-शरवर्षा से भगाकर लेखक का स्थान पाया। इक्कीसवें वर्ष में सम्पादक बने। तीन वर्षों के

अन्दर ही महाकवि-सिंहासन के योग्य बन गये। कवनोद्यान में इस कवि मयूर ने केवल नौ ही वर्ष विहरण किया। सुन्दर, सुरभित, शोभामय काव्य-कुसुमों के अतिरिक्त, अनेकानेक नाटक तथा गद्यकाव्य भी इन्होंने कैरली साहिती के उपहार बनाये। आत्मविचार तथा मनुष्य को ऊपर उठाने वाले आशय इन कृतियों के विशेष अलंकार हैं।

कण्टूर नारायण मेनवन् : कण्टूर नारायण मेनवन् भाषासाहित्य में स्मरणीय कवि हैं। उनका 'नालु भाषा काव्यङ्ङल्' (चार भाषा-काव्य) अकेला ही उन्हें कविरत्न पद के योग्य सिद्ध करनेवाला है। इन्होंने शुद्ध मलयालम् में कविता रचने का नियम रखा था। उस एक ग्रन्थ में 'कोमप्पन्', 'कण्णन्', 'पाक्कनार', 'चेरिय शक्तन् तंपुरान्', ये चार खण्ड-काव्य संग्रहीत हैं। इन चारों कृतियों में संस्कृत शब्दों का उपयोग बिलकुल न होने पर भी कविता-सौन्दर्य या आशय-सम्पत्ति में कमी नहीं दिखाई देती। इस स्वभाषाभिमानी कवि ने ही यह स्थापित किया कि मलयाल भाषा संस्कृत का हाथ बिना पकड़े खड़ी सकती है। इन चारों काव्यों के इतिवृत्त पुरातन केरल के वीर-चरितों से लिये गये हैं।

'कोमप्पन्' कण्टूर के काव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। एक सम्पन्न, कुलीन परिवार की एकमात्र सन्तान 'कोमप्पन्', सात भाइयों की एकलौती बहन 'उण्णी' नाम की युवती को सहसा देख लेता है। प्रथम दर्शन में ही दोनों परस्पर आसक्त हो जाते हैं। परन्तु, उनका अनुरागसाफल्य सम्भव नहीं था; क्योंकि दोनों के परिवार कई पीढ़ियों से परस्पर शत्रुता पालते आ रहे थे। कन्दर्प तो अन्धा होता ही है। इसके अतिरिक्त, पारिवारिक शत्रुता सच्चे हृदयों को कैसे रोक सकती है? कोमप्पन् का मित्र चाप्पन् अति चतुर और बुद्धिमान था। उस प्रथम दर्शन की चक्षु-प्रीति को उसी समय उसने ताड़ लिया। उस समय का उन दोनों मित्रों का संभाषण सुनिये—**चाप्पन् ने कहा, 'मैंने भी देख लिया।'**

"कोमप्पन् ने कहा, 'तुम ने क्या देखा, बताओ तो सही!' चाप्पन ने उत्तर दिया, 'जो होना था सो हो गया। अब उपाय सोचना चाहिए'।"

इससे कम शब्दों में दो मित्रों के परस्पर प्रेम, इंगितज्ञता आदि का इतना स्पष्ट वर्णन अन्यत्र मिलता है ?

वह प्रणय बढ़ा। परन्तु 'उण्णी' के सातों भाई कोमप्पन् की हत्या करके उसका वंश नष्ट करने की प्रतिज्ञा किये हुए थे। उण्णी की बड़ी बहन भी उससे ईर्ष्या करती थी। एक दिन कोमप्पन् अपनी तलवार उण्णी के कमरे में भूल गया। कन्यागृह में पुरुष-प्रवेश की शंका से उण्णी को बड़ी बहन ने भ्रष्टा घोषित कर दिया। कोमप्पन् ने वृत्तान्त सुनकर, प्रियतमा को अपहरण करके बचाने का निश्चय किया।

घर से बाहर एक अलग कमरे में बैठाई गई उण्णी के पास कोम-प्पन् पहुँचता है, तब तक युद्ध की तैयारी के साथ बहुत से लोग भी आ जाते हैं।

"भटजन कितने भी आएँ तो भी मेरे लिए तृण समान है। परन्तु, हे मधु-भाषिणी! तुम्हारे कटाक्षप्रहार सहने की शक्ति मुझमें नहीं। इसलिए तुम दया करके मेरी मदद करो (अर्थात् तुम मेरी हो जाओ)। नहीं तो, भाइयों की प्रतिज्ञा (कोमप्पन् को मार डालने की प्रतिज्ञा) बहन ही पूरी करेगी।"

इस प्रकार थोड़े ही समय पहले अपनी प्रियतमा से प्रेम-प्रार्थना करने वाला युवक, शत्रुओं को आते देखकर उठ खड़ा होता है और उसको सान्त्वना देता है :

"युद्धभूमि में अनेक शत्रुजन एक साथ क्रोधान्ध होकर आक्रमण करें तो भी इस हाथ को ज़रा भी घबराहट नहीं होगी। यह तलवार केवल अलंकार के लिए मैंने नहीं धारण की है। मेरी प्राणेश्वरी! बिलकुल भय मत करो।"

इस प्रकार सन्दर्भानुकूल, रसगर्भित, चमत्कारमय श्लोक कण्डूर की कृतियों से कितने भी उद्धृत किये जा सकते हैं। शुद्ध मलयाल भाषा में

इतने मनोहर पद्य किसी अन्य कवि ने नहीं रचे। इसी शैली और रीति में, अनेक संस्कृत कृतियों का अनुवाद भी इस कवि ने किया है।

कोड़ुङ्ङल्लूर कुञ्ञिकुट्टन् तम्पुरान् : ये वेण्मणि अच्छन् नंपूरि के पुत्र व वेण्मणि मकन् के छोटे भाई थे। माँ अति विदुषी और सुसंस्कृता राजकुमारी थीं। अध्ययन-काल से ही काव्य-रचना में पटु थे। उनके समय में, कोड़ुङ्ङल्लूर राजमन्दिर में पण्डितों का जमघट साधारणतया हुआ करता था। ओरवंकर राजा, कोडश्शेरी कुञ्ञन् तम्पान् ओडुविल कुञ्ञुकृष्ण मेनवन्, कात्तुल्लिल अच्युत मेनवन् आदि अनेकानेक कविवर्य इकट्ठे होकर काव्य-शास्त्र-विनोद में समय बिताया करते थे। श्लोकों में पत्र लिखने की रीति का भी इन्होंने प्रचार किया था। इस समय कविता-प्रेम इतना बढ़ गया था कि आपस में बातचीत भी कविता में ही होने लगी थी। लोकजीवन की दुःखमय अवस्था का कवि को बार-बार अनुभव हुआ। इनकी जीवनी से मालूम होता है कि पुत्र-कलत्रादि की मृत्यु से ये सदा दुखी रहे। फिर भी स्थिर-हृदय होकर, आध्यात्मिक तत्वों में मन लगाकर अपना काम करते गये।

महाभारत का पूर्ण अनुवाद, पन्द्रह से अधिक काव्य, तीन-चार खण्डकाव्य, बीस नाटक, अनेक श्लोक तथा लघु कविताएँ इन्होंने निर्मित कीं। तम्पुरान् के पत्र-व्यवहार का संग्रह किया जाय तो उसके ही दो-तीन ग्रन्थ बन सकते हैं। इनकी कृतियों में 'कवि भारतं' विशेष स्मरणीय है। इसमें केरल भाषा के सभी कवियों को भारत कथापात्रों के नाम देकर उनका भाषा में स्थान-निर्णय किया गया है। उसमें कवि ने स्वयं 'कृतवर्मा' का स्थान ग्रहण किया है।

मूलूर पद्मनाभ पणिक्कर : इसी समय, इसी के अनुकरण में मूलूर एस० पद्मनाभ पणिक्कर ने 'कवि मृगावली' तथा 'कवि सस्यावली' की रचना की। इनमें प्रत्येक कवि को एक मृग, अथवा एक सस्य का नाम देकर स्मरण किया है। इन काव्यों का विशेष महत्व यह है कि उस समय तक प्रख्यात सभी कवियों के नाम एकत्र मिल जाते हैं। उनके

गुण तथा साहित्य-क्षेत्र में उनके स्थान का एकदेश अनुमान भी आगामी पीढ़ियों के लिए उपलब्ध है।

जी० शंकर कुरुप्पु : भाषा कवियों में नवीन प्रस्थान की प्रथम किरण फैलाने वालों में एक विशेष स्थानार्ह हैं जी० शंकर कुरुप्पु। प्रतिरूपात्मक भावगीतों का प्रचार केरल भाषा में करने का श्रेय इनको ही है। उद्दीप्त अर्थ का वर्णन करने के लिए साधारण शब्दों का उपयोग न करके, समान धर्म रखने वाले साधन या घटना से व्यक्त करने की रीति को प्रतीकवाद कहते हैं। इस प्रकार की कविताओं की एक अच्छी खासी संख्या इन्होंने प्रदान की है। इनकी कवितागंगा, ऊर्ध्वमुखी और प्रगति-पथ की यात्री है। भाव-गीतों में प्राण भरने का एकमात्र उपकरण कवि के अन्तर की सचाई है। केवल आनन्द प्रदान करना ही कलाकार का कर्तव्य नहीं है। सामाजिक समस्याओं को जनता के सामने लाने की और उनको हल करने में सहायता देने की भी जिम्मेदारी कलाकारों के ऊपर है। इस आदर्श के आधार पर ही कुरुप्पु ने अपनी कला की सृष्टि की है। गतानुगतिकत्व छोड़कर, नई-नई कल्पनाएँ करके, नवीन रीति और नवीन मार्ग का आविष्कार करने में ये कवि सफल हुए हैं। इनकी लेखनी तथा प्रतिभा अभ्यास से परिपुष्ट होती दिखाई देती हैं। इनकी कविताओं को प्रेम-सम्बन्धी ऐतिहासिक लोकतत्व निरूपक, प्रकृतिवर्णनात्मक तथा राष्ट्रीय विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

इनकी कृतियों के संग्रह 'साहित्य—कौस्तुभ' नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुए है। 'चेकतिरुकल' (लाल किरणें) इनका दूसरा कविता-संग्रह है। इस संग्रह की प्रथम रचना का नाम है 'भारत हृदयं'। साम्राज्य लोभी जापान पौरस्त्य स्वातन्त्र्य का गीत गाता हुआ भारत की ओर आ रहा है। इस सम्बन्ध में कवि कहता है :

"स्वतः को सुपरिष्कृत मानकर अभिमानपूर्वक स्वातन्त्र्य-गान गाता आने वाला साम्राज्य-लोभी यथार्थ में भूख से तड़पता, शिकार के लिए

आयुध लेकर आने वाला व्याध हो सकता है। परन्तु, उसके मोहन-गान से मुग्ध होकर जाल में फंसने के लिए, यह भारत निर्बोध हरिणी नहीं है।"

"कहते हैं—'मुक्त कर देंगे।' वाह! शान्त महासमुद्र के नीलवर्ण तटदेश की ओर एक बार देखो, तो मालूम हो जायगा कि उसका मुक्तिदान किस प्रकार का है। उस तट पर, उसके द्वारा मुक्त किये गये अनेक छोटे-छोटे राज्य निश्चेष्ट पड़े हैं, मानो खाल निकालने के लिए पंक्ति बनाकर लिटाये गये शरीर हों।"

'रक्त विन्दु' नाम की लघुकृति वास्तव में एक महाकृति है। पाश्चात्य राज्य दो पक्ष में विभक्त होकर परस्पर युद्ध कर रहे हैं। धर्म अंग्रेजों के पक्ष में है, ऐसा समझकर भारत ने अपनी सेनाएँ उनकी सहायता के लिए विदूर मध्यधरणी प्रदेशों में भेजी हैं। इस पर लिखी गई कविता है 'रक्तविन्दु'। यह इतनी छोटी है कि पूरी कविता का अनुवाद यहाँ दिया जा सकता है :

"इस रक्त-विन्दु को देखो—अपने गौरवर्ण का अभिमान करके मुँह चढ़ाकर बैठने वाले हे मुग्धात्मन! देखो इस बहुमूल्य माणिक्य रत्न को! युद्ध करने की इच्छा लवलेश भी न रखते हुए, संसार का मंगल करने की आशा से, धर्म की पुकार सुनकर, भूमध्य के समुद्र-तीर प्रदेशों में भी अपने-आप पहुँचकर प्राणाहुति देने वाले वीरवरों का हृदय है इस अमूल्य रत्न-विशेष की खान!"

"इस अकृत्रिम लालिमा में भीरुत्व की छाया अथवा नैराश्य की रेखा नहीं दिखाई देगी। भारतीय हृदय-रूपी खान के अतिरिक्त अन्य किसी खान में इस प्रकार का रत्न नहीं मिलेगा। जयलक्ष्मी इसे अपना अलंकार बना लें, क्योंकि इस रत्न में विश्व-शान्ति निवास करती है।"

सरदार पणिक्कर : सरदार का० माधव पणिक्कर, भारत में ही नहीं, विश्व-भर में प्रसिद्ध राज्यतन्त्रज्ञ हैं। इनकी माता बनने का सौभाग्य केरलभूमि को प्राप्त है। परन्तु कैरली के आराधकों में इनका स्थान

गणनीय है, इस सत्य का ज्ञान केरलीय जनता के अतिरिक्त इने-गिने भारतीयों को ही है। बाल्यकाल से ही साहित्याभिरुचि होने के कारण ये मलयाल काव्यों के अनुशीलन में तत्पर रहे। इनके काव्य **'चिन्तातरंगिणी', 'भूपसन्देशं', 'सन्ध्यारागं', 'अपक्वफलं', 'कुरुक्षेत्रत्तिले गान्धारी', 'चाटूक्तिमुक्तावली', 'हैदरनाय्कन्', 'रसिकरसायनं', 'बालिकामतं', 'पंकीपरिणयं'** आदि हैं।

'चिन्तारंगिणी' का वर्णन या आलोचना न करके, उसकी प्रस्तावना में अप्पन् तंपुरान् ने जो कहा है उसे ही यहाँ दुहरा देना अधिक उचित होगा। उन्होंने लिखा है—'अगाध जल-राशि के तल में एक प्रक्षोभ ! एक आवेश !! फिर चिन्ता-नदी में लहरों के बाद लहरें ! परिणाम ? तट-स्थली को भी तोड़ देने वाला प्रवाह-कोलाहल ! नदी-मुख में एकत्रित होने वाला फेन और उठने वाले बुद्बुद् ! सागर-समागम ! विश्राम, विषयानुभोग ! भोग से दुःखों का अनुभव ! उसका फल—विराग ! जिज्ञासा, निर्वेद, शान्ति ! यही है चिन्तातरंगिणी !'

"मैंने अपने भविष्य जीवन के लिए कैसे उज्ज्वल मनोरथ बाँध रखे थे ! कहाँ वे मनोरथ और कहाँ मेरा यह जीवन जो मैंने प्रत्यक्ष व्यतीत किया ! परन्तु जीवन के लम्बे और टेढ़े मार्ग को अब माप कर देखने और सोचने से क्या लाभ ? युवावस्था में उन्नत आदर्शरूपी दीप जलाकर रखा था। परन्तु स्थैर्यरूपी स्नेह उसमें समाप्त हो गया और वह प्रभाहीन होकर बुझने को आगया है।"

हमारा चिन्तक पहले भक्ति-मार्ग की ओर आकृष्ट होता है। परन्तु बाद में वह महसूस करता है कि यह मार्ग तो केवल क्षणभर के लिए सुखदायी हो सकता है। उसके बाद ? इस प्रश्न से मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। और अन्य पथों का विचार आरम्भ होता है। अन्त में आध्यात्मिक वेदान्तपथ को सर्वश्रेष्ठ मानकर वह शान्त हो जाता है।

'बालिकामतं' एक शृंगार-काव्य, 'प्रेमगीति' भावनाकाव्यों का संग्रह, 'पंकीपरिणयं' एक परिहासकाव्य और 'हैदरनायकन्' ऐतिहासिक

इतिवृत्त के आधार पर लिखा चम्पूकाव्य है। चौथी कृति का भाषा चम्पूकाव्यों में बहुत ऊँचा स्थान है। हैदरअली उत्तर केरल पर आक्रमण करने के लिए सेना समेत आता है और राजा उदयवर्मा को हरा कर राज्य पर अधिकार कर लेता है। बाद में वह कमरुद्दीन नाम के सेनापति को नवीन राज्य का शासनाधिकार देकर स्वदेश लौट जाता है। सेनापति कुछ समय तक राजधानी में वास करता है। एक दिन समीपस्थ मन्दिर में पूजा होती देखकर उसे नष्ट करने के उद्देश्य से वह अन्दर प्रवेश करता है। वहाँ राजकुमारी माधवी को देखकर आसक्त हो जाता है और तुरन्त ही राजकन्या को अपने निवास-स्थान पर उपस्थित करने की आज्ञा देता है। अपने कारण राज्य के ऊपर आने वाली विपत्ति को रोकने के लिए माधवी स्वयं कमरुद्दीन के निवासस्थान में प्रवेश करती है। वहाँ चरित्र-रक्षा के लिए वह उस दुष्ट सेनापति का वध करती है और आत्मघात कर लेती है। इसी समय प्रच्छन्न वेष में हैदर भी वहाँ आ जाता है और उस वीर रमणी के पास घुटने टेककर अश्रुवर्षा करता हुआ माफी माँगता है और उसकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करता है।

सरदार पणिक्कर की अनेक गद्य कृतियाँ भी हैं, जिनमें ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या अधिक है। उनका विवरण गद्यशाखा के अध्ययन में अधिक संगत होगा।

नीलकंठन् नम्पूतिरि 'राजा' : इस शताब्दी के अन्य स्मरणीय कवि ओरवंकर नीलकण्ठन् नंपूतिरि—'राजा' हैं। नंपूतिरियों की स्वाभाविक हास्यरसिकता इनकी सभी कृतियों में स्पष्टतया दिखाई देती है। संस्कृत में तथा मलयालम् में, श्लोकों में तथा गीतिकाव्यों में, शृंगारमय तथा तत्वचिन्तापूर्ण, इस प्रकार अनेकानेक और विविध कृतियों का श्रेय उन्हें प्राप्त है। जहाँ तक काव्य-गुणों का सम्बन्ध है, समानकालीन कवियों में ये किसी से भी कम नहीं हैं। एक बार ये तिरुवितांकूर-महाराजा के दर्शनों के लिए गये थे और इन्होंने उपहार रूप उनको

एक श्लोक समर्पित किया था। इनकी कविता के उदाहरण के रूप में उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है :

मर्त्याकारेण गोपी वसननिर कवर्नोरु गोपालनेत्तन् ।
चित्ते बन्धिच्च वञ्चीश्वर ! तव नृपनीतिक्कु तेट्टिल्लपक्षे ।
पोल्तार मातापिता तन् कणवने विडुवानाश्रयिकुन्नु दासी ।
वृत्या नित्यं भवाने, कनिविवलिलुदिकोल्ला कारुण्यराशे !

अर्थात्—"हे वञ्चीश्वर ! यह उचित ही है कि मर्त्यरूप में आकर गोपियों के वस्त्र चुराने वाले गोपाल को आपने अपने हृदयरूपी कारागार में बन्दी बनाकर रखा है। आपकी इस राजनीति में कोई गलती नहीं है। परन्तु, हे कारुण्यराशे ! महालक्ष्मी अपने पति को छुड़वाने के लिए आपकी दासी बनकर नित्य ही सेवा कर रही है। उसके ऊपर कृपा मत कर देना !"

यहाँ नाम से जिन कवियों का निर्देश किया गया है। उनके अतिरिक्त कितने ही अन्य श्रेष्ठ साहित्य-आराधक हुए हैं। उन सबका परिचय देना और उनकी कृतियों का साररूप में अवलोकन कर लेना भी इस छोटे से ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। इन प्रकरणों में आधुनिक काल के पूर्वभाग का दिग्दर्शन मात्र करा देने का ही प्रयत्न किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के आदिकाल से समयानुरूप जनता की अभिरुचि तथा आकांक्षाएँ बदल गईं। शास्त्र-निर्दिष्ट शैली, रीति और नियमों का बन्धन आदि अधुनातन काल के लोगों को प्रिय नहीं रहा। इतना ही नहीं, उस सबकी अवहेलना भी होने लगी। पाश्चात्य साहित्य का आकर्षण अधिकाधिक होने लगा। संस्कृत की अधीनता छोड़कर कैरली ने प्रकट रूप में आंग्लभाषा का हस्तावलंबन स्वीकार किया। उसके काव्य-साहित्य में भी यही उपरिप्लव-बुद्धि विकसित होने से देश की रीति तथा नीति के साथ साहित्यान्तरिक्ष भी परिवर्तन और क्रान्ति का आस्थान बन गया।

: १४ :

गद्यशाखा का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी गद्य-साहित्य की उत्पत्ति तथा वर्धना के लिए साहित्य के इतिहास में एक महत्व का स्थान रखती है। अंग्रेज़ पादरियों के आगमन, उनकी भाषा-जिज्ञासा, बाइबिल-प्रचार की आवश्यकता आदि ने गद्य-साहित्य के विकास को जो स्फूर्ति प्रदान की वह न केवल अध्ययन की वरन् सराहना की भी वस्तु है।

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य कवियों के यथार्थ सामर्थ्य की कसौटी है—यह तत्व भारतीयों के लिए नया नहीं है। प्रत्येक भाषा के साहित्य का इतिहास बताता है कि पद्य-साहित्य की रचना पहले हुई और गद्य-रचनाओं की अभिवृद्धि बाद में। मलयाल भाषा भी इस नियम के लिए अपवाद नहीं है। उसमें अति प्राचीन काल में एक प्रकार की गद्य-शैली प्रचलित थी। परन्तु गद्य कहलाने पर भी वास्तव में वह एक प्रकार का पद्य ही था। प्राचीन गद्य के नमूने किसी-किसी शिलालेख में उपलब्ध हैं। ऐसा मानने में कोई असांगत्य नहीं मालूम होता कि पाश्चात्यों का आगमन ही गद्य-साहित्य के प्रचार के लिए प्रेरक बना; क्योंकि पाश्चात्यों के साथ बाइबिल का भी केरल में प्रवेश हुआ। बाइबिल के साथ पादरी और ईसाई धर्म-प्रचारक भी आये। फलतः शुद्ध केरल भाषा में सर्वप्रथम जो गद्य-रचना हुई वह थी—बाइबिल का पदानुपद अनुवाद।

ईसाई मिशनरी : जार्ज मात्तन, रेवरेण्ड गुण्टर्ट (Guntart) रेवरेण्ड बेली, रेवरेण्ड जोसफ पिट, गार्टवाइट, ये सभी नाम केरल-भाषा के लिए

कृतज्ञतापूर्वक स्मरणीय हैं। नाम से ही समझ में आता है कि ये सब लोग धर्म-प्रचारक थे। यह सर्वविदित है कि, अंग्रेज जहाँ-जहाँ गये वहाँ ईसाई धर्म-प्रचार भी जोरों से हुआ। केरल में जब पाश्चात्यों की स्थिति दृढ़ होने लगी तो गिरजाघर और पादरी भी महत्वपूर्ण स्थानों में विराजमान हो गये। उन्होंने देखा कि यदि मलयालियों को ईसा-मसीह का चरित्र ठीक तरह से सिखाना हो तो उनकी ही भाषा में सिखाना होगा। इस साध्यके लिए उन्होंने उस भाषाका अध्ययन शुरू कर दिया। भाषा सीखने के साथ-साथ वे देश के इतिहास, समाज-स्थिति आदि सभी बातों को समझने के लिए प्रयत्नशील रहे। कहने में लज्जा अनुभव होती है, फिर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि केरल का सुगठित और कुछ हद तक विश्वसनीय इतिहास सर्वप्रथम एक पाश्चात्य पादरी ने ही प्रस्तुत किया। सबसे पहले एक प्रामाणिक शब्दकोश भी रेवरेण्ड बैली ने निर्मित किया। सन् १८२९ में इन्हीं लोगों के प्रयत्न से एक छापाखाना भी तिरुवितांकूर के कोट्टयं शहर में स्थापित हुआ।

मलयाल भाषा साहित्य में डॉक्टर गुण्टर्ट का नाम चिरस्मरणीय है। केरल में आकर उन्होंने केरल भाषा सीखी। उनमें भाषा सीखने का एक अद्‌भुत सामर्थ्य था। बीस साल के भारतवास में उन्होंने मलयालम्, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, बंगला, हिन्दी, मराठी आदि कई भाषाएँ सीख ली थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने इन भाषाओं में ग्रन्थ-निर्माण करने का सामर्थ्य भी सम्पादित कर लिया था।

जिस प्रकार केरलीय इतिहास में, उसी प्रकार केरल-साहित्य के लिए भी यह काल एक बड़े युग-परिवर्तन के आरम्भ के लिए स्मरणीय है। इस समय हजारों की संख्या में सवर्ण और अस्पृश्य लोग ईसाई बनाये गये। बाईबिल के स्तुतिगीत और कथाएँ साधारण लोगों की समझ में आने योग्य भाषा और शैली में अनूदित करके छापने का काम इन पादरियों ने शुरू किया। इसी समय भाषा में विराम-चिह्नों का प्रचार भी डॉक्टर गुण्टर्ट ने किया। सन १८४९ में इन्होंने शब्दकोश बनाने का

प्रयत्न शुरू किया और सन १८६१ में यह पहला शास्त्रीय निघण्टु मलयाल भाषा में प्रकाशित हुआ।

'केरल कालिदास' : इस समय तिरुवितांकूर, कोचीन आदि राज्यों में आधुनिक विद्यालयों की स्थापना आरम्भ हुई और पुस्तकों के निर्माण के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति के अध्यक्ष महामहिमश्री केरलवर्मा वलिय कोयित्तंपुरान् थे। पादरियों के प्रयत्न से छोटी-छोटी गद्य-पुस्तकें छपने लगीं। पहली, दूसरी तथा तीसरी श्रेणियों के योग्य पद्य-गद्य-सम्मिश्र पुस्तकें निर्मित हुईं, जिनको 'ओन्नां पाठं' (प्रथम पाठ) 'रण्डां पाठं' (द्वितीय पाठ) आदि नाम दिये गये। इतिहास-भूगोल आदि विषयों के लिए भी विभिन्न श्रेणियों के योग्य पुस्तकें तैयार करने के लिए पाठ्यपुस्तक समिति के पण्डित बाध्य हो गये। इस प्रकार गद्य का प्रचार शुरू हुआ। फिर भी बड़े-बड़े विद्वानों को पद्य रचना ही प्रिय रही; क्योंकि, अधुनातन काल तक गद्य से पद्य ही अधिक निर्मित हुए हैं।

मलयाल भाषा के गद्य का पितृ-स्थान 'केरल-कालिदास' को ही प्राप्त है। उनकी गद्य कृतियाँ हैं—'पाठमाला' (तीन भाग), 'विज्ञान-मञ्जरी', 'सन्मार्गप्रदीपं', 'धनतत्व निरूपणं', लोक की शैशवावस्था, हिन्दुस्तान का इतिहास, तिरुवितांकूर का इतिहास, 'महच्चरितसंग्रहं','सन्मार्ग-विवरणं', 'विज्ञानसंग्रहं', और 'अकबर' नामक उपन्यास।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में 'अकबर' के अतिरिक्त शेष सब विद्यालयों की आवश्यकता के लिए ही लिखे गये थे। उपन्यास होने पर भी 'अकबर' में जनता के हृदय को आकर्षित करने की शक्ति नहीं थी। कठिन भाषा तथा विवरणात्मक कथोपकथन में स्वारस्य कम होता ही है। 'अस्तपर्वत नितंब के अभिमुख होकर लम्बमान अम्बुज-बन्धु-बिंब का अरुणांशु......' आदि प्रभात-वर्णन अन्त तक पढ़ लेने का धैर्य अथवा क्षमता कितने लोगों में हो सकती है? इस ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़-गम्भीर, प्रतिपादन-शैली महार्ह और विचार-गति आलोचनात्मक है। परन्तु,

इन्हीं कारणों से उसका प्रचार पण्डितवरेण्यों तक ही सीमित रहा। केरलवर्मदेव की प्रत्येक कृति इसी संस्कृत-प्रचुरता के कारण साधारण जनता के बीच तक पहुँच नहीं सकी।

गद्य-प्रस्थान की समालोचना करते समय उसकी विविध शाखाएँ ध्यान में आ जाती हैं। उपन्यास, खण्डकथा, प्रबन्ध तथा लघुलेख गद्यसाहित्य के विविध अंग हैं। इनमें से उपन्यास और खण्डकथा का विकास मलयालम् में अधिकतम हुआ। पद्यशाखा के अध्ययन से इतना तो प्रमाणित हो ही गया है कि मलयाली अधिक विनोदप्रिय और परिश्रम से बचने की मनोवृत्ति वाले हैं।

आंग्ल भाषा के साथ सम्बन्ध होने पर भाषा-पण्डितों को इच्छा होने लगी कि हमारी भाषा में भी ऐसे ही सरस तथा ज्ञानप्रद उपन्यास लिखे जायँ। इस प्रकार का प्रथम प्रयत्न **श्री अप्पु नेड्डुङ्गाड़ी** का **'कुन्दलता'** है। इसकी रचना भारत के किसी काल्पनिक राज्य के राजकुमार और राजकुमारी आदि की सृष्टि करके, प्रणय-कथा में वीर-रस का पुट देकर की गई है।

ओय्यारत्तु चन्तु मेनवन् : वास्तव में मलयालम् भाषा में उपन्यास नाम को सार्थक करने वाला प्रथम ग्रन्थ है, ओय्यारत्तु चन्तु मेनवन् द्वारा लिखित — **'इन्दुलेखा।'**

चन्तु मेनवन् उत्तर केरल के 'ओय्यारत्तु' नामक एक ऊँचे परिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्हें बाल्यकाल में समय के अनुसार अच्छी शिक्षा-दीक्षा मिली। वे मैट्रिक तक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके और नागरिक सेवा की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कचहरी में मुहर्रिर के स्थान पर नियुक्त हो गये। धीरे-धीरे उन्नति करते-करते वे मुन्सिफ और सबजज के स्थान तक बढ़े।

स्वभाव से चन्तु मेनवन् बड़े रसिक, किन्तु साथ ही नीतिनिष्ठ भी थे। बेकन्सफील्ड नामक अंग्रेज ग्रन्थकार की पुस्तक 'हेनरीटा टेम्पल' पढ़ने पर उनके मन में मलयालम भाषा में अच्छा गद्य-साहित्य प्रदान

करने की इच्छा प्रबल हो उठी। इसी के फलस्वरूप 'इन्दुलेखा' की रचना की गई, जो मलयालम् उपन्यास-साहित्य की एक अमर निधि है।

इस उपन्यास की सरसता और सफलता का अनुमान करने के लिए तत्कालीन केरलीय समाज का ज्ञान आवश्यक है। उस समय केरलीयों की स्थिति 'ससुराल से निकल चुकी, पीहर पहुँची नहीं' जैसी अनिश्चित थी। सब भारतीय आचार-विचार निंद्य माने जाने लगे थे। दूसरी ओर, अभिलषणीय माने जाने वाले पाश्चात्य आचार-विचारों तक लोगों की पहुँच नहीं हुई थी। संक्रमणकाल यों भी विषम होता ही है; परन्तु इस समय तो सर्वत्र नैतिक अधःपतन का बोलबाला दीख रहा था। ब्राह्मणों ने—विशेषतः सर्व-सम्मान्य नम्पूतिरि ब्राह्मणों ने—स्वच्छन्द और निर्द्वन्द्व होकर अयोग्य आचार-विचार अपना लिए थे। समस्त प्रदेश की स्त्रियों को उन्होंने अपनी भोगसामग्री मान लिया था और दूसरी ओर नायर-समाज भी उनके साथ अपनी पुत्रियों का सम्बन्ध करना पुण्य-कार्य समझने लगा था। नम्पूतिरि अपने-आपको 'भूदेव' कहलाते थे, किन्तु उनमें दूसरों का परिहास और उपहास करने की वृत्ति पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। ज्ञान और शिक्षा का दुरुपयोग करना उनका साधारण गुण बन गया था।

नायर-समाज भी मातृसत्ता-प्रणाली और 'मरुमक्कत्ताय' प्रणाली (भानजे के उत्तराधिकारी होने की प्रथा) के विकृत रूप के पाशों में जकड़ गया था। गृहपति बहुधा अपनी भगिनी और भागिनेयों आदि के साथ अधिकार-प्रमत्तता का व्यवहार करता था, फलतः अनेक संयुक्त कुटुम्बों का विच्छेद होने लगा था। परन्तु ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी जो पारिवारिक प्रेम को भली भाँति निभाते थे। यह भूमिका समझ लेने के बाद 'इन्दुलेखा' का स्वारस्य समझ में आ सकेगा।

संक्षेप में 'इन्दुलेखा' का कथानक इस प्रकार है :

"उत्तर केरल में 'पूवरंङ' नाम का एक सम्पन्न नायर-परिवार है, जिसके गृहपति वृद्ध पंचु मेनवन् अपने भागिनेय-प्रभागिनेय आदि स्वजनों

पर पूर्ण अधिकार के साथ शासन करते हैं। उनकी पुत्री और एकमात्र दौहित्री इन्दुलेखा (माधवी) भी उनके ही साथ रहती हैं। उनका गृह केरल के संयुक्त कुटुम्ब का एक सुन्दर उदाहरण है और उसमें दूर के सम्बन्धियों को भी आश्रय प्राप्त है।

"पंचु मेनवन् के भागिनेयी-पुत्र माधव और उनकी दौहित्री इन्दुलेखा में परस्पर प्रेम है और कुल-रीति के अनुसार यथासमय उनका विवाह हो जाने की सम्भावना भी किसी से छिपी हुई नहीं है। माधव मद्रास के किसी कालेज में अध्ययन कर रहा है और इन्दुलेखा घर में ही रह कर संस्कृत का अध्ययन करती है। वह सुन्दर, सुशील, स्वाभिमानिनी तथा दृढ़ स्वभाव की युवती है। परन्तु माधव उन युवकों में से एक है जो अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव में आकर पाश्चिमात्य आचार-विचार को श्रेष्ठ और अपने देश तथा समाज के आचार-विचार को हेय मानने लगे हैं।

"एक छोटे भाई को अंग्रेजी शिक्षा के लिए मद्रास ले जाने के आग्रह के कारण माधव और उसके मामा पंचु मेनवन् के बीच संघर्ष हो जाता है और मामा प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि वे इन्दुलेखा का विवाह ऐसे विद्रोही युवक के साथ न होने देंगे।

"पंचु मेनवन् की गम्भीर प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती थी, अतएव इन्दुलेखा के लिए वर की खोज आरम्भ कर दी गई। इन्दुलेखा के गुणों का वर्णन सुनकर 'मूर्किल्लत्तु मनय्कल् सूरि नम्पूतिरि' नाम के एक वयोवृद्ध ब्राह्मण ने नायर-कन्या को अनुगृहीत करने की सम्मति प्रकट की—विवाह का प्रस्ताव किया। वह सम्पन्न था और सम्पन्न नम्पूतिरियों के सभी गुण-दोष उसमें विद्यमान थे। उसे देखकर और अपनी दौहित्री के साथ उसकी तुलना करके पंचु मेनवन् अत्यन्त हताश हुए, किन्तु उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा से विवश होकर उसे अपनी दौहित्री से मिलने की अनुज्ञा प्रदान कर दी।

"इन्दुलेखा ने अपनी तीव्रबुद्धि, विनोद-प्रियता, दृढ़ता और कौशल

से नम्पूतिरि को लज्जित किया और वे रातोंरात पंचु मेनवन् की एक दूर के रिश्ते की भानजी से, जो कुटुम्ब के आश्रय में रहकर घर की टहल किया करती थी, विवाह करके चले गये।

"नम्पूतिरि को अपमान से बचाने के लिए उसके पार्षदों ने सच्ची बात छिपा ली और नगर में यह प्रसिद्धि हो गई कि इन्दुलेखा का विवाह उनके साथ कर दिया गया है।

"माधव छुट्टियों में घर आ रहा था। मार्ग में उसे पता चला कि इन्दुलेखा का विवाह वृद्ध नम्पूतिरि के साथ हो गया है, तो वह विरक्त होकर लौट गया। इधर, इन्दुलेखा ने जब सुना की माधव उस पर अविश्वास करके चला गया है तो वह दुःखी होकर बीमार हो गई और उसकी अवस्था बिगड़ती ही चली गई।

"पंचु मेनवन् को अपनी दौहित्री की दशा देखकर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने प्रतिज्ञा भंग करने का निश्चय करके माधव को खोजने के लिए उसके पिता और छोटे मामा को भेजा। वे उसे खोजकर ले आये। दोनों का विवाह धूमधाम के साथ कर दिया गया और पंचु मेनवन् ने अपनी प्रतिज्ञा के अक्षरों को सोने से बनवा कर और उन्हें ब्राह्मणों को दान करके प्रतिज्ञा-भंग का प्रायश्चित किया।"

मलयालम् भाषा में 'इन्दुलेखा' अपने ढंग का निराला ही उपन्यास है। इस प्रकार का दूसरा उपन्यास अब तक नहीं लिखा गया।

इसी लेखक का दूसरा उपन्यास है—'**शारदा**।' कैरली का दुर्भाग्य है कि इस उपन्यास को पूर्ण करने के पहले ही लेखक का देहान्त हो गया। परन्तु जितना लिखा गया उतने में ही चन्तु मेनवन् की लेखनी का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है।

इस समय से उपन्यासों ने केरलीयों की बुद्धि और हृदय को आकर्षित कर लिया। नवलकथा लिखने के लिए लोग आगे बढ़ने लगे। सामाजिक उपन्यासों की भरमार होने लगी। शिक्षा के लिए, उपजीविका-अर्जन के लिए, यात्रा के उत्साह से, अथवा अन्य कारणों से, केरलीय

जनता का विदेशों में जाना और उन लोगों से सम्बन्ध बढ़ाना भी इसी समय शुरू हो गया था। अब बंग-साहित्य का प्रभाव केरलीयों के ऊपर अधिकाधिक होने लगा। आचार, विचार, भावना, रहन-सहन आदि में केरलीय और बंग-देशीय जनता में बहुत-कुछ साम्य है। शायद इसलिए ही, बंग-साहित्य भी यहाँ की जनता को अधिक पसन्द आया। उच्च-शिक्षा आदि के लिए उत्तर भारत में गये हुए युवक बंग-ग्रन्थों से इतने प्रभावित हुए कि वे उन ग्रन्थों के अनुवाद मलयालम् में करने लगे। शीघ्र ही भारी संख्या में उपन्यास तथा नाटक अनूदित हो गए। बंकिमचन्द्र, शरच्चन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय, गुरुदेव टागोर आदि आराध्य साहित्याचार्यों की सभी मुख्य रचनाएँ मलयालियों को अपनी ही भाषा में मिलने लगीं। इसके अतिरिक्त उत्तर-भारत के राजस्थान आदि प्रदेशों के इतिहास से इतिवृत्त चुनकर स्वतन्त्र उपन्यासों की रचनाएँ भी हुईं। 'अमृतपुलिनं' 'राजस्थानपुष्पं', 'हिरण्मयी' आदि ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं।

सी० वी० रामन् पिल्ला—ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के उपज्ञाता श्री सी० वी० रामन पिल्ला हैं। 'केरल के स्कॉट' नाम से सुविख्यात इन महानुभाव ने तीन ऐतिहासिक उपन्यासों, एक सामाजिक उपन्यास तथा अनेक गद्य-प्रहसनों की रचना की है। ये तिरुवितांकूर के प्रधान न्यायालय में न्यायाधीश के मुंशी के काम पर नियुक्त थे। अतएव इन्हें न्यायाधीश के साथ देशभर में घूमने और लोगों के आचार-विचार आदि का अध्ययन करने का अवसर मिला। जब ये मद्रास में विद्यार्थी थे तब 'इन्दुलेखा' प्रकाशित हुई थी। उसको देखकर इन्हें भी उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। इन्होंने तिरुवितांकूर राज्य के संस्थापक श्री वीर मार्तण्डवर्मा महाराजा की युवावस्था के विपन्मय जीवन पर आधृत करके **'मार्तण्डवर्मा'** नामक उपन्यास की रचना की। इस प्रथम प्रयत्न में ही आंग्लभाषा के ऐतिहासिक उपन्यास लेखक स्कॉट की जैसी कल्पना-शक्ति, रचना-पटुत्व तथा पात्र-निर्माण-चातुर्य देखकर लोग आश्चर्य-चकित हुए। उनके अन्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं—**'धर्मराजा'**

तथा **'रामराजा बहादुर'**। इन दोनों उपन्यासों के इतिवृत्त मार्तण्डवर्मा के भागिनेय तथा अनुगामी श्रीरामवर्मा के जीवन तथा शासन-काल की घटनाओं पर निबद्ध हैं। किन्तु लेखक की मनोवृत्ति का अन्तर इन रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देता है। प्रथम कृति की सरल भाषा और खुलकर हँसाने वाली विनोदमय शैली, बाद की दोनों रचनाओं में प्रौढ़, शान्त और गम्भीर बन गई है। कदाचित् यह लेखक के उत्साही विनोद-प्रिय युवा से अनुभव-सम्पन्न, प्रौढ़ चिन्तक बन जाने का परिणाम होगा।

उपर्युक्त तीनों उपन्यास एक धारावाही उपन्यास के तीन भाग माने जा सकते हैं। परन्तु प्रथम तथा द्वितीय ग्रन्थ की कथा के बीच दीर्घकाल का अन्तर है। **'मार्तण्डवर्मा'** में जो अनन्त पद्मनाभन् एक साहसी, वीर और विनोदी युवा के रूप में दिखाई देता है, वही 'धर्मराजा' में वयस्क, लोकचर्या-पटु, प्रभावशाली, प्रपितामह बन गया है। इसी प्रकार माता की आज्ञाकारिणी सरल, प्रेमाकुल, षोडशवर्षीया 'पारुकुट्टि' एक प्रौढ़ गृहाधीश्वरी बनकर, शान्त तेजस्विनी होकर, हमारे प्रणाम के योग्य दिखाई देती है।

'मार्तण्डवर्मा' की घटनाएँ वञ्चिराज्य के निर्माण के समय को चित्रित करती हैं। राज्य में अन्तःछिद्र, राजा दुर्बल, जनता में खल-प्रमाणियों के पराक्रम की मूर्धन्यावस्था! इन सब विपत्तियों का सामना करके राज्य तथा प्रजा का पालन करने के लिए बाध्य, निस्सहाय युवा राजा मार्तण्डवर्मा! राजा के पुत्र नहीं, भागिनेय सिंहासन के उत्तराधिकारी होते आये हैं। परन्तु मार्तण्डवर्मा कुमार के मातुल ने एक पाण्ड्य रामकुमारी से विवाह कर लिया था। उस राजपत्नी ने अपने राज्य के दायक्रम के अनुसार राज्य प्राप्त करने के लिए स्वपुत्रों को प्रेरित किया। महाराजा अपनी वंश-परम्परा और आचार-क्रम में परिवर्तन करने को तैयार नहीं थे। प्रजा भी इसे स्वीकार न करती। 'अष्ट-गृह प्रधानियों' ने, जो सदा ही राजवंश के प्रति विद्रोही रहे, राजा के

पुत्रों का साथ दिया। परिणामतः ऐसी अवस्था आ गई कि युवराज कहीं भी सुरक्षित न रह सके। परन्तु 'मांकोयिकल् कुरुप्पु', 'तिरुमुखत्तु पिल्ला' आदि जनप्रिय महारथी युवराज के लिए प्राण देने को सन्नद्ध हो गये। इस पश्चात्तल में कथा का आरम्भ होता है।

मार्तण्ड वर्मा के दक्षिणहस्त, विश्वस्ततम मित्र अनन्तपद्मनाभन् पर शत्रुपक्षियों ने आक्रमण किया और वे उसे जंगल के बीच में मरणासन्न अवस्था में छोड़ गये। बाद में उस युवा वीर की हत्या का अपराध युवराज के ऊपर आरोपित किया। अनन्तपद्मनाभन् सुस्थिर राजभक्त तिरुमुखत्तु पिल्ला का पुत्र था। इसलिए 'एक पन्थ दो काज' के न्याय से, काम लेने का इरादा करके ही शत्रुओं ने यह किया था। उन्होंने सोचा था कि युवराज को पुत्र का घातक मानकर तिरुमुखत्तु पिल्ला राजपक्ष को छोड़ देंगे। अनन्तपद्मनाभन् की मृत्यु से युवराज भी असहाय हो जायँगे। परन्तु ईश्वर की कृपा से यह विपत्ति अनुगृह बन गई; क्योंकि अनन्तपद्मनाभन् को उस मरणासन्न अवस्था से एक मुसलमान हकीम-संघ ने बचा लिया और संघ का नेता राजा का हितैषी भी बन गया।

अनन्तपद्मनाभन् की प्रणयिनी 'पारुकुट्टि' पर महाराजा के जेष्ठ पुत्र का मोहित हो जाना भी दोनों पक्षों में शत्रुता बढ़ने का कारण है। युवराज की राज्यलक्ष्मी-प्राप्ति तथा अनन्तपद्मनाभन् की प्रणयिनी प्राप्ति के साथ कथा पूर्ण होती है।

लेखक ने शृङ्गार तथा वीर रस को इस प्रकार सुन्दर, निर्मल रीति से मिलाकर आगे बढ़ाया है, जिससे यह उपन्यास सर्वप्रिय बन गया है। इसका प्रत्येक पात्र—विशेषतः 'भ्रान्तन् चान्नान्' (चान्नान् जाति का पागल लड़का) शंकुआशान्, सुभद्रा आदि—एक बार दृष्टिपथ पर आने के बाद स्मृतिपटल से हट नहीं सकता।

'धर्मराजा' में राज्य की स्थिति, राजा का स्वभाव और जनता की अवस्था बहुत बदली हुई है। श्री वीर मार्तण्डवर्मा ने शत्रुओं का नाश करके राज्य को बढ़ाया और जनता को एक शान्तिमय, स्वस्थ, प्रसन्न

जीवन प्रदान किया। उनके उत्तराधिकारी महाराजा श्रीरामवर्मा के राज्यकाल और हैदरअली के केरल-आक्रमण के पश्चात्तल में **'धर्मराजा'** की कहानी प्रारम्भ होती है।

महाराजा मार्तण्डवर्मा दुष्ट शत्रुओं का मूलोच्छेद करने के लिए कुछ निष्ठुर कर्म करने को भी बाध्य हो गये थे। उन्होंने कुलीन नायर वंशों के प्रधान पुरुषों को—जैसे अष्ट गृहनायकों को—एक साथ फांसी की सज़ा दे दी थी, उनकी स्त्रियों को देश से निकाल दिया था या नीच जाति के लोगों के हाथों बेच दिया था। बचे हुए शत्रु-परिवारों को आत्म-रक्षा के लिए दूर-देशों में भागकर छिपे रहना पड़ा था। इन कठिन कर्मों का परिणाम भी लेखक ने इस ग्रन्थ में स्पष्ट किया है। जब विद्रोही परिवारों के अंकुर धीरे-धीरे फिर बढ़ने लगे, तब उनके हृदयों में प्रती-कार की इच्छा भी बढ़ी। यह 'धर्मराजा' नाम से सुविख्यात श्रीरामवर्मा के लिए और राज्य की सुरक्षा के लिए कंटक बन गई। इसी समय हैदर-अली तिरुवितांकूर पर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध हो रहा था। राज्य के अन्दर फूट डालने के लिए उसने कई षड्यन्त्रकारियों को प्रच्छन्न वेष में राज्य में भेज रखा था। राज्य-रक्षा तथा राजसेवा में दृढ़निष्ठ वृद्ध अनन्तपद्मनाभन् पड़त्तलवन् (सेनापति) की सूक्ष्म-दृष्टि और उनके दत्तकपुत्र तथा अन्तेवासी केशवपिल्ला के सामर्थ्य से राज्य इस दशा-सन्धि को पार कर सका। यही तीक्ष्ण बुद्धि, धीरोदात्त परन्तु क्षिप्र-कोपी, साहसी युवा, केशवपिल्ला बाद में 'राजा केशवदास' नाम से प्रख्यात होकर, तिरुवितांकूर का सर्वश्रेष्ठ मन्त्री बना।

"रामराजा बहादुर" की कथा इसी की अनन्तर घटनाओं पर निबद्ध है। हैदर की मृत्यु के बाद टीपू के आक्रमण और उसकी पराजय के अस्थिपंजरों को, रसमय कथोपकथन रूपी रक्तमांसादि चढ़ाकर, इस पुस्तक के रूप में कैरली का उपहार बनाया गया है। इसमें, धर्मराजा का 'पड़त्तलवन्' तो वीर-गति प्राप्त कर चुका है, रामराजा बहादुर स्वयं भी वयोवृद्ध हो गये हैं। राजमन्दिर के कर्मचारी और महाराजा के परम-

भक्त सेवक के रूप में हमारे परिचित केशव 'सचिवोत्तम केशवदास' बन गये। मधुर बालिका मीनाक्षी सन्तापशतों से परिभूत सात्विक प्रभावती दुःखिनी माता के रूप में बदल चुकी है। इस प्रकार 'धर्मराजा' के प्रधान पात्रों की प्रौढ़ अथवा वृद्धावस्था को हम 'रामराजा बहादुर' में देखते हैं। साथ-साथ तिरुवितांकूर राज्य को सुप्रतिष्ठित बनाने वाली नव-शक्तियों का अंकुर भी त्रिविक्रमकुमार, अड़कुश्शार, कुञ्ञैकुट्टिप्पिल्ला आदि में दिखाई देता है।

पात्र-रचना का असामान्य नैपुण्य, औचित्य-दीक्षा, युक्ति-वैचित्र्य, छायाचित्रों की स्पष्टता, मनोधर्म विलास, विषयानुकूल भाषा-प्रयोग का सामर्थ्य, प्रसंगानुसार विनोद-प्रयोग आदि इस लेखक की विशिष्टताएँ हैं। उदाहरण के लिए एक-दो प्रसंगों का अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है।

उत्तर केरल के एक दरिद्र परिवार का बालक अनाथ होकर दक्षिण के एक प्रभुगृह में सेवक बनकर रहने लगा। एक शिवरात्रि के दिन क्षुधा के आवेश से गृह-नियमों का उल्लंघन करके वह दशवर्षीय बालक प्रतिदिन के समान भोजन के लिए भोजनशाला में जाकर बैठ गया। बालक की तीक्ष्ण बुद्धि के कारण गृह-स्वामी उसके ऊपर प्रसन्न थे। इसी कारण वह गृहस्वामिनी के कोप तथा अन्य भृत्यों की ईर्ष्या का पात्र बना हुआ था। अवसर पाकर सेवकों ने स्वामिनी के पास इस महापराध का वृत्तान्त निवेदन किया। उन्होंने स्वयं ही बालक को दण्ड देने के लिए भोजनालय में प्रवेश किया। उस समय की घटनाओं के वर्णन का अनुवाद यह है :

"स्वामिनी ने दैव को भी भूलकर बालक की दरिद्रावस्था का अप-हास किया। उसके भर्त्सनारूपी वाग्शरों ने क्षुधा-पीड़ित बालक का हृदय वेध दिया। इसी प्रकार का अधिक्षेप पहले भी एक बार (स्वजननी से) सुनने का अवसर उसको याद आया। उसके मुख पर लज्जोश्मा से स्वेद-बिन्दुओं का स्फुरण हुआ। उसके अन्तःस्थल में जो प्रतिक्रियाकांक्षा

लहराई उसने आत्मदमन शक्ति को पराजित कर दिया और बालक ने 'स्त्रियों के राज्य में स्त्री खाने से मरे, मर्द भूख से मरे, तो कैसे पेट की आग बुझेगी ?'—इस प्रकार उस गृहस्वामिनी के कुप्रसिद्ध स्त्री-नायकत्व का प्रत्यपहास किया। रसोईघर के दरवाजे पर खड़ी स्वामिनी ने आभरणस्वनों की ताल के साथ आगे बढ़कर अपने हाथ के चमचे से बालक के सिर पर प्रहार किया। असामान्य माँसपुष्ट उस कर रूपी गदा के भार के साथ चमचे की धार पड़ने से शिर फूट गया और रक्त प्रवाहित होने लगा। यह सब एक क्षरण में ही हो गया। चोट खाकर बालक उच्चस्थ अरुण का रक्तस्फुलिंग-प्रकाश फैलाता उठ खड़ा हुआ,...... उस घर से निष्क्रमण करने की आज्ञा गृह-स्वामिनी के मुख से इस प्रकार रोषाट्टहास के द्वारा निकली, तो वह रक्तलिप्त मुख, जृंभित-प्रागल्भ्य और समस्त विक्रमधामा बालक उपस्थित जनों को ऐसा दिखाई दिया, मानो इस तत्व को स्थापित कर रहा हो कि मनुष्यलोक में भी महान् केसरियों के जन्म निम्न पंक्तियों में हैं। जब नायिका तथा सेवक मंत्रबद्ध सर्पों की भाँति खड़े थे, तब बालक ने शान्त-गम्भीर स्वर में कहा—'जिस हाथ ने आज मुझपर प्रहार किया, उसकी जय हो! आज आपने मेरे शिर पर तालाब खोदा, किसी दिन इस प्रासाद की भूमि पर ही तालाब खुद जायगा। कुछ भी हो, आपके इस श्रीमुख को नमक का पानी पीना (गरीबी का दुःख भोगना) ही पड़ेगा। शेष उस दिन कहूँगा।'········'अपना भाग्य-सोपान समझकर अब तक जहाँ रहता था, उस आश्रयस्थान से चापमुक्त शर के वेग से वह बालक निष्क्रमण कर गया।"

रात-भर चलकर प्रभात में राजधानी के अन्दर प्रवेश किया। भाग्य-वश, वहाँ प्रवेश करते ही, राजा के स्थानपति होकर परदेश के लिए प्रस्थान करने वाले अनन्तपद्मनाभन् पड़त्तलवन् के सामने जा पहुँचा। वह दृश्य देखिए :

"बालक 'सन्ताप नाशकराय नमोनमः' आदि आदित्यहृदय मन्त्र

बोलता हुआ आ रहा था। उसका अन्तिम भाग—

इत्थमादित्य हृदयं जपिच्चुनी
शत्रुक्षयं वरुत्तीडुक सत्वरं।

"'इस आदित्य-मन्त्र का जाप करके शत्रुक्षय करो'—पडत्तलवन् के कानों में पड़ा।

"उन्होंने बालक से पूछा—'कहाँ जाते हो बेटे ?'

"करुणापूरित स्वर में प्रभु का यह प्रश्न सुनकर बालक खड़ा हो गया। शकुन्तलापुत्र भरतकुमार ने प्रथम दर्शन में जिस प्रकार गंभीरता के साथ स्वपिता का अंगावलोकन किया था, वैसे ही बालक स्थानपति और उनके अश्व को लक्षणशास्त्रज्ञ के भाव से देखने लगा। बालक के अंगसौष्ठव, ओजस्विता तथा आयु ने उन्हें अपने एक मृतपुत्र की स्मृति दिला दी और उनके हृदय में उसके प्रति एक विशेष वात्सल्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने मृदु स्वर में फिर से अपना प्रश्न दुहराया। बालक ने उत्तर दिया—'सेवक सेना में भरती होने जा रहा है। महाराजा की सेवा करूँ तो किसी के पैर पकड़ने तो नहीं पड़ेंगे !'

"पडत्तलवन् की भ्रकुटी और ओष्ठ-सन्धि में एक अर्थपूर्ण चलन हुआ। उनके मुँह से राजसेवा के बारे में कोई अभिप्राय नहीं निकला। उन्होंने पूछा—'यह चोट कैसे लगी ?'

"बालक—जीभ के अवारापन से।

"सेनापति—जो मिला उसको वापस देकर नहीं आया ? देखने पर तुम ऐसे आने वाले तो नहीं मालूम होते।

"बालक ने जमीन की ओर देखते हुए आत्मगत जैसे, परन्तु जोर से कहा—'क्या किया जाय ? जिसने यह दिया वह तो मां की जैसी एक स्त्री थी !'"

बालक का संकोचहीन उत्तर और अन्त का आत्मगत सुनकर सेनापति की प्रसन्नता बढ़ गई। उनके पीछे दूसरे अश्व पर उनका अनुगमन करने वाले अलीहसन नामक मुस्लिम युवक ने घोड़े से नीचे

कूदकर बालक के विकृत वेष तथा मलिन छवि की परवाह किये बिना उसको गले से लगा लिया और यह कहते हुए अपने साथ घोड़े पर बैठा लिया—"शाबास ! तुम बहादुर हो ! हमारे भाई ! नायक के बेटे !'

इन्होंने **"प्रेमामृत"** नामक एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा है। उस ढंग का उपन्यास मलयाल भाषा में वह एक ही है। स्त्री की आदर्श-शुद्धि, प्रेम-स्थिरता तथा वात्सल्य-सुकुमारता अम्मिणिकुट्टि तथा पंकिप्पणिक्कर नामक पात्रों के चरित्र से व्यक्त की गई है। ये दोनों धर्म से मातुल तथा भागिनेयी बने हैं। मानवजाति के स्वभाव-वैचित्र्य तथा वैरूप्यों को इससे अधिक स्पष्टता या स्वाभाविकता से किसी और केरलीय लेखक ने चित्रित नहीं किया।

इसी समय गद्यशाखा की उन्नति सर्वतोमुखी होने लगी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में समाचारपत्र तथा मासिकपत्र भी प्रकाशित होने लगे थे। केरल के प्रथम समाचारपत्र '**मलयाल मनोरमा**" का प्रकाशन इसी समय आरम्भ हुआ था। **"केरल कौमुदी"**, **"भाषा-पोषिणी"**, **"लक्ष्मीबाई"** आदि मासिक पत्रों का भी जन्म हुआ। यह नया प्रस्थान, लेखकों और कवियों के लिए अधिक उत्साहजनक बना। इससे धारावाही उपन्यासों और प्रबन्धों आदि के प्रकाशन की सुविधा अधिकाधिक बढ़ती गई। **श्री सी० एस० सुब्रह्मण्यम् पोट्टि** का प्रथम उपन्यास **"नीलोत्पलं**, जो अंग्रेजी उपन्यास 'स्कार्लट पिम्पेर्नल' का अनुवाद है—धारावाही रूप में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन रुचि के अनुसार अनेकानेक उपन्यास निकलने लगे।

सरदार के० एम० पणिक्कर : ऐतिहासिक उपन्यासों में सरदार का० माधव पणिक्कर के "कल्याणमल"*, "परंकि पटयाली, पुणरकोट्ट स्वरूपं", "धूमकेतुविण्टे उदयं", "केरलसिंहम्"* आदि विशेष स्मरणीय

*** ग्रन्थकर्त्री ने इन पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। पहला राज-कमल प्रकाशन, दिल्ली से और दूसरा (साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली के लिए) पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।**

हैं। प्राचीन केरलीय पराक्रम के अन्तिम स्फुलिंग "केरलवर्मा पड़श्शि राजा की रोमांचकारी जीवनी के आधार पर रचित "केरलसिंहम्" प्रत्येक केरलीय के लिए अभिमान के साथ संचित रखने योग्य संपत्ति है।

श्री अप्पन् तम्पुरान् का "**भूतरायर**" केरल के पेरुमाल शासन-काल का प्रतीक एक सुन्दर उपन्यास है। उसकी भाषा-शैली इतनी सुन्दर तथा प्रभावमयी है उसको बार-बार पढ़ने पर भी सन्तोष नहीं होता। 'केरलपुत्रन्', रानी 'गंगाधर-लक्ष्मी', 'केरलेश्वरन्', आदि अनेक उपन्यास इसी कोटि में गणनीय हैं।

सामाजिक उपन्यासों की भी संख्या कम नहीं है। जब प्रगति-पथ पर द्रुतवेग से चलने वाली भाषा-योषा को प्राचीन पथ में चलना अरोचक मालूम होने लगा तब बंगभाषा के सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद शीघ्रता के साथ प्रकट होने लगे। इनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

नारायण पणिक्कर : इस प्रकार मलयाम् साहित्य-भण्डार की श्रीवृद्धि करने वालों में, श्री आर० नारायण पणिक्कर विशेष स्मरणीय हैं। उन्होंने स्वतन्त्र कृतियाँ और अनुवाद मिलाकर लगभग अस्सी ग्रन्थों की रचना की है और "**केरल भाषा साहित्य चरित्रं**" नाम का लगभग तीन हजार पृष्ठों का एक बृहद् ग्रन्थ सात भागों में रचकर भाषा की एक बहुत बड़ी कमी को पूरा किया है। इस विषय में इससे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ अब तक नहीं रचा गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में अँग्रेजी उपन्यासों का अनुवाद भी आरंभ हो गया। इस प्रकार के उपन्यासों में प्रथम स्थान 'नीलोत्पलं' का है ही। 'कौण्ट आफ मोण्टोक्रिस्टो' का अनुवाद '**राजसिंहन्**', '**वेण्डेटा**' का अनुवाद '**प्रणयप्रतीकारं**' आदि उच्च कोटि के उपन्यास इसी समय प्रकाशित हुए। धीरे-धीरे आदर्शवादिता और कल्पना के गगन में उड़ानें भरने से साधारण जनता इनकार करने लगी, तब साहित्य-आराधकों को भी अपनी रुचि बदलनी पड़ी। फलतः उपन्यासों

में यथार्थवाद अपने नग्नातिनग्न रूप में आ-धमका'। मार्क्स की विचार-धारा ने आधुनिक उपन्यास-लेखकों को बहुत प्रभावित किया है और नये उपन्यासों तथा कहानियों के कथानक बहुधा आर्थिक विषमता के विरोध और रोटी के राग से परिप्लावित दिखलाई पड़ते हैं।

नाटकों का विकास : दृश्यकाव्य, अर्थात् अभिनय योग्य साहित्य के क्षेत्र में भी कैरली का अपना विशिष्ट स्थान है। प्राचीन काल से ही केरल अभिनय कला में अग्रगण्य रहा है। 'चाक्यार कूत्तु' 'कूटियाट्टं', 'पाठकं', 'कथकलि' और 'तुल्लल' इसके उदाहरण हैं। आज भी सर्वत्र अभिनन्दित 'कथकलि' केरलीय जनता के कलाचातुर्य की पताका फहरा रहा है। किन्तु इस सब को आधुनिक नाट्यसाहित्य की नान्दी-मात्र मानना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में आधुनिक नाटकों की रचना आरम्भ हुई। इस प्रकार का सर्व प्रथम नाटक, **सी० वी० रामन्पिल्ला** का **'चन्द्रमुखी विलासं'** है। यह कालेज के विद्यार्थियों के किसी विशेष अव-सर पर अभिनय करने के लिए लिखा गया था। इसमें दो पात्रों का अभिनय भी उस समय पर लेखक ने स्वयं किया था। सामाजिक कुरी-तियों का उपहास करके उन्हें दूर करने और भाषा में मौलिक नाटक प्रस्तुत करने का यह प्रथम सफल प्रयत्न था।

इसके बाद महामहिम **श्री केरलवर्मा वलिय कोयित्तंपुरान्** का 'अभिज्ञान शाकुन्तलं'—कालिदास के संस्कृत शाकुन्तलं का अनुवाद—प्रकाशित हुआ। संस्कृत पद-प्रचुरता और संस्कृत शैली के अनुकरण के कारण इस ग्रन्थ की भाषा अति क्लिष्ट है। इस के बाद इस दिशा में भी गतानुगतिक न्यय प्रकट होने लगा। संस्कृत नाटकों के अनुवाद तो हुए ही; उनके अतिरिक्त शत-शत नाटक कैरली के चरणों पर समर्पित किये गये। देवी की अर्चना के लिए आये हुए पुष्पों में भले-बुरे का विवेक भी शीघ्र ही मिट गया। पुराणकथा से किसी प्रसंग को लेकर, संस्कृत नाटकों के ढाँचे में ढालकर, नाटक-नामधारी विकृत वेषों का भी प्रवेश

साहित्य-मन्दिर में कराया जाने लगा। 'सुभद्राहरणं', 'किरातार्जुनीयं', 'रुक्मिणी-स्वयंवरं' आदि लेखकों और कवियों के विशेष प्रीतिपात्र बने। संस्कृत नाटकों के अनुवादकों में सर्वश्रेष्ठ हैं **श्री ए० आर० राज-राजवर्मा—'केरल पाणिनी'**। और भी अनेक साहिती-भक्त इस विभाग की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे।

चंपत्तिल चात्तुकुट्टि मन्नाटियार ने एक ही कृति—**'उत्तर रामचरित'** का अनुवाद किया। परन्तु वह अनुवाद इतना सुन्दर हुआ कि अकेले उसने ही लेखक को साहित्य के इतिहास में प्रतिष्ठित बना दिया।

मौलिक नाटकों में **'सदारामा'** अधिक काल तक लोकप्रिय रहा। इसके प्रणेता श्रेष्ठ कवि तथा साहित्यकार, **के० सी० केशवपिल्लै** हैं। संगीत तथा साहित्य में एक समान अभिरुचि रखने वाले इस महाकवि ने पन्द्रह वर्ष की आयु में ही 'प्रह्लाद चरितं आट्टकथा' की रचना की थी। इनके महाकाव्य 'केशवीयं' का अध्ययन अन्यत्र किया जा चुका है, और भी आट्टकथाएँ इन्होंने रची हैं। 'राघवमाधवं', 'लक्ष्मी कल्याणं' आदि नाटक इनकी सामाजिक रचनाएँ हैं। केशवपिल्ला ने विद्यार्थियों के योग्य 'गानमालिका' तथा 'अभिनय गानमालिका' का भी सर्जन किया है।

नाटकों के प्रति जनता का आकर्षण अधिक होने लगा तो सभी लोग नाटककार बनने लगे। दो अक्षर लिखना जो जानता, वह भी नाटक लिखने लगा। जब नाटकों की इस प्रकार की संख्यावृद्धि बाधा का रूप धारण करने लगी, और गुणदोष-विवेक छोड़कर साहित्य-क्षेत्र को 'कचराखाना' बनाया जाने लगा, तब 'चक्कीचंकरं' नाम का एक परि-हासमय नाटक प्रकाशित हुआ। इसके लेखक थे श्री रामकुरुप्प मुनशी। इसमें क्षुद्र लेखकों का ऐसा परिहास किया गया कि नाटक लिखने का शौक वहीं पूर्ण विराम पा गया। और जो नाटककार बरसाती मेढकों के समान यत्र-तत्र-सर्वत्र फैल गये थे वे एकाएक अन्तर्हित हो गये। नाम लेकर ही उच्चाटन करन का साहस रखने वाला मन्त्रवादी प्रकट हुआ, तो बाधा को चले जाने के सिवाय चारा ही क्या था?

संस्कृत नाटकों का अनुसरण करके गद्य-पद्यमय नाटक की रचना ही प्रायः होती थी। उसके साथ-साथ शुद्ध मलयाल-पक्षपातियों ने संगीतनाटकों का—जिनमें श्लोकों के साथ गीतों का उपयोग भी किया गया है—प्रचार शुरू किया। परन्तु, अनुवाचकों की रुचि उत्तरोत्तर बदलने लगी, और गद्यनाटक अधिक जनप्रिय बनने लगे। बंग तथा आंग्ल साहित्य का उदाहरण भी इस परिवर्तन का प्रेरक बना होगा। द्विजेन्द्रलाल राय के सभी नाटकों का अनुवाद मलयाल भाषा में हुआ। अन्यान्य भाषाओं से भी नाटक तथा प्रहसन भाषान्तरित होकर कैरली की शोभा बढ़ाने लगे। अनूदित कृतियां साहित्य की दृष्टि से आदरणीय होने पर भी सामाजिक तथा मानसशास्त्रीय दृष्टि से पर्याप्त नहीं थीं। जनता की आकांक्षा जब केवल अनुवाद से संतृप्त नहीं हुई, तब **सी० वी० रामनपिल्ला** के प्रहसन एक एक-करके कैरली की सेवा में उपस्थित होने लगे। 'डोक्टर्कु किट्टिय मेच्चं','कैय्मलश्शण्टे कडश्शिकै','कुरुप्पिल्ला कलरि', 'चेरुतेन कोलंबस' आदि उनकी कृतियाँ सुन्दर और आदरणीय हैं।

कैनिकर कुमारपिल्ला और उनके भाई **गोपालपिल्ला** ने अनेक गद्य नाटकों का निर्माण किया। उनमें 'मणिमंगलं', 'हरिश्चन्द्रन्', 'कलवारियिले कल्पपादपं' (ईसामसीह की सूली—कलवारी का कल्पवृक्ष) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस समय से ऐतिहासिक नाटक भी लिखे जाने लगे। आधुनिक केरल के हास-सम्राट माने जाने वाले **श्री ई० वी० कृष्णपिल्ला** ने इस प्रकार की अनेक कृतियों का निर्माण किया। राजा केशवदासन्, इरविकुट्टिप्पिल्ला, वेलुत्तंपि दलवा, सीतालक्ष्मी आदि उत्तम नाटक इन की कृति हैं। इन्होंने अपने अभिनय द्वारा भी समय-समय पर अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त 'बी० ए० मायावी' 'कवित केस', 'विस्मृति' आदि प्रहसनों की भी रचना 'कृष्णपिल्ला ने की है।

आधुनिक नाटक-साहित्य को समृद्ध करने वाले **एम० पी० चेल्लप्पन्**

नायर, गोपीनाथन् नायर आदि विशेष आदरणीय हैं। अपने तीन-चार नाटकों से ही 'केरल के बर्नाड शा' नाम के योग्य बने **मुनशी परमूपिल्ला** की कीर्ति भी इस क्षेत्र में उज्वल है। यहाँ नामांकित लेखकों के अतिरिक्त सरस्वती देवी से अनुगृहीत साहित्यभक्त आज भी नव-नव पुष्प-माल्यों से कैरली की शोभा बढ़ा रहे हैं।

निबन्धादि गद्य-शाखा : निबन्ध तथा लेखों की गणना में भी कैरली दरिद्र नहीं, समृद्ध ही है। मलयाल साहित्य के आराधकों की एक विशेषता यह है कि उन्होंने अपने साहित्य-प्रयत्नों को किसी एक दिशा तक सीमित नहीं रखा। आधुनिक काल के आचार्य 'केरल-कालिदास' श्री केरलवर्मा को ही देखिए। उनकी लेखनी प्राचीन रीति की आट्टकथा से लेकर आधुनिकतम रीति के लघु निबन्धों और लघु कविता तक सभी प्रकार की रचनाओं में एक-सी व्यापृत रही। उन्होंने स्वतन्त्र कृतियाँ रचीं। अनुवाद भी किया। पद्य, गद्य तथा मिश्र तीनों प्रकार की कृतियों का निर्माण किया। उत्तम प्रबन्ध-साहित्य की नींव भी इन्हीं महानुभाव ने डाली।

लेख और गद्य-प्रबन्धों की वर्धना का श्रेय, उस समय आगे बढ़ने वाले पत्रकारों तथा मासिकपत्रों के सम्पादकों को है। इस दिशा में **'मलयालमनोरमा समिति'** तथा **'भाषापोषिणी सभा'** ने जो सेवा की उसकी कितनी भी प्रशंसा की जाय तो अधिक नहीं होगी। पत्रों और पत्र-ग्रन्थों के प्रकाशित होने से लेखक-लेखिकाओं को अधिकाधिक प्रोत्साहन तथा प्रचार मिला। साहित्य-सम्बन्धी विवाद-विमर्श, अभिनन्दन, समालोचना आदि की परम्परा भी संवर्धित हुई। इस उन्नति के लिए **'मलयालमनोरमा'** के संस्थापक **कण्टत्तिलु वर्गीस माप्पिल्ला** कैरली साहित्य के इतिहास में प्रेमादरपूर्वक स्मरणीय हैं।

ईसाई कवियों में **कट्टक्कयत्तिल चेरियान माप्पिल्ला** एक उच्च कोटि के साहित्यकार हैं। सनातन धर्म के महनीय तत्वों को एकत्रित करके एक बृहद् ग्रन्थ बनाकर प्रकाशित करने की प्रयत्नशीलता, परिश्रम तथा

दक्षता प्रकट करने वाले विद्वत् शिरोमणि **श्री चेरियान्** ने भी ईसाई-समाज में ही जन्म पाया था।

मलयाल साहित्य की गद्यशाखा को एक नवीन मार्ग में ले जाने वाले लेखक हैं 'केसरी' नाम से प्रसिद्ध **वेङ्ङयिल् कुन्जुरामन् नायनार**। पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा पाने के बाद भी शुद्ध केरलीय बनकर जीवन बिताने का साहस तथा स्वदेशाभिमान इनमें था। परिहास-रसिकता तथा सूक्ष्मावलोकन-शक्ति 'केसरी' के विशेष गुण थे। प्रतीकार-बुद्धि से प्रेरित होकर, अथवा केवल विनोद के लिए वे नहीं लिखते थे। समाज का उद्धार, स्वदेश तथा जनता की उन्नति, भाषा-परिष्कार आदि उत्कृष्ट लक्ष्यों को पूरा करने के लिए ही उन्होंने अपनी लेखनी चलाई। सन् १८७९ में तिरुअनन्तपुरं से एक पत्रिका निकलती थी, जिसका नाम था "**केरल चन्द्रिका।**" उसमें 'केसरी' की लेख-मालाओं का प्रकाशन होता था। "लोकास्समस्ताः सुखिनो भवन्तु" इस सुजनाग्रणी का मुद्रावाक्य था। यही आदर्श इनके प्रत्येक लेख, प्रत्येक प्रवृत्ति और प्रत्येक विचार को नियन्त्रित करता था। आगे चलकर इन्होंने स्वयं **'केरल सञ्चारी'** नामक दैनिक पत्र का सम्पादन शुरू किया। **'मलयालमनोरमा'**, **'जनरञ्जिनी'** आदि अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी विज्ञानप्रद तथा विनोदमय लेख ये अन्त तक लिखते रहे।

इसी मार्ग पर चलने वाले अन्य सहृदय हैं **'सञ्जयन्'** नाम से सुविख्यात **श्री एम० आर० नायर**। एक भी केरलीय—अथवा सुशिक्षित केरलीय—ऐसा नहीं होगा जिसने रसिकाग्रणी 'सञ्जय' का नाम न सुना हो। गद्य तथा पद्य में ये एकसमान सिद्धहस्त थे। इनके परिहास तथा हास का स्वभाव और उद्देश्य बताने के लिए एक उदाहरण यहाँ उद्धृत किया जाता है। हास्यरस का स्वागत करते हुए 'सञ्चय' कहते हैं :

स्वागतं जगन्मातृका हास्यमे !
स्वागतं चित्प्रकाश स्वरूपिणी !

कण्णनीरिलु् काविल्ल कारिणक्कु्
पुण्यरश्मिनिन् मन्दहासांकुरं ।।

अर्थात्—हे हास्य ! विश्व के आदर्श हास्य ! तुम्हारा स्वागत ! हे चित्प्रकाशस्वरूपिणी ! तुम्हारा स्वागत है। अश्रु-वर्षा के बीच भी इन्द्रधनुष का प्रकाश दिखाने वाली पुण्यरश्मि है तुम्हारी मुसकान !

"कालरूपी सर्प के दंशन से लगे दुःख-विष का हरण करने वाले अमृत हो तुम। आँखों की वीक्षण-शक्ति जब मन्द होती है, तब उसको पुनः जीवित करके जन-नयनों को ज्योति प्रदान करने वाले शीतल अंजन हो तुम !"

"भविष्य के घोर अन्धकार को भी भासुर बना देने वाले अद्भुत प्रकाश हो तुम। तुम्हारा सामीप्य नितान्त शान्तिप्रद है। तुम्हारा समागम चिद्रूप का रसास्वादन कराने वाला है।"

'सञ्जय' की कृतियों का अध्ययन करने से मालूम होता है कि वे काल, देश, अवस्था आदि की सभी संकुचित सीमाओं से परे थे। उनकी रचनाओं का संग्रह सदा कैरली का अलंकार बना रहेगा।

ई० वी० कृष्णपिल्ला, जिनका नाम प्रहसनकारों की श्रेणी में अग्रगण्य है, परिहास-साहित्य के उत्तम लेखकों में थे। अनेक प्रहसन, नाटक, उपन्यास आदि अपने अल्प जीवनकाल में ही लिखकर, उन्होंने यथाशक्ति साहितीदेवी की पूजा की। जीवन को ही विनोदयात्रा मानकर चलने वाले ये साहित्याराधक सर्वजनप्रिय बने, और इन्होंने 'हास-सम्राट्' का पद भी प्राप्त किया, तो इसमें आश्चर्य क्या ?

राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में साहित्यकार के रूप में देशसेवा करके प्राणत्याग करने वाले सम्मान्य पुरुष हैं **श्री के० रामकृष्णपिल्ला**। अपने त्यागमय जीवन और स्वाभिमान-प्रौढ़ता से समस्त केरलीयों के लिए, विशेषतः वञ्चिवासियों के लिए, ये आराधना योग्य बन गये। अपने जीवन-काल में राष्ट्र और समाज में फैली हुई कुरीतियों से दुःखी होकर उनको दूर करने के लिए इन्होंने अपनी दक्ष और सशक्त लेखनी

का उपयोग किया। लेखन-शरों से प्रतिद्वन्द्वियों को व्याकुल करने की शक्ति इनमें खूब थी। अपने प्रयत्नों को सबल बनाने के लिए इन्होंने पत्र-सम्पादन का काम स्वीकार किया। यह काम इन्होंने निष्काम कर्म-योग के रूप में ही किया। देशसेवा इनका एकमात्र लक्ष्य था। फलतः इन्हें प्रबल वैरियों का भी सामना करना पड़ा। विनम्र तथा शान्त होने पर भी अन्याय और पक्षपात इनके लिए सह्य नहीं था। यही स्वभाव इनकी कृतियों में तथा लेखों में प्रत्यक्ष है। 'बालाकलेशं,' 'पौरस्त्यदीपं', 'धर्मराजा' आदि कृतियों की समालोचना इसी स्वभाव के प्रमाण हैं। कविताओं में अथवा अन्य साहित्य रचनाओं में गलतियाँ करना, या औचित्यदीक्षा न करना इस साहिती-भक्त की दृष्टि में महापराध था। उसके विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति लगाकर युद्ध करने के लिए ये सदा सन्नद्ध रहे। इसी स्वभाव के कारण इनको आजीवन निर्वासन का दण्ड भी भोगना पड़ा। परन्तु कैरली का इतिहास जब तक रहेगा, तब तक सुशक्त, चैतन्यमय लेखनी द्वारा प्राणपूर्ण और समर्थ गद्य साहित्य का निर्माण करने का ज्ञान तथा शक्ति रखने वाले लेखक के रूप में **रामकृष्णपिल्ला** का नाम भी सुवर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

गद्यलेखकों में अग्रस्थानार्ह एक अन्य पण्डितश्रेष्ठ हैं, '**साहित्य-पञ्चानन**' नाम से प्रसिद्ध **श्री पी० के० नारायणपिल्ला**। आधुनिक समालोचकों के बीच इनको सम्मान्य स्थान प्राप्त है। 'तुञ्चत्तेङ्त्तच्छन्', 'कुञ्चन् नंपियार' आदि ग्रन्थ इनकी अध्ययनशीलता, अध्यवसाय, निरूपकदृष्टि, रचनासामर्थ्य आदि के उत्तम उदाहरण हैं। गवेषण की दिशा में भी इन्होंने पर्याप्त प्रयत्न किया है।

गद्यरचना की विविध शाखाओं में प्रयत्न करने वाले अनेक साहिती-पूजक इस युग में हुए और आज भी भाषादेवी की सेवा कर रहे हैं। उन सब का नाम निर्देश भी कर देना यहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए इस प्रसंग को यहीं रोक कर, अद्युनातन काल में कैरली के विशेष उपार्जित अलंकारों का एकदेश ज्ञान प्राप्त करना ही ठीक होगा।

: १५ :

अधुनातन काल की प्रवृत्तियाँ

कालचक्र की द्रुतगति के साथ कदम मिलाने के प्रयत्नों में मनुष्य इतना व्यस्त हो गया है कि उसे क्षणभर रुक कर सोचने का अवसर ही नहीं मिलता। इस भगदड़ में लम्बे-लम्बे उपन्यासों और महाकाव्यों का अध्ययन करना और साहित्य के गम्भीर आशयों को सोच-सोच कर आनन्दानुभव करना जन-साधारण के लिए सम्भव नहीं रहा। फिर भी विनोद और आनन्दानुभव के लिए किसी-न-किसी सामग्री की आवश्यकता तो अनिवार्य है ही, अतएव लघु-कथाओं और लघुकाव्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

पुरोगमन-प्रस्थान

समय और परिस्थितियों के परिवर्तन का प्रभाव भी साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। जब लोक-जीवन सुखी और निश्चिन्त था, उस समय यथार्थ जीवन से विरहित पौराणिक एवं आदर्शवादी साहित्य से लोकमानस का रंजन सम्भव था। बाद में जब जीवन-संघर्ष प्रखर हो उठा और लोकमानस उसमें ही डूब गया तब साहित्य में भी वस्तुस्थिति का चित्रण आवश्यक हो गया। बीसवीं शताब्दी में जो दो विश्व-युद्ध हुए और समस्त भारत में स्वतन्त्रता-संघर्ष की जो लहरें आईं उन सब के परिणामस्वरूप दारिद्रय, दुःख, देशभक्ति और विदेशी शासन से मुक्त होने के संकल्प तथा तदर्थ चरम बलिदान की भावनाओं ने भी जोर पकड़ा। ये भावनाएँ ही युग के साहित्य में व्यक्त हुईं। साहित्य-प्रेमियों ने इस जीवनवादी अथवा यथार्थवादी साहित्य का स्वागत किया, क्योंकि

यह उनके मानस के अधिक निकट और लोक-भावनाओं तथा आकांक्षाओं का प्रतीक था। इसकी गति बढ़ती चली गई और इस प्रकार के साहित्य से कैरली-श्री की समृद्धि हुई। इस साहित्य को ही 'पुरोगमन प्रस्थान' के नाम से अभिहित किया गया।

इस पुरोगमन प्रस्थान में अनेक 'वाद' (इज़्म) मिलते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे साहित्य में जीवन की यथार्थताओं के निकृष्ट तथा निंद्य चित्र भी हैं। परन्तु, इसका कारण यह है कि नये प्रस्थान में निरंकुश तथा विवेकहीन हाथों को प्रवेश करने का अवसर मिल गया। समाज, व्यक्ति, अथवा राष्ट्र के दोषों का, केवल दोष-दर्शन करने के लिए ही, सामने लाया जाना एक प्रकार की अशिष्टता है। निन्दा करने या हास्यचित्र बनाकर दिखाने का निष्कलंक उद्देश्य यही हो सकता है कि उन दोषों को दूर करके समाज का सुधार किया जाय। जब इस लक्ष्य को भूलकर, या उपेक्षित करके अन्दर की मलिनता दिखाना ही लक्ष्य बन जाता है, तब वैसा साहित्य अत्यन्त घृणित जाता है।

केरल भाषा भी इन गुणों तथा दोषों की भागी बनी। पहले इस प्रकार की मनोवृत्ति आख्यायिकाओं द्वारा प्रकट हुई। 'लोलिता', 'विच्छ-न्नहारं', 'कलित्तोड़ी', 'देशसेविनी', 'ज्ञानांबिका' आदि उपन्यास इस नई मनोवृत्ति के प्रेरणाफल हैं। परन्तु यह युग उपन्यासों और प्रबन्धों का नहीं था। जनता थोड़े समय के अन्दर अधिकाधिक सामग्री, चाहे वह विज्ञान हो या विनोद, चाहने लगी थी; अतः लघुकथाओं का प्रभाव स्वच्छन्द रीति से बढ़ा।

लघुकथाएं

मलयालम् में कथा-संग्रह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रकाशित होने लगे थे। **ओडुविल् कुञ्ञुकृष्ण मेनवन्** के कथा-संग्रह इस प्रकार की साहित्य-शाखा के प्रथम प्रयत्न हैं। बाद में 'कथारत्नमाला', 'कथा कौमुदी', 'कथासौधं', 'केलीसौधं' आदि अनेकानेक लघुकथा-संग्रह एक के पीछे एक आकर साहित्य-भण्डार को भरते गये। मासिक-पत्रों

और साप्ताहिकों के अंग के रूप में लघुकथा अनिवार्य हो गई। इस प्रकार भी कहानियों की संख्या बढ़ी। जब आदर्शमय तथा गुणप्रशंसी कथाओं का ही प्राचुर्य होने लगा तो वही अलम्भाव उत्पन्न हो गया, जो मिठाई अधिक खाने से उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, प्रतिदिन अपने सामने जो दीखता है उससे बिलकुल विपरीत चित्र दिखाने वाले साहित्य के प्रति एक परिहास भाव भी उत्पन्न होने लगा। यथार्थ चित्रण की आवश्यकता और उपयोगिता युवा हृदयों को मथित करने लगी। इस संघर्ष का परिणाम महाकवि कुमारन् आशान् के 'चण्डाल-भिक्षुकी' तथा 'दुरवस्था' में देखा जा चुका है। इसी आदर्श के आधार पर अनेक काव्य और कहानी साहित्य-क्षेत्र में प्रत्यक्ष हुए। इन कथाकारों में **तकड़ी शिवशंकरप्पिल्ला, केशवदेव, एस० के० पोट्टकाट्टु, पोनकुन्नं वर्कि, वैकं बशीर, कारूर नीलकण्ठ** पिल्ला, **एम० पी० चेल्लपन् नायर** आदि विशेष स्मरणीय हैं।

विगत पच्चीस वर्षों के अन्दर केरल साहित्य में एक महापरिवर्तन का आवेश जैसा हो गया। विश्व के इतिहास में ही यह काल एक विशेष परिवर्तन का रहा है। केरल भी इससे मुक्त नहीं था। अन्य देशों से अधिक प्रक्षोभ तथा विक्षोभ केरल के अन्तरिक्ष में दिखाई दिया। भारत के दक्षिणी कोने का एक विन्दुवत् प्रदेश होने पर भी केरल अपना व्यक्तित्व रखता रहा। उसके गुण तथा दोष का भोग भी उसी को करना है। जाति तथा मतों की विविधता के कारण स्वामी विवेकानन्द से 'भ्रान्तालय' नाम प्राप्त करने योग्य स्थिति केरल में वर्तमान थी। अवर्ण-सवर्ण भेद, कुचेल-कुबेर भेद आदि ने केरल के समाजान्तरिक्ष को कलुषित कर रखा था। नंपूतिरि समाज की, विशेषतया उसकी स्त्रियों की अवस्था अति दयनीय थी। जाति-श्रेष्ठता तथा वंशाभिमान के नाम पर उन स्त्रिओं के ऊपर होने वाला अत्याचार अवर्णनीय था। पुरुष, भले ही वे अज्ञ और मूर्ख-शिरोमणि ही क्यों न हों, अग्रपूजा के अधिकारी थे। इन अवस्थाओं को देख-देखकर युवक-

हृदय मचल उठा। फलतः समाज और राष्ट्र की कुरीतियों का साहित्य-क्षेत्र में यथार्थ चित्रण किया जाने लगा। मन की बात स्पष्ट रूप में, सरस भाषा में, वेदना मिश्रित स्वरों में पढ़ने को मिली, तो सहृदय जनता उस पर टूट पड़ी। इससे कथाकारों का उत्साह बढ़ा और कहानी साहित्य का शरीर पुष्ट होने लगा। इन कहानियों में साहित्य-वेदी को उज्वल करने वाले अनश्वर प्रदीप अनेक हैं। परन्तु पचास प्रतिशत से अधिक कहानियाँ उस रजक की प्रतीति देने वाली हैं, जो मलिन वस्त्रों को जनता के बीच ही धो लेना चाहता है।

इन कहानियों की 'पुरोगमन प्रस्थानं', 'जीवित्-साहित्य प्रस्थानं', 'यथातथ्य प्रस्थानं' आदि विविध नामों से आराधना की गई है। नाम से ही इन प्रस्थानों के उद्देश्य स्पष्ट हैं। जीवित्-साहित्य सदा ही जीवन प्रदायक होता है। साहित्य में प्राण तथा स्वाभाविकता न हो तो वह साहित्य ही नहीं। परन्तु जीवित्-साहित्य का अर्थ जब असंस्कृत जनता की, अथवा सुसंस्कृत कहलाने वाले किन्तु निम्नतल में ही विहरण करने वाले लोगों की मनःस्थितियों तथा तज्जन्य परिस्थितियों का चित्रण ही माना जाता है, तब शिर झुकाकर हतविधि को दोष देना ही एक-मात्र उपाय रह जाता है। इन यथातथ्य प्रस्थानों में नाली की और मदिरालयों की दुर्गन्ध तथा वेश्यालयों के अट्टहास ही प्रतिबिम्बित या प्रतिध्वनित होते देखकर सुसंस्कृत केरलीयों का हृदय परिताप-भार से स्तब्ध हो जाता है। क्या संसार में दुःख और दीनता कम है, कि इस निर्लज्जता के साथ सारी मलिनता साहित्यदेवी के परिपावन क्षेत्र में भी लाकर भरना आवश्यक हो गया ?

कहने का अर्थ यह नहीं है कि, यथार्थ चित्रण या स्पष्टवादिता अनावश्यक और आपत्कर है। परन्तु केवल दोष-दर्शन से ही क्या लाभ ? 'इन्दुलेखा' के लेखक चन्तुमेनवन् ने भी सामुदायिक अनाचार और सामाजिक कुरीतियों का अपहास किया है। परन्तु उन अपहासों के साथ-साथ उन्होंने गुणों का भी दिग्दर्शन कराया है। आधुनिक काल के

अनेक लेखक निर्भीकता तथा निरंकुशता के साथ गुणों को भी दोष बना देने पर तुले हुए मालूम होते हैं।

इन कहानियों में श्रेष्ठगुण सम्पन्न भी बहुत हैं। उनमें से अनेक हिन्दी में भाषान्तरित भी की गई हैं। यह प्रशंसनीय प्रयन्त करने वाली **श्रीमती भारती विद्यार्थी** का कितना भी अभिनन्दन किया जाये तो अधिक न होगा। उनके इस प्रयत्न और उसको मिले स्वागत तथा प्रोत्साहन से यही स्थापित होता है कि केरल के कहानी-साहित्य में गृहणीय अंश कम नहीं है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि, 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (नई दिल्ली) द्वारा आयोजित सन् १९५० की विश्व-कहानी प्रतियोगिता में भारतीय कहानियों के बीच प्रथम पारि-तोषिक तथा विश्व-कहानियों के बीच द्वितीय पारितोषिक के योग्य मानी गई कहानी केरल के एक मुस्लिम लेखक **श्री वैकं बशीर** की थी।

समय की गति अनिरोध्य है। इस गति के साथ दशा-परिवर्तन भी अनिवार्य है। काल-परिवर्तन के साथ जीवन-रीति तथा विचार-गति भी परिवर्तित होती हैं। शायद इसी परिवर्तनशीलता के कारण गुण-प्रशंसी मनुष्य-स्वभाव की विजय होनी भी स्वाभाविक है। इसीलिए आज इन पुरोगामी साहित्यकारों के हृदयों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा है। निरंकुश जल्पना और समाज-शरीर में बिना सोचे-विचारे कीचड़ फेंकने की वृत्ति धीरे-धीरे कम होती दिखाई दे रही है। कुछ समय पहले तक निम्नकोटि की संस्कृति का ही सुस्पष्ट प्रदर्शन करने वाली जिन कहानियों का स्वागत होता था, उनको आज जनता एक प्रश्नमय दृष्टि से देखने लगी है। परिणाम कल्याणकारी हुआ है। आज इस प्रकार की कहानियों का स्वर कुछ अलग मालूम होने लगा है। स्पष्टवादिता के साथ मण्डन-पर विचारगति भी दिखाई देती है। केवल अमर्षमय विमर्श नहीं, प्रगति-पथदर्शक परामर्श की भी गूँज अद्यतन कृतियों में सुनाई देती है। सब परिस्थितियों को देखकर हम यह आशा कर सकते हैं कि इस साहित्य शाखा का भविष्य उज्ज्वल है।

काव्य शाखा

महाकाव्य और खण्डकाव्यों के अध्ययन में हमने देखा कि पुरोगमन प्रस्थान का प्रभाव पद्यशाखा के ऊपर भी पड़ने लगा था। अवर्ण-सवर्ण संघर्ष और उसके परिणाम के चित्र हमारे सामने तीनों महाकवियों ने चित्रित किये हैं। महाकवि वल्लत्तोल के गीतिकाव्यों में इस प्रकार के सुन्दर कुसुमों के समाहार पर्याप्त रूप में हैं। परन्तु इस प्रवृत्ति में भी समयानुकूल परिवर्तन अनिवार्य था। कथा के समान काव्य ने भी उन्हीं मार्गों का अवलम्बन किया। इस समय के कवियों में **श्री० जी० शंकर कुरुप्पु, इडप्पल्लि माधवन् पिल्ला, चङ्ङंपुड़ा कृष्ण पिल्ला, बोधे-श्वरन्, वेण्णिकुलं गोपाल कुरुप्पु** आदि अनेक स्मरणीय हैं। इनके बीच में भी **इड़प्पल्लि राघवन् पिल्ला** और **कृष्ण पिल्ला** एक शाखा के ही दो कुसुमों के जैसे इस प्रस्थान के विशेष प्रतीक के रूप में विराजमान हैं।

राघवन् पिल्ला : ये दोनों जीवन-क्षेत्र में एक साथ एक समान आये हुए प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। दोनों की बुद्धि, विचार की एकता, शिक्षा की समानता, वासना-वैभव आदि आश्चर्यकर थे। परन्तु इन दोनों के स्वभाव का वैपरीत्य भी उतना ही आश्चर्यजनक था। **राघवन् पिल्ला** का हृदय 'छुईमुई' का जेसा था, तो **कृष्ण पिल्ला** का हृदय अचंचल और अप्रधृष्य था। शायद यही कारण था कि राघवन् पिल्ला ने जीवन-रंग-मंच से भागने के लिए आत्महत्या का अवलम्बन किया। उन्होंने हँसने के लिए जन्म लिया, रोना सीखा और अब वे मृत्यु में ही जीवित हैं। उनका अन्तिम सन्देश था :

"मेरे गुरुजन मुझे जीवित रहने के लिए आवश्यक उपकरण देंगे, और देते हैं। उनका यह औदार्य मेरे लिए महाभार है, जो पाताल के अतल तल तक मुझे दबाये देता है। जिस वायु में मैं श्वासोछ्वास करता हूँ, वह परतन्त्रता के विष-बीजों से मलिन है··· विश्वास करने के लिए, प्रेम करने के लिए, आशा करने के लिए, कुछ हो—इन्हीं तीन वस्तुओं की

आशा मैंने संसार में की और आज तीनों के सम्बन्ध में मैं निराश हूँ।"

"घण्टानाद ! मृत्यु का आगमन-सूचक घण्टानाद !! मधुर घण्टा नाद !!! मैं आया, मैं आया !"

इस प्रकार उनकी अन्तिम कविता प्रारम्भ होती है। अनुतापहीन मित्रों से और सहतापहीन लोक से कवि विदा लेता हुआ अपने को धोखा देकर, प्रणय को लात मार कर गई अपनी प्रेम-सर्वस्व के बारे में वह कहता है :

"वह निर्दोष है। बहुत दूर रहती है, तो भी सदा साथ देने के लिए मेरे पास ही है। और हत-भाग्य होकर मरनेवाले मुझको याद करके उसके हृदय में एक मूक रोदन भर रहा है।"

"अस्थिर इहलोक में चिर-विरही मैं किस लिए रोता हुआ जीऊँ ?"

इसलिए मरण का वरण कर लिया।

कृष्ण पिल्ला : युगल में से एक सदा के लिए विदा हो गया तो अकेला बचा हुआ विहग विषादात्मक बना, शोक और परिभव के राग अलापने लगा। प्रेम-पात्र को जिस कामिनी ने इस प्रकार धोखा दिया उसके प्रति, और उसको प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देनेवाले प्रपञ्च के प्रति उस मित्र-विरहित कोकिल-कृष्णपिल्ला के गान सुनिए :

"हा हन्त ! चन्द्रिके ! उस दिवास्वप्न को तुमने इस प्रकार क्यों धोखे में मिटा दिया ? उस सुन्दर मुरली को तुमनें इस प्रकार क्यों तोड़ दिया ?"

"तुम्हारे पादपल्लवों में सबकुछ अर्पित करके शरण आये उस आर्द्र संगीत को, लोकभावना जिसका लाड़ से संरक्षण करना चाहती है उस मधुर, तुषार-मञ्जु हार को तुम इस प्रकार नीरसता के साथ लात मार कर हटा रही हो ? कामरूपी सर्पवन में तुम अन्धी होकर घूम रही हो ? अग्नि में जलता हुआ आदर्श तुम्हारे पीछे खड़ा होकर आकुल निःश्वास छोड़ रहा है। अति कठिन तपस्या से भी न मिलने वाला नैर्मल्य तुम्हारे सामने पीड़ा से कराह रहा है। क्या तुम उसको कुचल कर नष्ट कर

दीगी ?"

प्रणय-वञ्चना के प्रेरक बने लोक की कवि भर्त्सना करता है :

"रुपयों की संख्या ही देखकर उस वेणुगोपाल को अपने प्रणय-वृन्दावन से भगाने वाले हे लोक ! अपने अन्दर निर्दयता को छिपाकर बैठे हे धनप्रताप ! तुम्हारा शरीर तो कनक से नहीं, मिट्टी से ही बना हुआ है। वह मिट्टी में ही मिल भी जायगा। तुम्हारी धार्मिकता और तुम्हारा नीतिबोध मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जीर्ण, हल्की रुई भी भाग्य की हवा से जब थोड़ा-सा ऊँचा उड़ पाती है, तब क्षण भर के लिए प्रकाशमान नक्षत्र की प्रतीति दे सकती है। लेकिन हवा बन्द होते ही वह नीचे भूमि पर आ पड़ेगी। जरा-सा ऊपर उड़े, तो चारों ओर सबकुछ तुच्छ ही मानने लगते हो ! तुम भी अच्छे, हे धन के प्रताप ! तुम्हारी नीति भी अच्छी !"

राघवन् पिल्ला की अस्सी कविताएँ समाहृत करके तीन भागों में प्रकाशित की गई हैं। इनमें कवि की विषादात्मकता, नैराश्य, समाज के नियमों, आचार आदि से असंतृप्ति, प्रकृति के आर्द्र भाव, मनुष्य स्वभाव की निष्ठुरता आदि का मार्मिक चित्रण है। समत्व तथा भ्रातृत्व की छाया में विकसित संकल्प, सुषमामय भविष्य की एक झलक उनकी 'पोकोल्ले पोकोल्ले ! पोन्नोणमे !' (ओणं ! मत जा ! मत जा !) नामक कृति में दिखाई देती है। पहले भाग का नाम **'नव सौरभं'**, दूसरे का **'हृदय स्मितं'** और तीसरे का **'तुषारहारं'** है। 'हृदयस्मितं' के गीत कवि को प्रेम-गायक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु 'तुषारहारं', 'मणिमुड़क्कं', तथा 'अव्यक्तगीत' में तो निराशा, विषादात्मकता और तीव्र वेदना ही प्रतिध्वनित होती है। उनके विलापों का एक ही राग है :

"इस कपटमय प्रपञ्च में एक निष्कपट हृदय रखता हूँ, यही मेरा अहराध है ! यही मेरी पराजय का कारण है !"

मृत्यु के घण्टानाद को मधुर मानकर जब सुहृद रत्न उड़ गया तब

अपनी शाखा में चङ्ङ्पुड़ा कृष्णपिल्ला अकेले रह गये। उन्होंने द्विगुणित विषादात्मकता लेकर साहित्याराम में प्रवेश किया। उनकी पहली कृति "बाष्पाञ्जली" है।

"भाग्यहीन मैंने जो कुछ देखा, सभी परिताप से आच्छादित था! जलते हुए मेरे हृदय में जो आकर लगी, सब उष्ण व्याकुल निःश्वास-वायु थी!"

इस प्रकार आरम्भ होने वाली कविता विषादात्मक के अतिरिक्त क्या हो सकती है? चङ्ङंपुड़ा ने मधुर-कोमल-कान्त पदावलियों में सुसंबद्ध करके पाठकों को क्या-क्या दिया है? प्रौढ-मधुर प्रणय-वर्णना! विवेकपूर्ण लोकाचार-विमर्श! दिव्य बन जाने योग्य मनुष्य-भावना का पतन देखकर, हृदयान्तर्भाग को चीरकर निकलने वाली परिवेदना! काव्यस्वरूपिणी देवी के पास दुःखनिवृत्ति के लिए की गई दयनीय प्रार्थना! वेदान्तवेद्य चित्प्रकाश के अनुग्रह के लिए आक्रन्दन!!!

कवि नहीं, उसकी भावना और विकार अपने लिए उचित भाषा तथा छन्द को चुन लेते हैं। यह चङ्ङ्पुड़ा का विश्वास था। एक जगह वे कहते हैं:

"भावना के पास अपनी एक विशेष भासुर शैली तथा योग्य भाषा है। अप्रमेय, अनर्घ सौन्दर्य का वर्णन करना उस भाषा तथा शैली की भी शक्ति के बाहर है। हृदय की भावनाओं का सत्य युक्ति, बुद्धि या वस्तुस्थिति नहीं है। वास्तविकता के अन्दर आँखमिचौनी खेलने वाला एक उच्छृंखलत्व छिपा है। उसके व्यापार देखने और समझने का सामर्थ्य इन मांस-चक्षुओं में नहीं है। उसके लिए दूसरी ही आँखें—अन्तर्दृष्टि—चाहिए!"

अपनी प्रतिभा के बारे में अमित गर्व, विजयलक्ष्मी के स्वयंवृत वर बनने की अधीरता और संसार भर की समस्त प्रशंसित वस्तुओं के प्रति एक परिहास आदि युवावस्था में स्वाभाविक हैं। इन सभी भावनाओं के प्रतिबिम्ब इस कवि की प्रथम कृतियों में प्रत्यक्ष हैं। विप्लवात्मकता

उसका स्थाई रस है :

"जो वर्तमान है, उस सबको तोड़ो-फोड़ो ! किसी को किसी की परवाह करने की आवश्यकता नहीं। विद्वान् लोग विद्वत्ता का भाण्ड लेकर चलने वाले गधे हैं। धनिक, सुसंस्कृत अथवा कुलीन लोग दरिद्रों, दीनों और अनाथों का शोषण करके विश्व में दुरित-समूह का भीषण नृत्य कराने वाले धोखेबाज हैं। उठो ! क्रान्ति करो !"

यही इनका सन्देश मालूम होता है। इनके विषादात्मकत्व की पृष्ठ-भूमि सभी के प्रति घृणा, परिहास तथा नैराश्य-पारुष्य है। परन्तु, धीरे-धीरे यह सब बदलता दिखाई देता है और कविता कुछ समतल में आई मालूम होती है। अपनी युवावस्था की कविता के बारे में कवि स्वयं कहता है :

"उन दिनों में मैंने जो कुछ लिखा उसमें अधिकांश लज्जाकर प्रतीत होगा। परन्तु उस समय की मेरी मनोवृत्ति—हृदयान्तर्भाग के एक उद्वेगमय उत्साह का विस्फार—सारहीन नहीं थी। उसका मूल्य है। बाल्य भूल करने का समय है। विश्वास, प्रत्याशा तथा उल्लास के प्रमाद में बँट जाने का काल भी वही है। उस महाप्रमादरूपी इंधन को जलाकर उत्साहाग्नि संवर्धित की जाय तो सब नश्वर उस अग्नि में भस्म हो जायगा। लेकिन उस अग्नि का अन्त नहीं; न उसकी ज्वाला ही व्यर्थ होगी।"

चङ्ङंपुड़ा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुगामी, भक्त तथा आराधक थे। विश्व के लावण्यातिशय में दोनों मुग्ध थे। दोनों ही सौन्दर्य के चरणों पर नतमस्तक थे। प्रकृति के मनोरम दृश्य दोनों को ही तरल कर देते हैं। परन्तु गुरु तथा मानस-शिष्य में एक महान् अन्तर है। दोनों ही प्रेमगायक हैं; परन्तु गुरुदेव की आराध्य भावना दिव्य स्वर्ग-मार्गों में विचरण करने वाला आध्यात्मिक प्रेम है; चङ्ङंपुड़ा निराशागर्त में पतित लौकिक प्रेम का गीत गाते हैं। कविता-चिन्ता मधुर है, तो संगीत श्रवणानन्दकर है। इस अन्तर को मिटाकर हृदय

क्रान्ति का विजय-गीत गाने लगता है।

कुछ लोगों का मत है कि चङ्ङंपुड़ा की कविता सदाचार-भ्रंशक है। सदाचार रूपी पर्दे के पीछे खड़े होकर जब माने हुए महानुभाव विकृत आचार करने लगते हैं, तब काल्पनिक साहित्य को चूर करके, वास्तविक चित्रकार सामने कूद पड़ता है। दूषित समुदाय में, सतीत्व का अभिनय करने वाली कुलटाएँ हरिश्चन्द्र वेषधारी तस्कर, अधर्म की खान बने धर्म-केन्द्र आदि होते ही हैं। ये ही सच्चे, निष्कलंक, शान्त व्यक्तियों पर कीचड़ उछालने को तत्पर रहते हैं। इन सब सम्भव-गतियों के परिणाम-स्वरूप जो काव्य तथा साहित्य उत्पन्न होता है, उसमें अग्रगणनीय है, चङ्ङंपुड़ा का कविता-समुच्चय। इनकी मुख्य काव्य-कृतियाँ 'बाष्पाञ्जली', 'आराधकन्', 'हेमन्त चन्द्रिका', 'रमणन् कल्प कान्ति', 'उद्यान लक्ष्मी', 'सुधांगदा', 'कलाकेली अमृत वीची', 'मानसेश्वरी', 'मयूखमाला', 'संकल्प-कान्ति', 'तिलोत्तमा', 'वत्सल', 'मोहिनी', 'श्रीतिलकं', 'चूड़ामणि', 'ओणप्पूक्कल्', 'देवता', 'स्पन्दिक्कुन्न', 'अस्थिमाडं', 'यवनिका', आदि हैं। 'अनश्वरगानं' नाम का एक नाटक तथा 'कलित्तोड़ी' नाम का उपन्यास भी इन्होंने लिखा है। इनका देहावसान हाल ही में हुआ है।

श्री० केटामंगलं पप्पुकुट्टि भी इसी प्रकार के पुरोगामी कवि हैं। कविता सुन्दर तथा कवि वश्यवाक् है। कलकल करती हुई तटिनी की जैसी इनकी कविता प्रवाहित होती है। परन्तु, उस प्रवाह में अनवधि अनाशास्य मालिन्य के मिलने से जल कलुषित होता दीखता है। कला-वैचित्र्य तथा प्रतिभा इनकी सभी कृतियों में प्रत्यक्ष है। विप्लव-प्रेरक तथा चिनगारियाँ फेंकने वाले आह्वान हैं इनकी कृतियाँ।

बोधेश्वरन् : इसी मार्ग पर चलने वाले एक अन्य सुकवि हैं 'बोधेश्वरन्'। कवितागुणों से पूर्ण हृदयाकर्षक, आनन्ददायक, इनके सत्काव्य आदर्श तथा व्यवहार को सम्मिलित करके सहृदयाह्लादन करते हैं। 'घन-गीता', 'आदर्शारामं', 'हृदयांकुरं' आदि अनेक कविता-समाहार इन्होंने कैरली को प्रदान किये हैं।

यथा-तथ्य प्रस्थान की रीति में भी बोधेश्वरन् ने अगणित भावगीत केरल-साहित्य को अर्पित किये हैं। किसी समय उत्तेजक कवि, किसी समय प्रेमगायक, उत्तरक्षण में आध्यात्मतत्त्वों में विलीन चिन्तक, साथ ही समत्व तथा देशीयतावादी, एक क्षण में हिन्दू धर्म के स्तुतिगायक, अपरक्षण में सर्वधर्मसमत्व-प्रचारक—इस प्रकार ये परस्पर-विरोधी आदर्शों के गायक हैं। और सब आदर्शों का प्रचार समान सफलता के साथ करते भी हैं। इस भेद में ही समन्वय करके वे अपने विशाल हृदय और 'वसुधैव कुटुम्बकं' धर्म का परिचय देते हैं। इनकी प्रत्येक कविता उद्धृत करने योग्य है। 'चेरीब्लासम्' नाम के छोटे से आंग्लपुष्प को सम्बोधित करके कवि गा उठा :

"सार्वलौकिक स्नेह के संगीत, समस्त सौभाग्य तथा साहित्य के दिव्य सौन्दर्य, सभी को एक साथ लेकर मिश्रित नृत्य करती हुई अंकुरित और संवर्धित वल्लि !"

इस प्रकार आरम्भ करके उसके जीवन का विहगावलोकन करता हुआ कवि अन्त में कहता है :

"कुन्द, मालती आदि पुष्पों के सामने तुम्हारे छोटे से प्रसून को तोड़कर चुम्बन करने में और तुम्हारी सुगन्ध का आस्वादन करने में संकोच तो लगता है; परन्तु तुम्हारे प्रति मेरी आसक्ति भी कम नहीं है।"

तो भी, अन्त में वह अपनी हृदयगति सुव्यक्त करता है :

"इस धरा में कितने भी तरु और लताएँ हों, मेरे हृदय की अधीश्वरी, मेरे निर्मल प्रेम की पात्री, तुम हे वल्लि ! एक ही हो !"

'पंजाब-केसरी' लाला लाजपतराय की मृत्यु की बात सुनकर उत्तेजित और विह्वल होकर कवि का हृदय उबल पड़ता है। वह पुकार उठता है :

"दास्य सहन करें, या मरें ? कौन-सा मार्ग ठीक है ? अपहास के पात्र बनकर जीवित रहें ? मरते क्यों नहीं ? मार-मारकर हमारे उस पितामह के भी प्राणनिकाल लिये; अब भी प्राण-भय से देखते खड़े

रहें ?" फिर आवेशपूर्वक कवि प्रश्न करता है : **"क्या इस भूमि में कोई युवा नहीं है ? अथवा तरुण-रक्त सब पानी बन गया है ?"** और आक्रोश करता जाता है : **"यह अपमान हम कैसे सहते हैं ? इस व्यथा को क्या आँसुओं में ही बहा देंगे ?"**

वेण्णिकुलं गोपाल कुरुप्पु, एम० पी० अप्पन्, के० के० राजा आदि अनेक कवि इस समय कैरली साहित्य-भण्डार की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। कविताराम में विप्लववादी तथा पुरोगामी नाम से बढ़ने वाली विकृत, वन्य झंखड़ों की वृद्धि रुक गई है और सुरभिल कुसुमों का विकास करने वाले तरु-गुल्म फिर से उगने लगे हैं।

महिलाओं का योगदान

भावगीतों में यथार्थ और आदर्श को मिलाकर सुन्दर समन्वय करने वाले श्रेष्ठ कवियों में **नालपाट्टु बालामणियम्मा** तथा **ललिताम्बिका अन्तर्जनं** इन दो कवियित्रियों के नाम विशेष स्मरणीय हैं। साहित्य के इस संक्षिप्त परिचय-ग्रन्थ में इसके पूर्व एक भी महिला का नाम न लेने का अर्थ यह नहीं है कि साहिती-मन्दिर में पूजा करने योग्य कोई आराधिका उत्पन्न ही नहीं हुई। पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी यथाशक्ति साहित्यदेवी की अर्चना करती रही हैं। केरल में प्राचीन काल से ही बालक-बालकों की शिक्षण-रीति एक सी ही रही। आयुध-शिक्षा के आंगण में तथा साहित्य के रंगमञ्च पर, बेटे और बेटी की शिक्षा-दीक्षा का एकसाथ, एकसमान चलना अस्वाभाविक नहीं था। कैकोट्टिक्कलि, कल्याणकलि आदि नृत्यविशेषों में उपयोग में आने वाले गीत इतने साहित्यमय होने का एक कारण इस प्रकार की शिक्षा और स्त्रियों का तज्जन्य वैदुष्य ही है। अर्थपुष्टि और गानमाधुर्य से हीन गीतों को अपने विनोद के लिए भी स्वीकार करने के लिए केरल-वनिताएँ कभी तैयार नहीं हुईं।

प्राचीन केरल में सब स्त्रियाँ बाल्यकाल से ही संस्कृत का अध्ययन करती थीं। आंग्ल विद्यालयों की स्थापना होने पर बालक-बालिकाएँ इन विद्यालयों में भी समान शिक्षा प्राप्त करने लगे। केरल में स्त्री-शिक्षा सदा आदरणीय रही है। साहित्य के इतिहास के बारे में निश्चित जानकारी प्राप्त होने के समय से, पुरुष आराधकों के साथ स्त्रियों के नाम भी उत्कृष्ट साहित्यकारों के बीच दिखाई देने लगे। सहज गृहकार्य-व्यस्तता के कारण इस दिशा में पुरुषों का जितना काम करना उनके लिए सम्भव नहीं था। इसलिए उस समय की प्रसिद्ध कवियित्रियाँ अधिकतर राजवंश की अथवा तत्सम्बन्धित परिवारों की होती थीं। इनमें **इक्कुवम्मतंपुरान्, कुट्टिकुञ्ञुतंकच्ची, पुतुमनमठत्तिल् कल्याणियम्मा, नागर कोविलिल, कल्याणि कुट्टियम्मच्ची, तोट्टयका इक्काट्टुवम्मा, टी० सी० कल्याणियम्मा, तरवत्तु अम्मालु अम्मा, अम्बाड़ी कात्यायनी अम्मा** आदि विशेष स्मरणीय हैं। आट्टकथा, नाटक, काव्य, लघुकथा आदि की सभी दिशाओं में इन्होंने प्रशंसनीय प्रयत्न किये हैं।

अधुनातन काल में नम्पूतिरी-समाज की शोचनीय अवस्था से विवश होकर, विप्लव और क्रान्ति का आह्वान स्वीकार करके, समाज को अपना जीवन अर्पित करने के लिए कई अन्तर्जन (नम्पूतिरि स्त्रियाँ) तैयार हुईं। उनमें अग्रस्थानार्ह **ललिताम्बिका अन्तर्जनं** तथा **पार्वती नेन्मेनि मंगलं** हैं। पाकशाला से रंगमञ्च पर आई हुई ये मनस्विनियाँ स्वसमाज की स्त्रियों तथा मनुष्य-मात्र की उन्नति तथा पुरोगति के लिए अश्रान्त परिश्रम कर रही हैं।

ललिताम्बिका अन्तर्जनं : 'किलिवातिलिलूटे' (गवाक्षों से), 'कालत्तिण्टे एडुकल्' (कालपुस्तिका के पृष्ठ), 'मूडुपडत्तिल' (अवगुण्ठन के अन्दर), 'अम्बिकाञ्जली', 'तकर्न तलमुरा' (चकनाचूर पीढ़ी) ये पाँच, **ललिताम्बिका** के कथा-समाहार हैं। प्रत्येक कहानी साहित्यलता में विकसित मधुपूरित नवकुसुम है। उदाहरण के लिए उनमें से एक 'देवी तथा आराधक' को यहाँ संक्षिप्त रूप में बता देना अनुचित न होगा।

"मन्दिर की चहारदीवारी के अन्दर पुजारी शुभ्र वस्त्र, तुलसी-माला आदि से अलंकृत, सात्विकता के सजीव चैतन्य के समान खड़ा है। गर्भगृह में सहस्र-सहस्र दीप शिखाओं के बीच पुष्पमालालंकृता, चन्दनादिलेपिता, प्रोज्वल प्रभामयी कुमारी देवी का दिव्य मंगल विग्रह विराजमान है। भक्तिपारम्य की बोधातीत अवस्था में पुजारी यह जानने के लिए कि कोई विशेष अनुग्रह योग्य है या नहीं, आराधकों के बीच अन्वेषण दृष्टि फेरता है। कौमारावस्था से यौवन में पदार्पण करने के लिए उद्युक्त एक तन्वंगी उसके दृष्टिगोचर होती है। पुजारी को भ्रम हो जाता है कि 'अन्दर और बाहर एक ही सानिध्य है अथवा भिन्न ?'

"दूसरे दिन से पुजारी की पूजा में संकल्पशक्ति तथा चैतन्य बढ़ता दीखने लगा। उस कुमारी-विग्रह का पुजारी सदा प्रतिज्ञा-बन्धन में होता था कि आजन्म ब्रह्मचारी और स्त्रियों से बात तक न करने का व्रतधारी रहे। आज हृदय में मादक विकारों की उप्पत्ति देखकर वह घबरा उठा। शान्त-गम्भीर हृदय शंका-तरंगों से प्रक्षुब्ध होने लगा 'क्या मैं अपने स्तर से नीचे उतर रहा हूँ ? प्रेम अपराध है ? सौन्दर्य निकृष्ट है ?' इत्यादि प्रश्न उसके हृदय में घात-प्रतिघात करने लगे। एक दिन वह आराधिका मन्दिर में न आई। वसन्त बीत गया। वृक्ष फलभरनम्र होने लगे। बड़ी-बड़ी वल्लियों की छाया में नन्हे-नन्हे अंकुर दीखने लगे। तब एक सात्विक मूर्ति, एक प्राणमय अंकुर के साथ मन्दिर में पुनः प्रत्यक्ष हुई।

"उसने देवी के चरणों में प्रणाम किया। शिशु को भी वहीं अर्पित किया। देवी के विग्रह ने मानो आगे बढ़कर उस कोमल कली को लेकर हृदय में लगाना चाहा। पुजारी ने नैवेद्य त्रिमधुर में से एक-दो टुकड़े उस कोमल करपल्लव में दिये। शिशु ने उसे वापस पुजारी को ही देना चाहा। जब उन्होंने स्वाकार नहीं किया तो कलकल करके कुन्दमुकुलों-सी दन्तपंक्तियों से मन्दहास-चन्द्रिका फैलाते हुए उसने वह प्रसाद माँ के मुँह में ही डाल दिया। पुजारी कृतार्थ हुआ !

"काल फिर आगे बढ़ा। कई वर्ष बीत गये। एक दिन आराधकों के बीच से दीपाराधना के समय एक स्त्री आगे आई। उसका शिर मुण्डित था। भाल-प्रदेश में भस्मावलेपन था। बिना किनारी का श्वेत वस्त्र ! वही आराधिका थी यह ! पूजक सब समझ गया। उसकी आँखों के सामने से पर्दा हट गया। तब तक जिसे अपना सर्वस्व समझता था, उस देवीविग्रह को देखकर उसने कहा—'माँ ! मोहिनी ! अब तुम मुझे भ्रम में डाल नहीं सकती हो। तुमने मेरे सुन्दर स्वप्न-सुमदलों को निर्माल्य बनाया। मेरी जीवनादर्श कलियों को तुमने सुखाकर, जलाकर उड़ा दिया !' और वह विमुक्ति के विस्तृत साम्राज्य में विशाल विश्व-मन्दिर के सेवापथ का पान्थ बनकर निकल पड़ा।"

इस प्रकार की कहानी लिखने की शक्ति जिस लेखनी में है, उसकी प्रशंसा करना धृष्टता होगी। अधःकृतों का मनुष्यत्व, अनाथ स्त्रियों की दयनीयावस्था, वेश्यावृत्ति अवलंबन करने के लिए मनस्विनिओं को भी बाध्य करने वाली परिस्थितियाँ, हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध आदि अनेक समस्याएँ इस प्रभावपूर्ण लेखनी के विषय बनी हैं। एक उदाहरण और :

"एक बार एक नम्पूतिरी ने एक समीपस्थ मुस्लिम युवा 'मम्मतु' को पुलीस के आक्रमण से बचाया। उस लड़के को भागता हुआ देखकर नम्पूतिरी ने आर्द्र-हृदय होकर कहा—'आओ मम्मते ! कारण कुछ भी हो। इलं (नम्पूतिरी के घर को मलयालं में 'इलं' कहते हैं) अशुद्ध होने दो। परन्तु, आज तुम को उनके हाथ में पड़ने नहीं दूँगा !' वह बच गया।

"दिन बीत गये। केरल मोपला-उपद्रव से काँप उठा। इस्लाम-उन्मादियों ने इस श्रेष्ठ ब्राह्मण को भी पकड़ लिया। मकान में आग लगा दी। गृहपति का धर्म-परिवर्तन कराने के लिए सब प्रकार की निष्ठुरता की जाने लगी। ब्राह्मण ने धीरता नहीं छोड़ी। उसको पकड़ कर उपद्रवी अपने केन्द्र में ले गये। नायक ने गरजकर पूछा—क्या तू

टोपी नहीं पहनेगा ? (केरल में मुसलमान बनने को 'टोपी पहनना' कहते हैं) ।

"'नहीं', दृढ़ स्वर में नम्पूतिरी ने उत्तर दिया। उन्मादियों ने अट्टहास किया—'काटो इसका एक हाथ। पूछो, धर्म बदलेगा या नहीं ?' किंकर आज्ञापालन के लिए तैयार हुए, तो एक कोने से एक अप्रतिषेध्य स्वर वहाँ गूंज उठा—'उनका बाल भी बाँका न हो !' काटने को उठी तलवार रुक गई। मम्मत को नम्पूतिरी ने गले लगाया। वे रो पड़े—'इलं जलकर राख हो गया मम्मते !'······मम्मत ने उत्तर दिया—'महाराज ! किसी मोपला से यह बताने की आवश्यकता नहीं। मैं सब जानता हूँ।' और वह अपने भाइयों की ओर मुड़ा—'भाइयो ! इनके बदले मेरा शिर ले लो। अल्लाह के नाम पर मैं इनका कर्जदार हूँ।' मम्मत ने ब्राह्मण को उपद्रवियों की सीमा पार करवा दी। नम्पूतिरी ने गद्‌गद् होकर कहा—'मम्मते ! काश, ये सब तुम्हारे जैसे होते !' मम्मत ने स्वाभिमान से शिर उठाया—'हाँ ! महाराज ! सभी मेरे जैसे हैं। एक भी सत्य और नीति को नहीं भूलता। परन्तु सब ब्राह्मण और हिन्दू आपके जैसे होते तो यह दंगा ही नहीं होता।"

नालपाट्टु बालामणि अम्मा : 'कण्णुनीर तुल्ली' के प्रणेता नालप्पाट्टु नारायण मेनवन् की भागिनेयी नालप्पाट्टु बालामणियम्मा अधुनातन काल की शारिका हैं। उन्होंने बाल्यावस्था में ही 'कूप्पुकै' (अञ्जली-बन्ध) के साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। संस्कृत, मलयालम् और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप परिमार्जित बुद्धि और स्वतः सिद्ध प्रतिभा तथा भावमय हृदय की अधीश्वरी होने से इनकी कविता-तरंगिणी आनन्ददायिनी होकर बहती है। भारतीय संस्कार व मातृत्व की महनीयता का बोध इनकी उत्कृष्ट चिन्ता-सरणी से निकलकर हमारे सामने स्पष्ट होता है। मातुल-भागिनेयी के आदर्श लगभग एक ही पथ पर चलते हैं। 'आज की माँ' नाम की कृति में **नारायण मेनवन्** कहते हैं :

"उस कोमल मुख का आँखों से आस्वादन करती हुई माँ ने कहा—

"मेरे बेटा ! तुम्हारी अम्मा तुम्हारे लिए सदा मंगल प्रार्थना करती है। आज तुम अति प्रसन्नता के साथ हँस रहे हो। इस दुनिया का दुःख क्या जानो ? पुष्प जैसा यह मृदु शरीर छूने से भी मैं डरती हूँ। कहीं तुम को पीड़ा न हो ! किन्तु, ईश्वर ने तुम्हारे लिए जो जीवन-संग्राम निश्चित किया है वह कितना कठोर है ?

"यह प्रपञ्च धोखे और झूठ से भरा है। तुम तो उस वंश के अंकुर हो जो 'चाहे कुछ भी' करने का आदी नहीं रहा। अपने पूर्वजों के पदचिह्नों से पवित्र पुण्यपथ पर चलकर उनसे भी उन्नत पद पर पहुँचते हुए तुम को मैं देख सकूँगी ?

"आगे बढ़ो बेटा ! आगे बढो ! अम्मा की प्रार्थना में शक्ति है तो सदा तुम सुपथ में ही रहोगे। भय दिखाने से भागो मत ! मोदमय आह्वानों को मानो मत ! चाहे प्रसाद हो, चाहे प्रहार हो—जो मिले उसमें मन मत लगाना। चारो ओर कोई कितनी भी प्रशंसा या निन्दा करे, उसकी गणना मत करना।

"निषिद्ध कर्मों में तुम्हारा हाथ न जाय। पल्लव-कोमल अधरों से आस्वादन किये माँ के दूध का अपमान न कराने की सावधानी रखना, मेरे बेटे ! और अपने लक्ष्य पर पहुँच जाना। यह सोचकर तुम दुःखी न होना कि जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री कुछ भी न देकर भगवान ने तुम को एक गरीब परिवार में जन्म दिया। केवलात्मा परमेश्वर तुम में, किसी भी ऋषि में तथा राज्य-शासन करने वाले सम्राट् में एक से ही रहते हैं······।"

यह आदर्श बताने वाली माँ का चित्र मातुल (नारायण मेनवन्) की जिस लेखनी से निकला, उसकी अनन्तरगामिनी, भागिनेयी (बालामणियम्मा) की लेखनी यदि 'अम्मा', 'कुटुम्बिनी' आदि के सजीव चित्र उपस्थित करके पाठकों को आनन्द-सागर में निमज्जन कराती है, तो आश्चर्य क्या ? लगभग इन्हीं आशयों की प्रतिध्वनि 'अम्मा' में सुनाई देती है। माँ की प्रार्थना, उसका आशीर्वाद यह है :

"सत्य को ढूँढ़ कर तुम्हारे नन्हे चरण मिथ्या में पहुँच सकते हैं। पारिजात-लताओं के बीच सांप छिपकर पड़े हों, लेकिन मेरे वत्स! नैराश्यरूपी अन्धकार तुम्हारे हृदय को आवृत न करे, यही मेरा आशीर्वाद है!

"जीवन के क्लेशों से परवश गरीबों के आँसू पोंछने के लिए, परिक्षीण मातृभूमि को आधार देकर ऊपर उठाने के लिए, बढ़ने वाली अनीति को प्रहार करके दबाने के लिए, अम्मा के ये वात्सल्यार्द्र चुंबन तुम्हारे नन्हे-नन्हे कुसुमों से भी मृदु करों को शक्ति दें!"

यह कलिका की अवस्था की काव्य-सुगन्ध है। तो, विकस्वरावस्था में इस कुसुम की सुगन्ध कितनी होगी!

बालामणियम्मा की 'अम्मा' के बारे में एक महान् निरूपक कहते हैं: "प्रपञ्चारंभ से मातृहृदय में भरा प्रेम तथा आह्लाद, आशा और विश्वास आज एक संस्कार-विशुद्ध मातृहृदय से प्रस्रवित हो रहा है। इसमें पाठकों के अवगाहन करने की अगाधता, उनको रोमाञ्चकञ्चुकित बनाने की शीतलता तथा संशुद्ध करने का नैर्मल्य है।"

'कूप्पुकें', 'अम्मा', 'कुटुम्बिनी', 'धर्ममार्गत्तिल् स्त्रीहृदयं', 'भावनयिल्', 'प्रभांकुरं', 'कलिकोट्टा' आदि अनेक पद्य-समाहार कैरली के लिए इनकी देन हैं। साहित्य की सभी शाखाओं में विचरण करके अपने कलनादों से साहित्याराम को आनन्द-सरिता में निमग्न करने वाली शारिकावृन्द, अधुनातन काल में भी विराजमान हैं। उनके गीतों से आज भी साहित्य की उन्नति का आशादीप प्रज्वलित है।

केरलीय जनता आवश्यकता के कारण और स्वभाव से साहसिक तथा उद्यमी है। इसलिए अपनी भौगोलिक सीमा स्वल्प होने पर भी वह विश्व के सभी देशों से सम्पर्क स्थापित करने और उनकी सब ग्रहणीय वस्तुओं को स्वीकार करने में तत्पर रही है। फलतः केरलीय साहित्यकारों ने सभी प्रगतिशील दिशाओं में अपनी लेखनी चलाकर साहित्यदेवी के चरणों पर नव-नव पुष्प चढ़ाये हैं। ये पुष्प किसी दिशा

में कम और किसी दिशा में अधिक चढ़ाये गये। फिर भी उसका कोई अंग सूना नहीं है।

व्याकरण और भाषा-शास्त्र

वञ्चिराजवंश के **आयिल्यं तिरुनाल् महाराजा** जब से गद्यशाखा की उन्नति की और दत्तचित्त हुए, तब से वह पत्रपुष्पों से विलसित होने लगी। **'केरल कालिदास'** ने उसका प्रयत्नपूर्वक संवर्धन किया। उस समय संस्कृत की नियमितता और ऊर्ज्वस्वलता से आकृष्ट कैरली को भी उसी प्रकार के नियमों की आवश्यकता महसूस होने लगी। इस इच्छा के पूर्ण होने के लिए उसको कुछ समय ठहरना पड़ा। संस्कृत के लिए जैसे पाणिनि वैसे ही कैरली के लिए **ए० आर० राजराज वर्मा तंपुरान्** आविर्भूत हुए। तिरुअनन्तपुरं महाविद्यालय के भाषापण्डित नियुक्त होने पर इन्होंने अपनी कक्षाओं में इस प्रकार की न्यूनता का अत्यधिक अनुभव किया। विद्यार्थियों की अन्वेषण-बुद्धि को समाधान देने के लिए आचार्य उत्कण्ठित हो उठे। इस प्रकार तंपुरान् ने विद्या-पोषण के लिए जो प्रयत्न किया, उसकी ही टिप्पणियाँ बाद में कैरली साहित्यवर्धना में सहायक व्याकरण-ग्रन्थ तथा अलंकार ग्रन्थ बन गईं। उनके द्वारा प्रणीत 'साहित्यसाह्य', 'भाषाभूषणं' तथा 'केरलपाणिनीयं', आज भी मलयाल भाषाशास्त्र के प्रमाण-ग्रन्थ हैं। इनके आधार पर और इन पर उपजीवित अनेक शास्त्र-ग्रन्थ निर्मित हुए हैं। परन्तु, समस्त केरलभाषा-विद्यार्थियों का मार्गदर्शन कराने वाले और निर्णायकपीठ पर अध्यारोहित ये ही ग्रन्थत्रय हैं।

लेख और निबन्ध

भाषा का उच्च-नीचत्व केवल उपन्यास, काव्य तथा नाटकों पर निर्भर नहीं रहता। निबन्ध और लेखों की भी व्यापकता तथा वैशिष्ट्य साहित्य की प्रगति का द्योतक है। आंग्लभाषा के अध्ययन तथा पाश्चात्यलोक के साथ सम्पर्क से कैरली को भी यह जागृति प्राप्त हुई।

अपने सम्पर्क में आने वाले सभी से 'सुचरितानि, तानि ग्रहीतव्यानि' (जो सुचरित है सो ग्रहण करना चाहिए)—इस न्याय का अनुसरण करने को वह सदा ही सन्नद्ध रही। इसलिए उसने पाश्चात्य तथा पौर्वात्य सभी क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण की है। मलयालभाषा का शब्दकोश ही इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्राचीन मलयालभाषा में भी अरबी, फारसी, तमिल् आदि भाषाओं के शब्दों को तत्सम या तद्भव रूप में स्वीकार किया गया दीखता है। कसेरा (कुरसी) मेशा (मेज़) कच्चेरी (कचहरी) बाकी (शेष) आदि साधारण उपयोग में आने वाले अगणित शब्द इस अंगीकरण-सन्नद्धता के उदाहरण हैं।

यही नीति, भाषा साहित्य की विविध शाखाओं में अनुवर्तित हुई। प्रभाषण, वादविवाद, लेख आदि के अतिरिक्त, विज्ञान तथा गवेषण आदि की शाखाओं में पण्डित लोग प्रयत्नशील होने लगे। जैसा कहा जा चुका है, मलयालभाषा में पत्र-पत्रिकाओं और साप्ताहिक आदि के प्रचार के साथ ही, इस प्रकार की साहित्य-सरणी का उद्घाटन हुआ था। तीनों प्रकार के निबन्ध—विचारात्मक, भावात्मक तथा वर्णनात्मक–मलयालम् में उपलब्ध हैं। उनकी संख्या दैनन्दिन बढ़ती रहती है। निरूपण अथवा समालोचना एक अन्य मार्ग है। खण्डनात्मक तथा मण्डनात्मक लेख, प्रबन्ध और ग्रन्थों से कैरली का भण्डार सुसमृद्ध है।

जीवनी-साहित्य

एक अन्य साहित्य-शाखा है, जीवनी। मनुष्य-जीवन के क्षणिकत्व तथा व्यर्थता का भान भारतीय हृदयों में सदा ही रूढ़मूल रहा। इसलिए यथाशक्ति अपना कर्तव्य करके समय आने पर चुपचाप निकल जाना ही उनको प्रिय रहा है। अपनी सेवा दुनिया को देने के पश्चात् अपने बारे में कुछ जानकारी देना वे आवश्यक नहीं समझे। न उनके समानकालीन अन्य लेखकों ने ही इसे आवश्यक समझा। परिणामतः महाकवि कालिदास, व्याकरणाचार्य पाणिनि और पतञ्जलि आदि महाविभूतियों

की भी जीवनी से हम वञ्चित रह गये। इतना ही नहीं, किसी-किसी के यथार्थ अथवा पूर्ण नाम से भी हम अपरिचित हैं। प्राचीन कवियों या साहित्यकारों के बारे में केरल साहित्य में भी हमें यही अनुभव मिलता है। इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिए हम पाश्चात्य-भाषाभिमानियों के ऋणी हैं। आज इस शाखा में भी पर्याप्त सम्पत्ति हमें प्राप्त है। 'चट्टम्पि स्वामिकल् जवाहरलाल', 'नेताजी पालकर', 'महात्मा गांधी', 'अय्यप्पन् मार्तण्डप्पिल्ला' आदि इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। सभी गण्यमान्य नेताओं, वैज्ञानिकों तथा शास्त्रज्ञों की जीवनियाँ, भाषान्तरित अथवा स्वतन्त्र कृति के रूप में प्रस्तुत हैं। इस शाखा के अन्तर्गत शब्दचित्र और छायाचित्र भी पर्याप्त संख्या में आविर्भूत होते रहते हैं।

कथा-साहित्य में लघुकथा तथा नाटक-साहित्य में एकांकी के समान हैं—जीवनी में तूलिकाचित्र अथवा छायाचित्र। इनका उद्भव वेण्मणि नम्पूतिरियों के कविता-काल से ही छायाश्लोकों और छोटे-छोटे गीतों में दिखाई देने लगा था। जब गद्यशाखा का प्रचार हुआ तो उसमें भी इस प्रकार की रचनाएँ होने लगीं।

हास-साहित्य

हास-साहित्य तो कैरली की अक्षय निधि है। कुञ्चन् नंपियार के समय से ही सरस परिहास करके ठीक रास्ते पर लाया जाना कैरलीय जनता को अति रुचिकर था। तब से अब तक प्रत्येक कवि में यह रीति अधिक या कम मात्रा में स्पष्ट है। केवल हास को ही उद्देश्य बनाने वाले साहित्यकार भी कम नहीं हैं। हास-साहित्य के बारे में एक उत्तम हास्यलेखक कहते हैं—"अनुवाचक की बुद्धि में, मन में, विचार में या मुख में हँसी प्रस्फुटित कराने वाला साहित्य है, हास-साहित्य।" इस प्रकार के हास्य को मलयालम् में 'फलितं' अर्थात् 'सफल प्रयोग' कहते हैं। कितना सत्य ! दुःखमय जीवन में किसी प्रकार हँसा सकें, तो इससे

अधिक सफल प्रयत्न और कौन-सा है? इस 'फलितं' की कमी केरल-भाषा तथा साहित्य में कभी नहीं रही। **'सञ्जय' (एम० आर० नायनार)** जैसे गम्भीरतम विषयों को भी विनोद में समझाने वाले और ई० वी० **कृष्णपिल्ला** जैसे हँसाना और हँसना ही जीवन-लक्ष्य बनाने वाले, अथवा इन दोनों प्रकारों की हँसी में ही जीवन को झुलाने वाले **पी० के० राजराज वर्मा** ('पञ्चुमेनवनु'', 'कुञ्चियम्मयु'' आदि पुस्तकों के रचयिता) कैरली-साहित्य मन्दिर के आराधक रहे हैं, और आज भी हैं।

गवेषणा

गवेषणा के विषय में भी कैरली आधुनातन रीति के अनुसार पुरो-गमन करने लगी है। इसमें मार्गदर्शक स्वनामधन्य **चेलनाट्टु अच्युत-मेनवन्** ही हैं। प्राचीन ग्रन्थों को खोज-निकालने और उनका सूक्ष्म अध्ययन करके पूर्वकाल के इतिहास, समाज की अवस्था आदि के पुर्ननिर्माण का सफल प्रयत्न इन्हीं ने किया। इनके द्वारा प्रकाशित तथा प्रसाधित **'वड़क्कन् पाट्टुकल्'** केरल-साहित्य तथा इतिहास के लिए अमूल्य निधि है।

वैज्ञानिक साहित्य

अन्य साहित्य-शाखाओं की ओर अभी साहित्यकारों और पण्डितों का ध्यान आकर्षित ही हुआ है। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ग्रन्थों के अभाव में कैरली आज भी इन शाखाओं में परोपजीवी ही बनी है। तिरुवितांकूर विश्वविद्यालय की स्थापना और हमारे स्वातन्त्र्य-लाभ ने कैरली-भक्तों के हृदयों में यह विचार अंकुरित किया है कि आंग्लभाषा के ऊपर आश्रित रहना अपने अभिमान के लिए अनुचित है। फलतः इस दिशा में सरकार, विश्वविद्यालय के अधिकारियों और पण्डितों का ध्यान आकर्षित होने लगा है।

केरलभाषा-साहित्य का विहगावलोकन करने पर हमारे मन पर

यह छाप पड़ती है कि काव्यशाखा में सर्वाधिक उन्नति हुई है। उपन्यास, लघुकथा, लघुकाव्य, गीतिका, नाटक, प्रहसन आदि विनोद तथा विज्ञान एक-साथ देने वाली शाखा में वृद्धि हुई है। केवल विज्ञान अथवा स्वल्प रस-धारा-प्रवाह वाले शास्त्रों की ओर ध्यान कम दिखाई देता है। यह अति परिश्रम से मुँह मोड़ने वाले और जीवन को ही एक लम्बी हँसी मानने वाले केरलीय स्वभाव का प्रतीक है। फिर भी हम आशा कर सकते हैं कि कैरली-सेवकवृन्द अपनी आने वाली पीढ़ियों के जीवन-साफल्य का उद्देश्य लेकर अब तक विस्मृत शाखाओं की ओर भी अपनी प्रतिभा और लेखनी को नियोजित करेंगे।

शुभं भूयात्

बा,बापू और भाई
(देवदास गांधी) ॥)
गांधी-विचार-दोहन
(कि० मशरूवाला) १॥)
अहिंसा की शक्ति
(रिचर्ड बी० ग्रेग) १॥)
सत्याग्रह-मीमांसा
(रं० रा० दिवाकर) ३॥)
बुद्धवाणी (वियोगी हरि) १)
अयोध्याकांड (वियोगी हरि) १)
संत-सुधासार ,, ११)
श्रेयार्थी जमनालालजी
(हरिभाऊ उपाध्याय) ६॥)
भागवत-धर्म ,, ५॥)
स्वतन्त्रता की ओर ,, ४)
बापू के आश्रम में ,, १)
बापू (घ० बिड़ला) २)
रूप और स्वरूप ,, ॥=)
स्त्री और पुरुष (टालस्टाय) १)
मेरी मुक्ति की कहानी १॥)
प्रेम में भगवान् ,, २)
जीवन-साधना ,, १।)
कलवार की करतूत ,, ।)
बालकों का विवेक ,, ॥)
हम करें क्या ? ,, ३॥)
हमारे जमाने की गुलामी ।॥)
ईसा की सिखावन ,, १)
धर्म और सदाचार १।)
जीवन-संदेश (ख० जिब्रान) १।)
लद्दाख-यात्रा की डायरी
(सज्जनसिंह) २॥)
जय अमरनाथ (यशपाल) १॥)

जीवन-साहित्य
(का० कालेलकर) २)
अशोक के फूल (ह०द्विवेदी) ३)
पंचदशी १॥)
कांग्रेस का इतिहास (दो भाग) २०)
कित्तूर की रानी २)
सप्तदशी २)
रीढ़ की हड्डी १॥)
अमिट रेखाएं ३)
एक आदर्श महिला १)
तामिल वेद (तिरुवल्लुवर) १॥)
थेरी-गाथाएं
(भरतसिंह उपा०) १॥)
बुद्ध और बौद्ध साधक ,, १॥)
जातक-कथा (आनन्द कौ०) २॥)
हमारे गांव की कहानी १॥)
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) १=)
रोटी का सवाल (क्रोपा०) ३)
क्रान्ति की भावना ,, २॥)
नवयुवकों से दो बातें ,, ।=)
सागभाजी की खेती(डा०व्यास) २॥)
पशुओं का इलाज ॥)
काश्मीर पर हमला २)
पुरुषार्थ (डा० भगवानदास) ६)
कब्ज़ (म० प्र० पोद्दार) १)
हिमालय की गोद में २)
संस्कृत-साहित्य-सौरभ २६ पुस्तकें
प्रत्येक ।=)
समाज-विकास-माला ५८ पुस्तकें
प्रत्येक ।=)
प्रकाश की बातें १॥)
धरती और आकाश १।)
ध्वनि की लहरें १॥)